विषय-सूची
(CONTENTS)

अध्याय		पृष्ठ संख्या
	अध्याय-I	
इकाई I -	**तुलनात्मक राजनीति (Comparative Politics)**	**1-8**
1.1	उद्देश्य (Objectives)	1
1.2	प्रस्तावना (Introduction)	1
1.3	तुलनात्मक राजनीति : अर्थ एवं परिभाषा (Comparative Politics : Meaning and Definition)	2
1.4	तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति (The Nature of Comparative Politics)	2
1.5	तुलनात्मक राजनीति का विषय-क्षेत्र (Scope of Comparative Politics)	5
1.6	सारांश (Summary)	8
•	अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)	8
•	संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)	8
इकाई II -	**राजनीतिक व्यवस्था का वर्गीकरण (Classification of Political System)**	**9-39**
2.1	उद्देश्य (Objectives)	10
2.2	प्रस्तावना (Introduction)	10
2.3	लोकतन्त्र (Democracy)	10
2.4	अधिनायकतन्त्र (Dictatorship)	19
2.5	एकात्मक शासन : अर्थ और परिभाषा (Unitary Government : Meaning and Definitions)	24
2.6	एकात्मक शासन : विशेषताएँ (Unitary Government : Features)	24
2.7	संघात्मक शासन : अर्थ और परिभाषा (Federal Government : Meaning and Definitions)	24
2.8	संघात्मक सरकार की विशेषताएँ (Features of the Federal Government)	25
2.9	एकात्मक तथा संघात्मक सरकारों में अन्तर (Difference between Unitary and Federal Governments)	26
2.10	राज्य-मण्डल (Confederation)	27
2.11	संघ और राज्य-मण्डल में भेद (Difference between Federation and Confederation)	27
2.12	संसदीय शासन प्रणाली (Parliamentary System of Government)	29
2.13	अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली (Presidential System of Government)	33
2.14	सारांश (Summary)	38
•	अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)	39
•	संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)	39

इकाई III - राजनीतिक अर्थशास्त्र (Political Economy) 40-46

3.1 उद्देश्य (Objectives) 40

3.2 प्रस्तावना (Introduction) 40

3.3 राजनीतिक अर्थव्यवस्था : परम्परागत एवं मार्क्सवाद (Political Economy : Traditional and Marxism) 41

3.4 नव-परम्परागत एवं नव-मार्क्सवादी (Neo-Traditional and Neo-Marxism) 43

3.5 सारांश (Summary) 46

- अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions) 46
- संदर्भ ग्रंथ (Reference Books) 46

अध्याय -II

इकाई I.- संविधानवाद (Constitutionalism) 47-61

1.1 उद्देश्य (Objectives) 48

1.2 प्रस्तावना (Introduction) 48

1.3 संविधान का अर्थ और परिभाषा (Meaning and Definition of the Constitution) 49

1.4 संवैधानिक सरकार का अर्थ (Meaning of Constitutional Government) 49

1.5 संविधान व संविधानवाद में अन्तर (Difference Between Constitution and Constitutionalism) 50

1.6 संविधानवाद की सामान्य विशेषताएँ (General Characteristics of Constitutionalism) 50

1.7 संविधानवाद की अवधारणाएँ (Concepts of Constitutionalism) 51

1.8 संविधान राज्य की उत्पत्ति एवं संविधानवाद का विकास 53
(Origin of the Constitutional State and Evolution of the Constitutionalism)

1.9 स्वतंत्रता के विविध आयाम (Dimensions of Liberty) 54

1.10 सत्ता का अर्थ (The Meaning of Authority) 57

1.11 सत्ता और शक्ति (Authority and Power) 57

1.12 सत्ता के स्रोत (Sources of Authority) 58

1.13 सत्ता के कार्य (Functions of Authority) 59

1.14 सत्ता की अवधारणा : मैक्स वेबर के विचार (The Concept of Authority : Views of Max Weber) 59

1.15 सारांश (Summary) 61

- अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions) 61
- संदर्भ ग्रंथ (Reference Books) 61

इकाई II - राज्य के सिद्धांत (Theory of State) 62-81

2.1 उद्देश्य (Objectives) 62

2.2 प्रस्तावना (Introduction) 63

2.3 उदारवाद का अर्थ (Meaning of Liberalism) 63

2.4 उदारवाद के प्रकार (Types of Liberalism) 64

2.5 प्रमुख उदारवादी विचारक (Major Liberal Thinkers) 66

2.6 नव-उदारवाद (Neo-Liberalism) 67

2.7 राज्य की उत्पत्ति समाज के वर्ग-विभाजन का परिणाम है 67
(Emergence of State is the Consequence of Class Division of Society)

2.8 राज्य पराधीन वर्ग के शोषण का साधन है (State is a Means of Exploitation of the Dependent Class) 70

2.9 ऐतिहासिक भौतिकवाद (Historical Materialism) 71

2.10 भारत में सामाजिक वर्ग की विशेषताएँ (Characteristics of Social Class in India) 75

2.11 वर्गों का आर्थिक आधार (Economic Basis of Classes) 76

2.12 भारत में वर्ग विभाजन के आधार (Bases of Class Division in India) 77

2.13 भारतीय गाँवों में वर्ग व्यवस्था (Class System in Indian Villages) 78

2.14 मध्यम वर्ग का उद्‌भव (Origin of Middle Class) 79

2.15 सारांश (Summary) 80

- अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions) 81
- संदर्भ ग्रंथ (Reference Books) 81

इकाई III - वर्ग एवं वर्ग सिद्धांत : कार्ल मार्क्स (Class and Class Theory : Karl Marx) **82-96**

3.1 उद्देश्य (Objectives) 82

3.2 प्रस्तावना (Introduction) 82

3.3 वैज्ञानिक समाजवाद के जनक : कार्ल मार्क्स (Father of Scientific Socialism : Karl Marx) 83

3.4 वर्ग एवं वर्ग सिद्धांत से संबंधित महत्त्वपूर्ण अवधारणाएँ 83
(Important Concepts Related to Class and Class-Theory)

3.5 राज्य की उत्पत्ति का कारण : वर्ग विभेद (Reason of Origin of State : Class-Difference) 92

3.6 सारांश (Summary) 95

- अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions) 96
- संदर्भ ग्रंथ (Reference Books) 96

इकाई IV - राजनीतिक अभिजन (Political Elite) **97-105**

4.1 उद्देश्य (Objectives) 97

4.2 प्रस्तावना (Introduction) 97

4.3 अभिजन का अर्थ (Meaning of Elite) 98

4.4 अभिजन की विशेषताएँ (Characteristics of Elite) 100

4.5 अभिजन की धारणा और लोकतन्त्र (Concept of Elite and Democracy) 101

4.6 अभिजन : लक्ष्य, कार्य एवं पद्धतियाँ (Elite : Goal, Works and Systems) 102

4.7 सारांश (Summary) 104

- अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions) 105
- संदर्भ ग्रंथ (Reference Books) 105

अध्याय –III

इकाई I - राजनीतिक संस्कृति (Political Culture) **106-122**

1.1 उद्देश्य (Objectives) 106
1.2 प्रस्तावना (Introduction) 107
1.3 राजनीतिक संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषाएँ (Meaning and Definitions of Political Culture) 107
1.4 राजनीतिक संस्कृति की प्रकृति एवं प्रमुख लक्षण (Nature and Main Characteristics of Political Culture) 108
1.5 राजनीतिक संस्कृति और संस्कृति (Culture and Political Culture) 109
1.6 राजनीतिक संस्कृति के आधार या निर्माणकारी तत्व (The Foundations or Determinants of Political Culture) 110
1.7 आमण्ड और पॉवेल की राजनीतिक संस्कृति की धारणा (Almond and Powell's Concept of Political Culture) 111
1.8 राजनीतिक संस्कृति के प्रकार (Kinds of Political Culture) 112
1.9 नागरिक समाज की संकल्पना (Concept of Civil Society) 114
1.10 नागरिक समाज की भूमिका (Role of Civil Society) 117
1.11 समकालीन परिदृश्य (Contemporary Scenario) 119
1.12 सारांश (Summary) 121
- अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions) 122
- संदर्भ ग्रंथ (Reference Books) 122

इकाई II - राजनीतिक समाजीकरण (Political Socialisation) **123-128**

2.1 उद्देश्य (Objectives) 123
2.2 प्रस्तावना (Introduction) 123
2.3 राजनीतिक समाजीकरण की अवधारणा (Concept of Political Socialisation) 124
2.4 राजनीतिक समाजीकरण के प्रत्यय (Variables of Political Socialisation) 125
2.5 राजनीतिक समाजीकरण के निर्माणक तत्व (Determinants of Political Socialisation) 126
2.6 सारांश (Summary) 128
- अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions) 128
- संदर्भ ग्रंथ (Reference Books) 128

इकाई III - राजनीतिक भागीदारी एवं संचार (Political Participation and Communication) **129-139**

3.1 उद्देश्य (Objectives) 129
3.2 प्रस्तावना (Introduction) 129
3.3 राजनीतिक भागीदारी (Political Participation) 130

3.4 संचार (Communication) 136

3.5 संचार साधनों का योगदान व प्रचार की भूमिका 138
(Contribution of Means of Communication and Role of Propaganda)

3.6 सारांश (Summary) 139

- अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions) 139
- संदर्भ ग्रंथ (Reference Books) 139

इकाई IV - राजनीतिक संघर्ष (Political Conflict) **140-147**

4.1 उद्देश्य (Objectives) 140

4.2 प्रस्तावना (Introduction) 140

4.3 संघर्ष और संघर्ष निवारण (Conflict and Conflict Resolution) 141

4.4 मैत्रीपूर्ण साधन (Amicable Means) 141

4.5 सारांश (Summary) 147

- अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions) 147
- संदर्भ ग्रंथ (Reference Books) 147

अध्याय– IV

इकाई 1 - राजनीतिक दल-प्रणाली (Political Party System) **148-155**

1.1 उद्देश्य (Objectives) 148

1.2 प्रस्तावना (Introduction) 148

1.3 राजनीतिक दलों का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definitions of Political Parties) 149

1.4 राजनीतिक दलों की मुख्य विशेषताएँ अथवा तत्व (Main Features or Elements of Political Parties) 149

1.5 राजनीतिक दलों के कार्य (Functions of Political Parties) 150

1.6 दल-पद्धति के लाभ या गुण (Advantages or Merits of Party-System) 151

1.7 दल-पद्धति के दोष (Demerits of Party-System) 152

1.8 राजनीतिक दलों की भूमिका एवं महत्त्व (Importance and Role of Political Parties) 152

1.9 विकासशील राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों का स्वरूप 153
(Forms of Political Parties in a Developing Political System)

1.10 सारांश (Summary) 154

- अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions) 155
- संदर्भ ग्रंथ (Reference Books) 155

इकाई II - राजनीतिक दलों का वर्गीकरण (Classification of Political Parties) **156-163**

2.1 उद्देश्य (Objectives) 156

2.2 प्रस्तावना (Introduction) 156

2.3 सफल दलीय व्यवस्था की शर्तें (Conditions of Successful Party System) 157

2.4 दल-प्रणाली के रूप (Forms of Party System) 158

2.5 एकदलीय प्रणाली (One Party System) 158

2.6 द्विदलीय प्रणाली (Two Party System) 159

2.7 बहुदलीय प्रणाली (Multi Party System) 161

2.8 सारांश (Summary) 163

- अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions) 163
- संदर्भ ग्रंथ (Reference Books) 163

इकाई III - दबाव-समूह (Pressure Groups) **164-168**

3.1 उद्देश्य (Objectives) 164

3.2 प्रस्तावना (Introduction) 164

3.3 दबाव-समूह : अर्थ एवं परिभाषा (Pressure Groups : Meaning and Definitions) 165

3.4 दबाव तथा हित समूह में अन्तर (Difference between Pressure and Interest Groups) 165

3.5 सारांश (Summary) 167

- अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions) 168
- संदर्भ ग्रंथ (Reference Books) 168

इकाई IV – विकासशील देशों में राजनीति (Politics in the Developing Countries) **169-181**

4.1 उद्देश्य (Objectives) 169

4.2 प्रस्तावना (Introduction) 169

4.3 विकासशील देशों में लोकतन्त्र की स्थिति (Status of Democracy in the Developing Countries) 170

4.4 राजनीतिक व्यवस्था सिद्धांत : अभिप्राय (The Political System Theory : Meaning) 172

4.5 राजनीतिक व्यवस्था : विशेषताएँ (Political System : Characteristics) 174

4.6 राजनीतिक व्यवस्था के प्रमुख प्रकार (Main Types of Political System) 176

4.7 सारांश (Summary) 180

- अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions) 180
- संदर्भ ग्रंथ (Reference Books) 181

नोट

अध्याय–I

इकाई–I

तुलनात्मक राजनीति
(Comparative Politics)

संरचना (Structure)

1.1 उद्देश्य (Objectives)

1.2 प्रस्तावना (Introduction)

1.3 तुलनात्मक राजनीति : अर्थ एवं परिभाषा (Comparative Politics : Meaning and Definition)

1.4 तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति (The Nature of Comparative Politics)

1.5 तुलनात्मक राजनीति का विषय-क्षेत्र (Scope of Comparative Politics)

1.6 सारांश (Summary)

- अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)
- संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)

1.1 उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति एवं उत्पत्ति की व्याख्या करने में।
- तुलनात्मक राजनीति के विषय-क्षेत्र को समझने में।

1.2 प्रस्तावना (Introduction)

आधुनिक राजनीतिशास्त्र का अब राज्य में आरम्भ और अन्त नहीं होता है। यह राज्य की सीमा को न तो स्वीकार करता है और न ही यह राजनीतिक समस्याओं का अध्ययन सांस्थानिक एवं वैधानिक पद्धतियों के माध्यम से करना चाहता है। आधुनिक राजविज्ञान एक विश्वव्यापी दृष्टिकोण की खोज में प्रयत्नशील है। तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन आधुनिक राजनीतिशास्त्र की इस बदलती हुई प्रवृत्ति का परिचायक है। यद्यपि 'तुलनात्मक राजनीति' का सामान्य अर्थ विदेशी सरकारों का सांविधानिक अध्ययन (Constitutional study of foreign governments) है, किन्तु आधुनिक राजनीतिशास्त्र सम्पूर्ण विश्व की राजनीतिक पद्धति की कल्पना करता है और उसे एक सत्य

मानकर नवीन पद्धतियों के माध्यम से उसका विश्लेषण करना चाहता है। यह सत्य है कि 'संविधानों का तुलनात्मक अध्ययन' या 'विदेशी सरकारों का अध्ययन' जैसे विषयों से ही आधुनिक तुलनात्मक राजनीति को प्रेरणा मिली है, फिर भी तुलनात्मक राजनीति आधुनिक राजनीति के परिवर्तित दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करती है।

नोट

1.3 तुलनात्मक राजनीति : अर्थ एवं परिभाषा (Comparative Politics : Meaning and Definition)

आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों का यह दावा है कि उन्होंने राजनीतिक प्रक्रिया के सिद्धान्त व प्रतिमान निर्माण की ओर प्रथम चरण के रूप में सजनीतिक विश्लेषण की नूतन अवधारणाओं के सुझाव प्रस्तुत किये हैं। इनकी मान्यता है कि 'राज्य की अवधारणा' विश्लेषण के एक उपकरण के रूप में उन राजनीतिक व्यवस्थाओं की तुलना व उपयोगी अध्ययन करने में विशेष सहायक नहीं, जिनमें आकार, संगठन, संस्थाओं व संस्कृति की आधारभूत भिन्नताएँ हों। इसलिए राजनीतिविज्ञान में वर्षों से प्रचलित परम्परागत अवधारणाओं जैसे–राज्य, सरकार, कानून, सत्ता के स्थान पर नयी अवधारणाओं का प्रयोग अपरिहार्य माना जाने लगा ताकि राजनीतिक क्रिया की गहराइयों में झाँका जा सके। इसलिए समकालीन राजनीति वैज्ञानिकों द्वारा राजनीतिक अध्ययन में राजनीतिक व्यवस्था (Political system), राजनीतिक संस्कृति (Political culture), राजनीतिक संरचना (Political structure) एवं राजनीतिक विकास (Political development) आदि नयी अवधारणाओं का प्रयोग किया जाने लगा। इन नयी अवधारणाओं में भी 'राजनीतिक व्यवस्था' को बुनियादी अवधारणा माना जाने लगा। इस 'राजनीतिक व्यवस्था' से सम्बन्धित प्रक्रिया के विभिन्न स्तरों पर तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर, राजनीतिक व्यवहार सम्बन्धी सिद्धान्त निर्माण के लक्ष्य से युक्त शास्त्र ही 'तुलनात्मक राजनीति' कहा जाता है।

एडवर्ड ए. फ्रीमैन ने तुलनात्मक राजनीति का अर्थ स्पष्ट करते हुए यह माना है कि तुलनात्मक राजनीति संस्थाओं एवं सरकारों के विभिन्न प्रकार का एक तुलनात्मक विवेचन एवं विश्लेषण है अर्थात् तुलनात्मक राजनीति में केवल सरकारों के विभिन्न रूपों का ही तुलनात्मक अध्ययन सम्मिलित नहीं होता, वरन् विविध राजनीतिक प्रक्रियाओं व उनसे सम्बद्ध राजनीतिक व गैर-राजकीय संस्थाओं का भी तुलनात्मक अध्ययन सम्मिलित होता है।

'तुलनात्मक' शब्द का विवेचन करते हुए रॉय सी. मैक्रीडिस ने लिखा है कि हेरोडोटस एवं अरस्तु के समय से ही राजनीतिक मूल्यों, विश्वासों, संस्थाओं, सरकारों एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं में विविधताएँ प्राणवान रही हैं और इन विविधताओं में समान तत्वों की खोज करने के पद्धतीय (Systemic) प्रयास को तुलनात्मक राजनीतिक विश्लेषण की संज्ञा दी जानी चाहिए।

जी. के. रॉबर्ट्स के अनुसार, "अब राजनीति का यह तुलनात्मक अध्ययन केवल संरचनात्मक तुलनाओं तक ही सीमित नहीं रहा है वरन् इसके अन्तर्गत कबीलों, समुदायों, संघों, समूहों और गैर-राज्यीय इकाइयों का व्यवहारात्मक अध्ययन भी होने लगा है। यही कारण है कि आज तुलनात्मक राजनीति को या तो 'सब कुछ' या 'कुछ नहीं' कहा जाने लगा है।"

1.4 तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति (The Nature of Comparative Politics)

तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति के सम्बन्ध में वुड का यह कथन उल्लेखनीय है–"इस क्षेत्र के नामकरण में 'तुलनात्मक' शब्द के इस्तेमाल करने का एकमात्र कारण यह था कि इस बात पर बल दिया जाए कि इस क्षेत्र की राजनीति विज्ञान के प्रति जो जिम्मेदारी है, उसके अनुसार विश्व में विद्यमान राजनीतिक व्यवस्थाओं का राजनीति विज्ञान में सिद्धान्त निर्माण और परीक्षण की सामान्य खोज में तुलना के लिए इकाइयों के तौर पर स्वीकार किया जाए।"

आधुनिक तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति के सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं–

1. तुलनात्मक राजनीति पश्चिमी, गैर-पश्चिमी और साम्यवादी देशों की संस्थाओं का तुलनात्मक विश्लेषण है।

2. तुलनात्मक राजनीति विविध राजनीतिक संरचनाओं के साथ-साथ अराजनीतिक संरचनाओं और उनके प्रभावों का अध्ययन है।

3. तुलनात्मक राजनीति में राजनीतिक संस्थाओं की अपेक्षा मानव स्वभाव, उसकी परिस्थितियाँ तथा उसके व्यवहार के अध्ययन को अधिक महत्त्व दिया जाता है।

नोट

4. तुलनात्मक राजनीति में राजनीतिक कार्यकलाप, राजनीतिक प्रक्रिया और राजनीतिक सत्ता का अध्ययन किया जाता है।

5. विभिन्न राजनीतिक प्रणालियों के मूल्यों की तुलना की जाती है।

उपर्युक्त तथ्यों के बावजूद भी इसकी प्रकृति के बारे में विद्वानों में विचार-विभेद हैं। मोटे रूप से इसकी प्रकृति के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण पाये जाते हैं–

(*i*) तुलनात्मक राजनीति लम्बात्मक अध्ययन है और

(*ii*) तुलनात्मक राजनीति अम्बरान्तीय अध्ययन है।

(*i*) लम्बात्मक तुलनात्मक अध्ययन (Vertical Comparative Study)–इस विचार के समर्थकों के अनुसार तुलनात्मक राजनीति एक ही देश में स्थित विभिन्न स्तरों पर स्थापित सरकारों व उनको प्रभावित करने वाले राजनीतिक व्यवहारों का तुलनात्मक विश्लेषण व अध्ययन है। प्रत्येक राज्य में कई स्तरों पर सरकारें होती हैं–जैसे राष्ट्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकार, स्थानीय सरकार आदि।

इस दृष्टिकोण के अनुसार तुलनात्मक राजनीति का सम्बन्ध इस प्रकार की एक ही देश में स्थित विभिन्न सरकारों–राष्ट्रीय, प्रान्तीय एवं स्थानीय की आपस में तुलना से है। तुलनात्मक राजनीति एक ही देश की विभिन्न सरकारों की लम्बात्मक (Vertical) तुलना है।

वस्तुत: यह दृष्टिकोण तर्कसंगत नहीं है। राष्ट्रीय सरकार और स्थानीय सरकारों के बीच पायी जाने वाली समानता सतही ही है। आर्थिक साधनों को स्रोत, आकार व सम्भावनाओं की दृष्टि से देखें तो दोनों में काफी अन्तर पाया जाता है। राष्ट्रीय सरकार के नियम व कानून स्थानीय सरकारों की तुलना में अधिक दृढ़ होते हैं और उनका पालन भी अधिक दृढ़ता से कराया जाता है। स्थानीय सरकारों की तुलना में राष्ट्रीय सरकारों की शक्ति में अवपीड़न (Coercion) का तत्व प्रमुख रूप से पाया जाता है। इन असमानताओं के कारण तुलनात्मक राजनीति में एक ही देश की विभिन्न स्तरीय सरकारों का तुलनात्मक विश्लेषण सम्भव दिखायी देते हुए भी सामान्यीकरण की सम्भावनाएँ नहीं रखता। अत: तुलनात्मक राजनीति की व्याख्या एक लम्बात्मक अध्ययन व तुलना के रूप में नहीं की जा सकती।

***(ii)* क्षैतिजीय तुलनात्मक अध्ययन** (Horizontal Comparative Study)–तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति सम्बन्धी दूसरी धारणा के अनुसार यह राष्ट्रीय सरकारों का अम्बरान्तीय (Horizontal) तुलनात्मक अध्ययन है और अधिकांश राजनीतिशास्त्री इस धारणा से सहमत हैं। ऐसी तुलना दो प्रकार से हो सकती है–प्रथम तुलना तो एक ही देश की विभिन्न कालों में विद्यमान राष्ट्रीय सरकारों की आपस में हो सकती है; और द्वितीय, उन राष्ट्रीय सरकारों में, जो आज सम्पूर्ण विश्व में विद्यमान है, हो सकती है।

तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति सम्बन्धी सर्वमान्य धारणा आज यही है कि यह समकालीन विश्व में प्रचलित राष्ट्रीय सरकारों का तुलनात्मक अध्ययन है। **जीन ब्लोण्डेल** ने इसका समर्थन करते हुए लिखा है–"हमारे पास तुलनात्मक सरकारों के अध्ययन का केवल एक ही दृष्टिकोण शेष बचता है और वह है समकालीन विश्व की राजनीतिक व्यवस्थाओं से सम्बद्ध राष्ट्रीय सरकारों का राष्ट्रीय सीमाओं के आर-पार अध्ययन करना।" वास्तव में इसी प्रकार की तुलना से न केवल सामान्यीकरण सम्भव है, वरन् राजनीतिक व्यवहार के सम्बन्ध में ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी किया जा सकता है जिनसे हर देश की राजनीतिक व्यवस्था को समझा जा सके।

संक्षेप में, तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि यह एक स्वतंत्र अनुशासन है जो राजनीति विज्ञान में एक महत्त्वपूर्ण शाखा बन गया है। तुलनात्मक राजनीति एक ही देश की राष्ट्रीय सरकारों का ऐतिहासिक सन्दर्भ व राष्ट्रीय सीमाओं के आर-पार तुलनात्मक अध्ययन ही नहीं है अपितु इसके साथ-साथ

नोट

राजनीतिक प्रक्रियाओं व राजनीतिक व्यवहार तथा सरकारी तन्त्रों को प्रभावित करने वाली गैर-शासकीय व्यवस्थाओं का भी तुलनात्मक अध्ययन है। **'तुलनात्मक शासन'** (Comparative Government), **'तुलनात्मक विश्लेषण'** (Comparative Analysis), **'तुलनात्मक पद्धति'** (Comparative Method) आदि के बार-बार समानार्थक प्रचलन से कठिनाई होती है।

सामान्यतया 'तुलनात्मक राजनीति' को 'तुलनात्मक शासन' या 'तुलनात्मक सरकार' का पर्याय समझ लिया जाता है। दोनों का ही सम्बन्ध 'राजनीति' से होने के कारण इनका दूसरे के लिए अदल-बदलकर प्रयोग करना कुछ स्वाभाविक ही है। परन्तु राजनीतिक विज्ञान में इनका सुनिश्चित अर्थ किया जाता है। **जी. के. रॉबर्ट्स** ने तुलनात्मक सरकार व तुलनात्मक राजनीति को अलग-अलग माना है। उन्हीं के शब्दों में, "तुलनात्मक सरकार राज्यों, उनकी संस्थाओं व सरकारों के कार्यों का अध्ययन है जिसमें शायद राज्य क्रिया से अत्यधिक निकट का सम्बन्ध रखने वाले पूरक समूहों–राजनीतिक दल व दबाव समूहों का भी अध्ययन सम्मिलित है।" जीन ब्लोण्डेल ने भी तुलनात्मक सरकार का अर्थ रॉबर्ट्स द्वारा किये गये अर्थ से मिलता-जुलता किया है। उन्हीं के शब्दों में, "तुलनात्मक सरकार समकालीन विश्व में राष्ट्रीय सरकारों के प्रतिमानों का अध्ययन है।"

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि तुलनात्मक सरकार के अन्तर्गत राज्य से सम्बन्धित औपचारिक संस्थाओं का ही मुख्यत: तुलनात्मक अध्ययन होता है। इसमें राजनीतिक व्यवहार से सम्बन्धित सभी प्रक्रियाओं व अन्य गैर-सरकारी संस्थाओं का अध्ययन सम्मिलित नहीं किया जाता। यद्यपि वर्तमान में राजनीतिक दल व दबाव समूहों की हर राज्य में महत्त्वपूर्ण भूमिका के कारण इनका अध्ययन भी तुलनात्मक सरकारों में सम्मिलित किया जाने लगा है। परन्तु मुख्य जोर शासन (Government) की संस्थाओं के तुलनात्मक विश्लेषण पर रहता है।

'तुलनात्मक विश्लेषण' किसी भी वैज्ञानिक गतिविधि का अंग होता है और राजनीति विज्ञान में इसके माध्यम से राजनीतिक घटनाओं की व्याख्या की जा सकती है।

'तुलनात्मक पद्धति' को तुलनात्मक विश्लेषण का ही पर्यायवाची माना जाता है और कभी-कभी इसे 'केस पद्धति' के स्थान पर प्रयुक्त किया जाता है। यह तुलनात्मक अध्ययन की एक पद्धति है।

'तुलनात्मक राजनीति' एक विस्तृत विषय है जिसके अन्तर्गत तुलनात्मक सरकारों के अध्ययन की विषय-वस्तु को सम्मिलित किया जाता है तथा साथ ही गैर-राज्यीय राजनीति, कबीले, समुदाय, वैयक्तिक संघों आदि की राजनीति का अध्ययन भी इसके अन्तर्गत किया जाता है।

तुलनात्मक राजनीति का सम्बन्ध राजनीतिक व्यवहार की सम्पूर्णता (Totality of political behaviour) के अध्ययन से है। **जी. के. रॉबर्ट्स** के अनुसार, 'तुलनात्मक राजनीति वृहत्तर क्षेत्र का संकेतक है।' एडवर्ड ए. फ्रीमैन भी तुलनात्मक राजनीति के विस्तृत क्षेत्र की बात करते हैं। उनकी धारणा है कि तुलनात्मक राजनीति में केवल सरकारों के विभिन्न रूपों का ही तुलनात्मक अध्ययन सम्मिलित नहीं होता वरन् विविध राजनीतिक प्रक्रियाओं व उनसे सम्बद्ध राजनीतिक व गैर-राजकीय संस्थाओं का भी तुलनात्मक अध्ययन सम्मिलित होता है। **फ्रीमैन** के शब्दों में, "तुलनात्मक राजनीतिक सरकारों के विविध प्रकारों व विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं का तुलनात्मक विश्लेषण है।"

तुलनात्मक राजनीति में अनेक शासन पद्धतियों के अनुभवों, संस्थाओं, व्यवहारों और प्रक्रियाओं का ऐसे विस्तारपूर्ण ढंग से अध्ययन किया जाता है कि उसमें संविधान से बाहर उन अभिकरणों (Extra Constitutional Agencies) का अध्ययन भी आ जाये जिसका किसी भी रूप में शासन के औपचारिक अंगों से कोई भी सम्बन्ध हो। वस्तुत: इसका सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण नियमितता में राजनीतिक व्यवहार और राजनीतिक संस्थाओं की कार्य-शैली में समानताओं और असमानताओं से है।

तुलनात्मक राजनीति का अध्येता न केवल कानून निर्माण, कानून प्रयोग और विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं के अंगों से सम्बन्धित निर्णयों तक ही सीमित है। उसे उन विषयों का अध्ययन भी एक विशिष्ट तरीके से करना होता है जो अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र और मानवशास्त्र के अन्तर्गत आते हैं। **सिडनी** वर्बा ने इसे संक्षेप में इन शब्दों

में प्रकट किया है–"केवल वर्णन से आगे बढ़कर अधिक सैद्धान्तिक रूप से सम्बन्धित समस्याओं की ओर देखिए, किसी एक मामले से आगे बढ़कर अनेक मामलों की तुलना पर दृष्टिपात कीजिए, सरकार की औपचारिक संस्थाओं के अध्ययन से आगे बढ़ते हुए राजनीतिक प्रक्रियाओं और राजनीतिक कार्यों पर नजर डालिये तथा केवल पश्चिमी यूरोपीय देशों का अध्ययन न करके एशिया और अफ्रीका एवं लैटिन अमरीका के नये राष्ट्रों की ओर देखिए।"

नोट

आमण्ड एवं पावेल के अनुसार, तुलनात्मक राजनीति के तीन मौलिक मन्तव्य हैं–**प्रथम**, पश्चिमी और गैर-पश्चिमी देशों की संस्थाओं का एक साथ विश्लेषण; **द्वितीय**, राजनीतिक संस्थाओं का क्रमबद्ध ढंग से अध्ययन करना; एवं **तृतीय**, तुलनात्मक राजनीति और राजनीतिक सिद्धान्तों में सम्बन्ध स्थापित करना।

संक्षेप में, तुलनात्मक राजनीति विषय में 'राजनीति' को आदर्शात्मक आयामों (Normative dimensions) की शृंखलाओं से मुक्त कर दिया गया है और इसे अनुभवासित (Empirical) शब्दों में नये तरीकों से व्यक्त किया गया है। इसके परिणामस्वरूप राजनीति न केवल राज्य और सरकार का बल्कि यह 'सत्ता' एवं 'शक्ति' के प्रयोग का अध्ययन हो गयी है।

1.5 तुलनात्मक राजनीति का विषय-क्षेत्र (Scope of Comparative Politics)

तुलनात्मक राजनीति का क्षेत्र बड़ा विवादास्पद है। इसके विषय-क्षेत्र की प्रमुख समस्या यह बन जाती है कि तुलनात्मक राजनीति में क्या-क्या सम्मिलित किया जाये और क्या-क्या इसके अध्ययन से बाहर रखा जाये? इसके विषय-क्षेत्र के सीमांकन की समस्या इस कारण और भी उलझी हुई लगती है कि इसके विचारक अध्ययन पद्धतियों, परिवर्त्यों, विश्लेषण के उपागमों, सिद्धान्त के प्रकारों व विश्लेषण की इकाई पर भी एकमत नहीं हो पा रहे हैं। हेरी एक्सटीन ने ठीक ही लिखा है कि, "सबसे अधिक आधारभूत बात तुलनात्मक राजनीति के बारे में यह है कि आज यह एक ऐसा विषय है जिसमें अत्यधिक विवाद है क्योंकि यह संक्रमण स्थिति में है–एक प्रकार की विश्लेषण शैली से दूसरे प्रकार की शैली में प्रस्थान कर रहा है।" इसके विषय-क्षेत्र में एक सीमा के बाद विस्तृतता इसे राजनीति विज्ञान के अनुरूप बना देती है तथा दूसरी तरफ इसके क्षेत्र की अत्यधिक संकुचित अवधारणा इसे स्वतंत्र अनुशासन की अवस्था से ही वंचित कर देती है।

तुलनात्मक राजनीति के 'विषय-क्षेत्र' को लेकर परम्परावादी और आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों में गहरा मतभेद है। परम्परावादी राजनीतिशास्त्रियों ने तुलनात्मक राजनीति को संकुचित अर्थ में प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार तुलनात्मक शासन का अर्थ है शासन के कानूनी यन्त्रों तथा प्रक्रियाओं का इस दृष्टि से अध्ययन करना कि वे शासन के विभिन्न अंगों–विधायिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका और प्रशासन के बीच अन्तर्क्रिया का परिणाम हो। उन्होंने अनौपचारिक कारकों व प्रक्रियाओं जैसे दबाव गुट, हित समूह आदि की भूमिका की चर्चा ही नहीं की। जब से तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन प्रारम्भ हुआ है, इसका अध्ययन क्षेत्र भी विस्तृत होता गया है। तुलनात्मक राजनीति तुलनात्मक अध्ययन के क्षेत्र को अधिक विस्तृत बनाती है क्योंकि यह ऐसे कारकों को भी शामिल करती है जिनकी ओर अतीत में ध्यान नहीं दिया जाता था।

तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के अन्तर्गत संविधानों, हित समूहों, राजनीतिक दलों, कार्यपालिकाओं, विधायिकाओं और विधायी व्यवहार, निर्वाचन और मतदान व्यवहार, कानूनी पद्धतियाँ, लोक प्रशासन, राजनीतिक परिवर्तन और आधुनिकीकरण आदि के सांगोपांग विश्लेषण को लिया जा सकता है। तुलनात्मक अध्ययन का आरम्भ राजनीतिक पर्यावरण से होता है। राजनीतिक पर्यावरण के साथ-साथ प्राकृतिक रचना, राजनीतिक मूल्य, राजनीतिक विचारधाराएँ, राजनीतिक संस्कृति आदि का भी अध्ययन किया जाता है। राजनीतिक पर्यावरण के अध्ययन में हम इन कारकों को भी ले सकते हैं–जैसे भौगोलिक दशाएँ, अर्थव्यवस्था, धर्म, संचार के साधन, शिक्षा, इतिहास, मानवीय चरित्र आदि।

तुलनात्मक राजनीति के विषय-क्षेत्र सम्बन्धी विवाद को **जीन ब्लोण्डेल** ने दो बातों से सम्बन्धित बताया है–पहला है तुलनात्मक राजनीति की सीमा सम्बन्धी विवाद व दूसरा मानकों व व्यवहार के पारस्परिक सम्बन्धों सम्बन्धी विवाद।

नोट

सीमा सम्बन्धी विवाद–सभी राजनीतिक वैज्ञानिक इस बात पर सहमत हैं कि तुलनात्मक राजनीति का सम्बन्ध राष्ट्रीय सरकारों से है और इसमें भी केवल सरकारी ढाँचों का ही अध्ययन नहीं अपितु सरकारों के कार्यकलापों व गैर-राजकीय संस्थाओं के राजनीतिक कार्यों का भी अध्ययन आवश्यक रूप में सम्मिलित रहता है। लेकिन उनमें विवाद इस बात को लेकर है कि तुलना से सम्बन्धित राजनीतिक कार्यकलापों से क्या अर्थ समझा जाये? अर्थात् सरकार की क्रियाओं की व्याख्या किस ढंग से की जाये? इस सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण प्रचलित हैं–**कानूनी दृष्टिकोण** व **व्यवहारवादी दृष्टिकोण।**

1. **कानूनी दृष्टिकोण** (Legalistic Approach)–कानूनी दृष्टिकोण के अनुसार तुलनात्मक राजनीति में केवल उसी राजनीतिक व्यवहार की तुलना होनी चाहिए जो संविधान में कानून द्वारा स्थापित राजनीतिक संस्थाओं से सम्बद्ध है। इस दृष्टिकोण के समर्थकों की मान्यता है कि संविधान ही शासन के ढाँचे का संगठन करता है और इसी के द्वारा हर संस्था के कार्यों का नियमन होता है। इसलिए तुलना राष्ट्रीय सरकारों के आधार, संविधान व इनके द्वारा नियत कार्यकलापों की ही होनी चाहिए। लेकिन आलोचकों की मान्यता है कि इस प्रकार की तुलना केवल सतही और दिखावटी होगी। उदाहरणार्थ, सोवियत रूस के संविधान व संविधान द्वारा नियत राजनीतिक कार्यकलापों का अध्ययन रूस की राजनीतिक व्यवस्था की असली प्रकृति का कोई संकेत नहीं देता। यदि कानूनी ढंग से ब्रिटिश संविधान का अध्ययन किया जाए तो आज भी वहाँ हम निरंकुश राजतंत्र पायेंगे, जबकि व्यवहार में उसका लोकतन्त्रीकरण हो चुका है।

2. **व्यवहारवादी दृष्टिकोण** (Behavioural Approach)–जीन ब्लोण्डेल ने तो राजनीति के व्यावहारिक पक्ष को आधारभूत व मौलिक माना है। तुलनात्मक राजनीति में केवल कानूनी संस्थाओं का औपचारिक अध्ययन व तुलना पर्याप्त नहीं है। व्यवहारवादियों के अनुसार तुलनात्मक राजनीति में राष्ट्रीय संस्थाओं व गैर-राजकीय संस्थाओं के राजनीतिक व्यवहार से सम्बन्धित सब तथ्य एकत्रित करके विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं में तुलना करनी चाहिए। तुलनात्मक राजनीति का सम्बन्ध प्रमुखतया शासन क्रिया के इर्द-गिर्द घूमते राजनीतिक व्यवहार के तुलनात्मक अध्ययन से है।

मानकों व व्यवहार के सम्बन्धों का विवाद–तुलनात्मक राजनीति के विषयक्षेत्र सम्बन्धी दूसरा विवाद मानकों (norms) व व्यवहार (behaviour) से सम्बन्धित है। मानकों की अभिव्यक्ति कानूनों, प्रक्रियाओं व नियमों में होती है। परन्तु राजनीतिक व्यवहार कई बार इन कानूनों के प्रतिकूल होता है और यही तुलनात्मक अध्ययन में जटिलताएँ उत्पन्न करता है। यदि राजनीतिक आचरण मानकों के अनुकूल रहें तो तुलना करना सरल होता है, किन्तु आमतौर से ऐसा नहीं होता है। राजनीतिक व्यवहार को तुलना से बाहर रखना राजनीतिक व्यवस्थाओं की वास्तविकताओं से दूर रहना है। अतः तुलनात्मक राजनीति में यह भी देखा जाना चाहिए कि राजनीतिक व्यवहार मानकों के अनुकूल है या प्रतिकूल। वस्तुतः मानक व व्यवहार दोनों ही अचल नहीं रहते क्योंकि दोनों ही गत्यात्मक (dynamic) हैं। मानक में परिवर्तन व्यवहार में परिवर्तन लाता है और स्वयं व्यवहार भी नवीन मानकों की स्थापना का कारण बन सकता है। **जीन ब्लोण्डेल** के शब्दों में, "जबकि आधारभूत दृष्टि से तुलनात्मक राजनीति का सम्बन्ध सरकार की संरचना से होना चाहिए, पर साथ ही उसका सम्बन्ध व्यवहार के स्फुटित प्रतिमानों व आचरणों से भी होना चाहिए क्योंकि वे सरकार की जीवित संरचना का अभिन्न अंग हैं।"

संक्षेप में, तुलनात्मक राजनीति में न केवल शासन तन्त्रों व संगठनों की तुलना की जाती है और न ही मानक व व्यवहारों के सम्बन्धों का विश्लेषण मात्र ही किया जाता है वरन् इसके क्षेत्र में इन दोनों का ही समावेश आवश्यक है।

आजकल तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन-क्षेत्र में निम्नांकित विषय-वस्तुओं के अध्ययन पर विशिष्ट जोर दिया जा रहा है–

1. **विश्लेषणात्मक-आनुभविक खोज** (Analytical and Empirical Investigation)–तुलनात्मक राजनीति के अन्तर्गत आनुभविक अध्ययन पर अधिक बल दिया गया है। अध्येता स्वयं राजनीतिक संस्थाओं और संरचनाओं की बजाय उसमें क्रियाशील कार्यकर्ताओं (Political actors) के व्यवहार का अध्ययन करता है।

नोट

2. **अवसंरचना का अध्ययन** (Study of the Infrastructure)–तुलनात्मक राजनीति का अध्येता औपचारिक संरचनाओं की बजाय अवसंरचनाओं (Infrastructures) के अध्ययन को अधिक महत्त्व देता है। वह कार्यपालिका, विधायिका, न्यायपालिका के साथ-साथ राजनीतिक दलों, दबाव गुटों, मताचरण, लोकमत आदि के अध्ययन पर ध्यान केन्द्रित करता है। वह उन तत्वों का अध्ययन करता है जिनका प्रभाव राजनीतिक निर्णय प्रक्रिया पर पड़ता है।

3. **विकासशील समाजों के अध्ययन पर बल** (Emphasis on the Study of Developing Societies)–तुलनात्मक राजनीति के अन्तर्गत विकसित पश्चिमी देशों की शासन प्रणालियों के अध्ययन के साथ-साथ गरीब और पिछड़े हुए एफ्रो-एशियाई जगत की सरकारों के अध्ययन पर भी बल दिया गया है। "तुलनात्मक सरकारों का अध्ययन अब कुछ चुनी हुई यूरोपीय अथवा अमरीकी सरकारों का अध्ययन नहीं रहा है। यह विकसित पश्चिमी सरकारों का अध्ययन तो है; यह गरीब एफ्रो-एशियाई जगत के पिछड़े हुए देशों की विकासशील राजनीतिक पद्धतियों का उतना ही महत्त्वपूर्ण अध्ययन है।"

4. **अन्तःशास्त्रीय उपागम** (Focus on Inter-disciplinary Approach)–तुलनात्मक राजनीति के अन्तर्गत समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, नृविज्ञान, जीवविज्ञान आदि का भी अध्ययन किया जाता है। तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र में विद्वानों द्वारा अन्तःशास्त्रीय उपागम अपनाने के कारण यह कहा जा सकता है कि राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में एक प्रकार की क्रान्ति आ गयी है।

5. **मूल्यविहीन राजनीतिक सिद्धान्त** (Value-Free Political Theory)–तुलनात्मक राजनीति का सम्बन्ध वस्तुओं के आदर्श रूप से न होकर उनके वास्तविक रूप से है। अतः तुलनात्मक राजनीति में मूल्य-मुक्त राजनीतिक सिद्धान्त ने मूल्य-युक्त सिद्धान्त का स्थान ग्रहण कर लिया है। तुलनात्मक राजनीति के अध्येताओं का सरोकार वस्तुओं के आदर्श रूप में उन्हें किस प्रकार का होना चाहिए, इससे न होकर उनके वास्तविक रूप से हो गया है।

छात्र क्रियाकलाप

1. तुलनात्मक राजनीति के संबंध में जी. के. रॉबर्ट्स की परिभाषा लिखिए।

2. आमण्ड एवं पावेल के अनुसार तुलनात्मक राजनीति के तीन मौलिक मंतव्य बताइए।

नोट

1.6 सारांश (Summary)

- 'तुलनात्मक' शब्द का विवेचन करते हुए रॉय सी. मैक्रीडिस ने लिखा है कि हेरोडोटस एवं अरस्तु के समय से ही राजनीतिक मूल्यों, विश्वासों, संस्थाओं, सरकारों एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं में विविधताएँ प्राणवान रही हैं और इन विविधताओं में समान तत्वों की खोज करने के पद्धतीय (Systemic) प्रयास को तुलनात्मक राजनीतिक विश्लेषण की संज्ञा दी जानी चाहिए।
- तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति के सम्बन्ध में वुड का यह कथन उल्लेखनीय है–"इस क्षेत्र के नामकरण में 'तुलनात्मक' शब्द के इस्तेमाल करने का एकमात्र कारण यह था कि इस बात पर बल दिया जाए कि इस क्षेत्र की राजनीति विज्ञान के प्रति जो जिम्मेदारी है, उसके अनुसार विश्व में विद्यमान राजनीतिक व्यवस्थाओं का राजनीति विज्ञान में सिद्धान्त निर्माण और परीक्षण की सामान्य खोज में तुलना के लिए इकाइयों के तौर पर स्वीकार किया जाए।"
- सामान्यतया 'तुलनात्मक राजनीति' को 'तुलनात्मक शासन' या 'तुलनात्मक सरकार' का पर्याय समझ लिया जाता है। दोनों का ही सम्बन्ध 'राजनीति' से होने के कारण इनको दूसरे के लिए अदल-बदलकर प्रयोग करना कुछ स्वाभाविक ही है। परन्तु राजनीतिक विज्ञान में इनका सुनिश्चित अर्थ किया जाता है। जी.के. रॉबर्ट्स ने तुलनात्मक सरकार व तुलनात्मक राजनीति को अलग-अलग माना है। उन्हीं के शब्दों में, "तुलनात्मक सरकार राज्यों, उनकी संस्थाओं व सरकारों के कार्यों का अध्ययन है जिसमें शायद राज्य क्रिया से अत्यधिक निकट का सम्बन्ध रखने वाले पूरक समूहों–राजनीतिक दल व दबाव समूहों का भी अध्ययन सम्मिलित है।"
- तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के अन्तर्गत संविधानों, हित समूहों, राजनीतिक दलों, कार्यपालिकाओं, विधायिकाओं और विधायी व्यवहार, निर्वाचन और मतदान व्यवहार, कानूनी पद्धतियाँ, लोक प्रशासन, राजनीतिक परिवर्तन और आधुनिकीकरण आदि के सांगोपांग विश्लेषण को लिया जा सकता है। तुलनात्मक अध्ययन का आरम्भ राजनीतिक पर्यावरण से होता है। राजनीतिक पर्यावरण के साथ-साथ प्राकृतिक रचना, राजनीतिक मूल्य, राजनीतिक विचारधाराएँ, राजनीतिक संस्कृति आदि का भी अध्ययन किया जाता है। राजनीतिक पर्यावरण के अध्ययन में हम इन कारकों को भी ले सकते हैं–जैसे भौगोलिक दशाएँ, अर्थव्यवस्था, धर्म, संचार के साधन, शिक्षा, इतिहास, मानवीय चरित्र आदि।

अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)

1. तुलनात्मक राजनीति से आप क्या समझते हैं?
2. तुलनात्मक राजनीति की प्रमुख प्रकृति का वर्णन करें।
3. तुलनात्मक राजनीति के क्या महत्त्व हैं?
4. तुलनात्मक राजनीति के प्रमुख क्षेत्रों का वर्णन करें।

संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)

1. तुलनात्मक राजनीति–चन्द्रदेव प्रसाद, ऐटलांटिक।
2. तुलनात्मक राजनीति–प्रो. रामानन्द गैरोला।
3. तुलनात्मक राजनीति–सी. वी. गेना, विकास पब्लिशिंग हाउस।

इकाई–II

राजनीतिक व्यवस्था का वर्गीकरण
(Classification of Political System)

संरचना (Structure)

2.1 उद्देश्य (Objectives)
2.2 प्रस्तावना (Introduction)
2.3 लोकतन्त्र (Democracy)
2.4 अधिनायकतन्त्र (Dictatorship)
2.5 एकात्मक शासन : अर्थ और परिभाषा
(Unitary Government : Meaning and Definitions)
2.6 एकात्मक शासन : विशेषताएँ (Unitary Government : Features)
2.7 संघात्मक शासन : अर्थ और परिभाषा (Federal Government : Meaning and Definitions)
2.8 संघात्मक सरकार की विशेषताएँ (Features of the Federal Government)
2.9 एकात्मक तथा संघात्मक सरकारों में अन्तर
(Difference between Unitary and Federal Governments)
2.10 राज्य-मण्डल (Confederation)
2.11 संघ और राज्य-मण्डल में भेद (Difference between Federation and Confederation)
2.12 संसदीय शासन प्रणाली (Parliamentary System of Government)
2.13 अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली (Presidential System of Government)
2.14 सारांश (Summary)
- अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)
- संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)

नोट

2.1 उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- लोकतंत्र तथा अधिनायकतंत्र के अर्थ को समझने में;
- एकात्मक तथा संघात्मक शासन-प्रणाली के बारे में जानकारी प्राप्त करने में;
- संसदीय तथा अध्यक्षात्मक व्यवस्था का तुलनात्मक अध्ययन करने में;
- संघ और राज्यमंडल के बारे में जानकारी प्राप्त करने में।

2.2 प्रस्तावना (Introduction)

राज्य के अस्तित्व के लम्बे इतिहास में परिस्थितियों व काल विशेष की आवश्यकताओं के अनुरूप शासन के प्रकार परिवर्तित होते हैं। राज्य के इतिहास में कभी भी ऐसा समय नहीं रहा जब विश्व के सभी राज्यों में शासन का कोई एक ही प्रकार सर्वत्र प्रचलित रहा हो। एक ही साथ, राजतन्त्र, श्रेणीतन्त्र, अधिनायकतन्त्र व लोकतन्त्र जैसे शासन के अनेक प्रकार के विभिन्न राज्यों में शासन शक्ति के प्रयोग के प्रतिमान रहे हैं। आज भी ऐसे अनेक राज्य हैं जहाँ राजतन्त्र या श्रेणीतन्त्र का ढाँचा विद्यमान है, परन्तु वर्तमान शताब्दी लोकतन्त्र व निरंकुशतन्त्र की दो बेमेल धाराओं के प्रचलन की ही कही जाती है। आज के राज्य या तो लोकतान्त्रिक हैं या तानाशाही व्यवस्था में जकड़े होने पर भी लोकतान्त्रिक होने का दावा करते हुए दिखाई देते हैं। प्रस्तुत अध्याय में हम शासन के विभिन्न प्रकारों पर विचार करेंगे और यह देखने का प्रयास करेंगे कि इन शासन व्यवस्थाओं के क्या लक्षण, गुण और दोष हैं।

(क) लोकतन्त्र और अधिनायकतन्त्र (Democracy and Dictatorship)

2.3 लोकतन्त्र (Democracy)

प्लेटो के समय से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक लोकतन्त्र शब्द घृणित व निन्दनीय ही रहा है। प्लेटो तो लोकतन्त्र को शासन का विकृत रूप मानते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से लोकतन्त्र शासन को सम्मान की दृष्टि से देखा जाने लगा, और आज तो यह शासन का सर्वोत्कृष्ट रूप बन गया है। वर्तमान समय में लोकतन्त्र को राजनीतिक और सामाजिक संगठन का श्रेष्ठतम प्रकार कहा जाने लगा है। इसलिए आजकल का युग प्रजातंत्र का युग माना जाता है। सभी जगह यह स्वीकार किया जाने लगा है कि लोकतन्त्रीय शासन ही मानव के विकास का श्रेष्ठतम शासन विकल्प है। अत: जिन राज्यों में प्रजातन्त्र का अभाव है वहाँ भी शासन व्यवस्था को प्रजातांत्रिक ही बताया जाता है। इससे स्पष्ट है कि प्रजातंत्र आज सर्वत्र श्रद्धा से देखा जाता है। ऐसी शासन व्यवस्था का महत्त्व व भूमिका समझने से पहले इसका अर्थ व परिभाषा समझना आवश्यक है।

लोकतन्त्र का अर्थ व परिभाषा
(The Meaning and Definition of Democracy)

लोकतन्त्र के अर्थ पर सर्वाधिक मतभेद है। इसकी अनेक परिभाषाएँ व व्याख्याएँ की गई हैं। इसको आडम्बरमय कहने से लेकर सर्वोत्कृष्ट तक कहा गया है। **सारटोरी** तो यहाँ तक कहने में नहीं हिचकिचाए हैं कि, "लोकतन्त्र ऐसी वस्तु के आडम्बरमय नाम के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिसका वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं है।" अत: लोकतन्त्र के अर्थ व परिभाषा पर सामान्य सहमति का प्रयास करना निरर्थक होगा। वर्तमान

नोट

में हर शासन व्यवस्था को लोकतान्त्रिक कहा जाता है। यहाँ तक कि एक बार हिटलर ने लोकतान्त्रिक शासन की बात कहते हुए अपने शासन को 'जर्मन लोकतन्त्र' कहना पसन्द किया था। आज प्रजातन्त्र के नाम को इतना पवित्र बना दिया गया है कि कोई भी अपने आपको अलोकतान्त्रिक कहने का दुस्साहस नहीं कर सकता। मोटे तौर पर लोकतन्त्र शासन का वह प्रकार होता है, जिसमें राज्य के शासन की शक्ति किसी विशेष वर्ग अथवा वर्गों में निहित न होकर सम्पूर्ण समाज के सदस्यों में निहित होती है।

डायसी ने लोकतन्त्र की परिभाषा करते हुए लिखा है कि, "लोकतन्त्र शासन का वह प्रकार है, जिसमें शासक समुदाय सम्पूर्ण राष्ट्र का अपेक्षाकृत एक बड़ा भाग हो।" **हर्नशा** ने कहा है, "लोकतन्त्र राज्य जनसाधारणत: वह है, जिसमें प्रभुत्व शक्ति समष्टि रूप में जनता के हाथ में रहती है, जिसमें जनता शासन सम्बन्धी मामले पर अपना अन्तिम नियंत्रण रखती है तथा यह निर्धारित करती है कि राज्य में किस प्रकार का शासन-सूत्र स्थापित किया जाए। राज्य के प्रकार के रूप में लोकतन्त्र शासन की ही एक विधि नहीं है, अपितु वह सरकार की नियुक्ति करने, उस पर नियंत्रण रखने तथा इसे अपदस्थ करने की विधि भी है।"

अगर **अब्राहम लिंकन** की परिभाषा को लें तो "लोकतन्त्र शासन वह शासन है जिसमें शासन जनता का, जनता के लिए और जनता द्वारा हो।"

इन परिभाषाओं को अस्वीकार करते हुए कुछ विचारक लोकतन्त्र को शासन तक ही सीमित न रखकर इसे व्यापक अर्थ में देखने की बात कहते हैं। **गिडिंग्स** का कहना है कि, "प्रजातन्त्र केवल सरकार का ही रूप नहीं है वरन् राज्य और समाज का रूप अथवा इन तीनों का मिश्रण भी है।" **मैक्सी** ने इसे और भी व्यापक अर्थ में लेते हुए लिखा है कि, "बीसवीं सदी में प्रजातंत्र से तात्पर्य एक राजनीतिक नियम, शासन की विधि व समाज के ढाँचे से ही नहीं है, वरन् यह जीवन के उस मार्ग की खोज है जिसमें मनुष्यों की स्वतन्त्र और ऐच्छिक बुद्धि के आधार पर उनमें अनुरूपता और एकीकरण लाया जा सके।" डॉ. **बेनीप्रसाद** ने तो लोकतन्त्र को जीवन का एक ढंग माना है।

उपर्युक्त अर्थ व परिभाषाओं से लोकतन्त्र एक विशद् एवं महत्त्वाकांक्षी विचार लगता है परन्तु उपरोक्त विवेचन से लोकतन्त्र का अर्थ स्पष्ट होने के स्थान पर कुछ भ्रांति बढ़ी है। उदाहरण के लिए, **अब्राहम लिंकन** की परिभाषा में जनता का, जनता के लिए और जनता द्वारा शासन अपने आपमें अत्यधिक व्यापक और अस्पष्ट है। अत: *इसके अर्थ को और अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है।*

लोकतन्त्र की अवधारणा या प्रत्यय (concept) के रूप में एक अर्थ नहीं है वरन इसके तीन अन्त:सम्बन्धित अर्थ किये जाते हैं। यह अर्थ हैं–

(क) यह निर्णय करने की विधि है, (ख) यह निर्णय लेने के सिद्धान्तों का समूह या सेट है, और (ग) यह आदर्शी (normative) मूल्यों का समूह है।

इनका तात्पर्य है कि लोकतान्त्रिक व्यवस्था में लोकतन्त्र को निर्देशित करने वाले मूल्यों व निर्णय लेने की *प्रक्रिया का मोटा उद्देश्य वर्तमान के आदर्शमय नैतिक मानदण्डों (norms) व राजनीतिक मूल्यों की ऐसी* विषय-परिधि बनाना है जिसके अन्तर्गत ही समस्त सार्वजनिक कार्यों का दिन-प्रतिदिन सम्पादन हो। हर राजनीतिक समाज में अंतिम गन्तव्यों (goals) का निर्धारण करना होता है। यह गन्तव्य क्या हों? इन गन्तव्यों का निर्धारण कौन और किस प्रकार करे? हर राजनीतिक समाज के सामने मौलिक प्रश्न यही होते हैं। इन्हीं गन्तव्यों के अन्तिम उद्देश्यों को समाज के आदर्शों का नाम दिया जाता है। हर समाज में इन आदर्शों की रक्षा व प्राप्ति के लिए संरचनात्मक व्यवस्थाएँ रहती हैं। यह लोकतन्त्रों में ही नहीं, तानाशाही व्यवस्था में भी रहती हैं। परन्तु इन संरचनात्मक व्यवस्थाओं से सम्बन्धित प्रक्रियाएँ लोकतन्त्र में और प्रकार की तथा तानाशाही व्यवस्था में और प्रकार की होती हैं। अगर सम्पूर्ण समाज के लिए किए जाने वाले निर्णयों को लेने के सिद्धान्त और विधियाँ ऐसी हों जिसमें सम्पूर्ण समाज सहभागी रहें तो वह राजनीतिक व्यवस्था लोकतांत्रिक कही जाती है, परन्तु अगर एक ही व्यक्ति या व्यक्ति-समूह सम्पूर्ण समाज के लिए निर्णय लेता है तो वह व्यवस्था तानाशाही मानी जाती है। अत: लोकतन्त्र का महत्त्वपूर्ण पक्ष निर्णय लेने का ढंग या तरीका है। इसका कुछ विस्तार से विवेचन करके लोकतन्त्र का अर्थ अधिक ग्राह्य बनाया जा सकता है।

नोट

(क) निर्णय करने के ढंग के रूप में लोकतन्त्र (Democracy as a way of making decisions)– यहाँ यह प्रश्न उठता है कि किस प्रकार और किसके द्वारा लिये गये निर्णयों को ही लोकतान्त्रिक विधि से लिये गये निर्णय माना जाए? इन्हीं प्रश्नों का उत्तर आज से करीब दो हजार वर्ष पूर्व **अरस्तू** ने भी दिया था जो बहुत कुछ आज भी वैध कहा जा सकता है। **अरस्तू** ने कहा था कि, "निर्णय लेने के लोकतान्त्रिक ढंग में पदाधिकारियों का चुनाव सबमें से सबके द्वारा तथा सबका हर एक पर और प्रत्येक का सब पर शासन होता है," अर्थात् लोकतान्त्रिक ढंग से किया गया निर्णय सम्पूर्ण समाज के द्वारा लिया गया निर्णय ही कहा जा सकता है। इससे तात्पर्य यह है कि लोकतन्त्र प्रकृति के राजनीतिक समाज में निर्णय लेने का एक विशेष ढंग और उसकी विशेष पूर्व शर्तें होती हैं। इनका विवेचन करके ही यह समझा जा सकता है कि लोकतन्त्र का निर्णय लेने के रूप में क्या अर्थ है? अर्थात् वही निर्णय लोकतान्त्रिक ढंग से लिए हुए कहे जाते हैं जिनमें–

(*i*) विचार-विनिमय व अनुनयनता, (*ii*) जन-सहभागिता,

(*iii*) बहुमतता, (*iv*) संवैधानिकता और

(*v*) अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा होती है।

लोकतान्त्रिक ढंग से लिए गए निर्णयों का आधार खुला विचार-विनिमय होता है। सम्पूर्ण राजनीतिक समाज के लिए किए जाने वाले निर्णयों में अनुनयन की बहुत बड़ी भूमिका रहती है। लोकतन्त्र में निर्णय चाहे किसी भी स्तर पर लिये जायें, उनमें जोर-जबरदस्ती के तत्व की बजाय विचार-विमर्श, वाद-विवाद और समझाने-बुझाने का अंश प्रधान रहता है। चुनाव भी एक तरह से विचार-विनिमय द्वारा निर्णय लेना ही है। अतः स्वतंत्र व उन्मुक्त प्रचार पर आधारित चुनाव लोकतान्त्रिक निर्णय प्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण आधार माने जाते हैं। इस प्रकार निर्णय लेने के ढंग के रूप में लोकतन्त्र का आशय विचार-विमर्श और सहमति से राजनीतिक समाज से सम्बन्धित सभी निर्णय लेना है।

विचार-विमर्श और सहमति की निर्णय प्रक्रिया में कुछ या अधिकांश लोगों का सम्मिलित होना किसी निर्णय के ढंग को लोकतान्त्रिक नहीं बनाता है। इसके लिए निर्णय प्रक्रिया में सारे जन-समाज की सहभागिता का होना अनिवार्य है, अर्थात् निर्णय लेने में राजनीतिक व्यवस्था के सभी नागरिकों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्मिलन आवश्यक है। अगर किसी निर्णय विधि से अधिकांश व्यक्तियों को वंचित रखा गया हो तो वह निर्णय प्रक्रिया लोकतान्त्रिक नहीं कही जा सकती। यहाँ यह ध्यान रखना है कि जनता के निर्णय प्रक्रिया में सम्मिलित होने के अवसर होने पर भी अगर बहुत बड़ा जन-भाग उससे उदासीन रहकर विलग रहे तो इसे निर्णयों की लोकतांत्रिकता पर आँच नहीं माना जाता है। यहाँ महत्त्वपूर्ण बात यह नहीं है कि समाज के कितने लोग निर्णय प्रक्रिया में सहभागी होते हैं वरन् यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि कितने लोगों को ऐसा करने के साधन व अवसर प्राप्त हैं। निर्णय प्रक्रिया में सम्पूर्ण समाज को सहभागी बनाने का दूसरा नाम ही लोकतन्त्र है। नियतकालिक चुनाव (periodic elections) तथा वयस्क मताधिकार, जन-सहभागिता के उपकरण हैं।

विचार-विमर्श तथा जन-सहभागिता के सबको समान अवसर निर्णय विधि को अवश्य की लोकतांत्रिक बनाते हैं परन्तु शायद ऐसा सम्भव नहीं कि समाज से सम्बन्धित हर निर्णय पर समस्त जनता की सहमति होती हो। इस सहमति के अभाव में निर्णय लेने की कौन-सी विधि अपनाई जाए कि निर्णय प्रक्रिया की लोकतान्त्रिक प्रकृति बनी रहे और शीघ्रता से निर्णय लिए जा सकें। वैसे तो समस्त जनता की सहमति से लिया गया निर्णय आदर्श कहा जा सकता है, पर व्यवहार में सबके सब निर्णयों पर सहमति असम्भव नहीं तो भी दुष्कर अवश्य लगती है। इसलिए सबकी सहमति के अभाव में निर्णय बहुमत के आधार पर किये जाते हैं। इस प्रकार बहुमत के आधार पर किए गए निर्णय लोकतांत्रिक ही माने जाते हैं, क्योंकि इन निर्णयों में अधिकांश लोगों की सहमति सम्मिलित रहती है। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि बहुमत के आधार पर निर्णय लेना, सबकी सहमति के बाद, निर्णय लेने की श्रेष्ठतम विधि कहा जाता है। अगर बहुमत के आधार पर निर्णय नहीं लिए जाएँ तो निर्णय की प्रक्रिया अलोकतान्त्रिक कहलाती है। साथ ही निर्णयों में बहुमत के आधार का परित्याग करना, लोकतान्त्रिक निर्णय प्रक्रिया का ही, परित्याग कहा जा सकता है। यही कारण है कि लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में चुनाव परिणामों से लेकर विधान मण्डलों व मंत्रि-परिषदों तक में निर्णय बहुमत के आधार पर किये जाते हैं। अभी तक मनुष्य निर्णय लेने का इससे श्रेष्ठतर

नोट

विकल्प नहीं खोज पाया है। अतः लोकतांत्रिक निर्णय प्रक्रिया की यह आवश्यक शर्त है कि हर स्तर पर निर्णय बहुमत के आधार पर लिए जाएँ। यहाँ यह भी ध्यान रखना है कि बहुमत के अर्थ पर गम्भीर विवाद हैं। हम इस विवाद में नहीं पड़कर इतना ही कहेंगे कि लोकतन्त्र में विभिन्न विकल्पों में से जिसका सापेक्ष बहुमत होता है वही विकल्प निर्णय मान लिया जाता है।

उपरोक्त तथ्य निर्णय के प्रक्रियात्मक पहलुओं से सम्बद्ध है, पर निर्णय प्रक्रियाओं को व्यावहारिकता प्रदान करने के लिए संरचनात्मक आधार भी होना चाहिए। इसलिए ही हर लोकतान्त्रिक समाज में निर्णय लेने की प्रक्रियाओं के संरचनात्मक आधार संविधान द्वारा निर्धारित किये जाते हैं। उदाहरण के लिए, यह कहा जा सकता है कि जन-सहभागिता को सम्भव बनाने के लिए सभी लोकतान्त्रिक संविधानों में नियतकालिक चुनावों की व्यवस्था की जाती है। लोकतान्त्रिक ढंग से लिया गया निर्णय संविधान द्वारा व्यवस्थित साधनों की परिधि में ही किया जाता है। हड़ताल, हिंसात्मक तोड़-फोड़ व धरनों के द्वारा शासकों को निर्णय विशेष लेने के लिए बाध्य करना वास्तव में असंवैधानिक साधनों के प्रयोग के कारण निर्णय का अलोकतान्त्रिक ढंग माना जाता है। निर्णय प्रक्रिया को लोकतान्त्रिक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि संविधान में निम्नलिखित व्यवस्थाएँ हों–(1) जनता के सामने प्रतियोगी पसंदों के अनेक विकल्प, (2) मताधिकार की पूर्ण समानता, (3) निर्वाचन व निर्वाचित होने की पूर्ण स्वतन्त्रता, और (4) प्रतिनिधित्व की अधिकतम समरूपता हो।

इस प्रकार किसी भी राजनीतिक व्यवस्था में निर्णय की विधि को लोकतान्त्रिक बनाने के लिए संवैधानिकता ही निर्णयों का एकमात्र आधार होती है।

जब किसी राजनीतिक समाज में बहुमत के आधार पर निर्णय लिये जाते हैं तो यह सम्भावना तो रहती ही है कि कुछ लोग इन निर्णयों से सहमत नहीं हों। ऐसी अवस्था में बहुमत के निर्णय ऐसे नहीं होने चाहिए कि उनसे अल्पसंख्यकों (Minorities) का अहित हो। अनेक समाजों में अनेक वर्ग, धर्म, जातियाँ तथा संस्कृतियाँ एक साथ विद्यमान रहती हैं। बहुमत के आधार पर कुछ धर्मों, जातियों या भाषाओं के लोगों के हितों के प्रतिकूल भी निर्णय लिए जा सकते हैं। बहुमत के द्वारा लिए गए निर्णयों से अल्पसंख्यकों के अधिकारों व स्वतन्त्रताओं का हनन भी किया जा सकता है। ऐसे बहुमत के निर्णय लोकतन्त्र की भावना के प्रतिकूल माने जाते हैं। अतः निर्णय प्रक्रिया की लोकतान्त्रिकता के लिए आवश्यक है कि बहुमत के बलबूते पर ऐसे निर्णय नहीं लिए जाएँ जिनमें कुछ लोगों के उचित हितों की अवहेलना हो। यह तभी सम्भव होता है जब बहुमत द्वारा लिए गए निर्णयों में अल्पसंख्यकों के हितों की भी सुरक्षा की व्यवस्था निहित हो।

लोकतान्त्रिक निर्णय प्रक्रिया के लिए यह आवश्यक है कि एक सीमा तक विचार-विमर्श, बहस व वाद-विवाद की छूट रहे और अन्त में बहुमत के आधार पर निर्णय ले लिए जाएँ तथा बहुमत द्वारा लिए गए ऐसे निर्णय सब स्वीकार कर लें। अल्पसंख्यकों को भी बहुमत के ऐसे निर्णय स्वीकार होंगे, क्योंकि इनसे उनके हितों को नुकसान पहुँचने की सम्भावना नहीं होती। परन्तु बहुमत के आधार पर किए गए निर्णय कुछ लोगों का अहित करने वाले होने पर लोकतान्त्रिक निर्णय प्रक्रिया के प्रतिकूल माने जाने लगते हैं। इससे समाज में सहमति तथा आधारभूत ऐक्य समाप्त हो जाता है और समाज के टूटने का मार्ग खुल जाता है। इससे लोकतन्त्र का आधार लुप्त हो जाता है। अतः गहराई से देखने पर लोकतान्त्रिक राजनीतिक प्रक्रिया वस्तुतः विचार-विमर्श, वाद-विवाद, सामंजस्य और लेन-देन (give and take) की ही प्रक्रिया है। जिस राजनीतिक समाज में निर्णय लेने का ढंग उपरोक्त तथ्यों के अनुरूप रहता है तो वह राजनीतिक व्यवस्था लोकतान्त्रिक तथा उस समाज के लोगों द्वारा लिए गए निर्णय लोकतान्त्रिक ढंग से लिए गए निर्णय कहे जाएंगे। इन तथ्यों में से किसी एक की अवहेलना या अभाव सम्पूर्ण व्यवस्था की प्रकृति में ही मौलिक परिवर्तन ला देता है। अतः लोकतान्त्रिक व्यवस्था के लिए यह अनिवार्य है कि निर्णय, आपसी विचार-विमर्श, जन-सहभागिता और बहुमत के आधार पर लिए जाएँ अगर ऐसे निर्णय संवैधानिकता-युक्त व अल्पसंख्यकों के हितों के पोषक हों तो वह लोकतन्त्र के सुदृढ़ आधार स्तम्भ हो जाते हैं। इस तरह, निर्णय लेने के ढंग के रूप में लोकतन्त्र ऐसी व्यवस्था है जिसमें समाज के लिए व्यवहार के मानदंड स्थापित होते हैं और व्यक्ति की राजनीतिक गतिविधियों का सुनिश्चित प्रतिमान प्रकट होता है।

नोट

(ख) निर्णय लेने के सिद्धान्तों के रूप में लोकतन्त्र (Democracy as a set of principles by which decisions are made)–समाज में जो भी राजनीतिक निर्णय लिए जाएँ उनका कुछ सिद्धान्तों पर आधारित होना आवश्यक है अन्यथा निर्णयों में न तो समरूपता (consistency) रहेगी और न ही निर्णय दिशात्मक एकतायुक्त बन पाएंगे। इसीलिए हर राजनीतिक समाज में कुछ निश्चित सिद्धान्तों की परिधि होती है जिसके दायरे में लिए गए निर्णय ही दिशात्मक एकता का लक्षण परिलक्षित कर सकते हैं। यह निश्चित सिद्धान्त लोकतन्त्रों व निरंकुशतन्त्रों में अनिवार्यत: पाये जाते हैं। दोनों प्रकार की प्रणालियों में इन सिद्धान्तों की मौलिक असमानताएँ इन दोनों को भिन्न-भिन्न ही नहीं बनाती हैं, अपितु इन्हें एक-दूसरे के प्रतिकूल प्रणालियाँ बना देती हैं। लोकतान्त्रिक प्रणाली उस राजनीतिक व्यवस्था में विद्यमान रह सकती है जहाँ समाज के सम्बन्ध में निर्णय लेने के आधार स्वरूप कुछ सिद्धान्त व्यवहार में प्रयुक्त होते हैं। इन सिद्धान्तों पर आधारित निर्णय ही लोकतान्त्रिक ढंग से लिए गए निर्णय कहला सकते हैं। वास्तव में निर्णय लेने के ढंग के रूप में लोकतन्त्र तभी यथार्थता-युक्त बनता है जब यह सिद्धान्त निर्णय लेने के ढंग के मार्गदर्शक बने रहें। संक्षेप में, यह सिद्धांत इस प्रकार व्यक्त किये जा सकते हैं–

(1) प्रतिनिधि सरकार का सिद्धान्त।

(2) उत्तरदायी सरकार का सिद्धान्त।

(3) संवैधानिक सरकार का सिद्धान्त।

(4) प्रतियोगी राजनीति का सिद्धान्त।

(5) लोकप्रिय सम्प्रभुता का सिद्धान्त।

किसी भी शासन व्यवस्था को लोकतान्त्रिक तभी कहा जाता है जब राजनीतिक व्यवस्था में निर्णय लेने का कार्य जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा ही सम्पादित हो, अर्थात् लोकतान्त्रिक व्यवस्था में सरकार का गठन प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त पर आधारित होना चाहिए। आधुनिक लोकतन्त्रों में नीति-निर्माताओं अथवा शासन प्रतिनिधियों को एक निश्चित अवधि के लिए जनता द्वारा चुना जाता है। इस निश्चित अवधि की समाप्ति पर शासन प्रतिनिधियों को फिर जनता के सामने पेश होना पड़ता है तथा जनता उसके द्वारा किये गये कार्यों का लेखा-जोखा लेकर उन्हें पुन: निर्वाचित कर सकती है या उनके स्थान पर नेताओं का दूसरा सैट ला सकती है। अत: नियतकालिक चुनाव शासनकर्ताओं को सही अर्थों में जनप्रतिनिधि बनाए रखने की व्यवस्था करना ही है। लोकतान्त्रिक व्यवस्था में अंतिम सत्ता जनता में निवास करती है। जनता की यह सत्ता निर्वाचन के माध्यम से प्रतिनिधियों को प्रदान कर दी जाती है। अत: प्रतिनिधि सरकार का होना लोकतन्त्र की व्यवस्था करता है, क्योंकि राजनीतिक समाज में निर्णयकर्ता केवल जनप्रतिनिधि ही होते हैं।

शासन का प्रतिनिधि स्वरूप ही किसी राजनीतिक व्यवस्था को लोकतान्त्रिक कहने के लिए पर्याप्त नहीं है। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि शासन-शक्ति के धारक अपने हर निर्णय व कार्य के लिए जनता के प्रति प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी रहें। लोकतन्त्र में शासकों को सत्ता जनता की धरोहर के रूप में प्राप्त रहती है तथा इस सत्ता का उन्हें जनता के हित में, जनता की उन्नति व प्रगति के लिए ही प्रयोग करना होता है। अगर शासक ऐसा नहीं करते हैं तो वह न जनता के सही प्रतिनिधि रह पाते हैं और न ही उत्तरदायी कहे जा सकते हैं। केवल वही राजनीतिक समाज लोकतान्त्रिक माने जाते हैं, जहाँ शासक निरन्तर उत्तरदायित्व निभाते हैं। अगर शासक उत्तरदायित्व न निभाएँ तो उनको हटाने की व्यवस्था रहती है। नियतकालिक चुनाव शासकों को प्रभावशाली ढंग से नियन्त्रित रखने का अवसर प्रदान करते हैं। यही कारण है कि स्वतंत्र व नियतकालिक चुनाव व्यवस्था को लोकतन्त्र की जीवनरक्षक 'डोर' का नाम दिया जाता है। चुनाव दोहरे ढंग से किसी व्यवस्था को लोकतान्त्रिक बनाने की भूमिका अदा करते हैं। प्रथम, तो इससे लोकप्रिय नियन्त्रण की व्यवस्था होती है तथा दूसरे इससे जनता के प्रतिनिधि ही शासकों के रूप में रहते हैं।

सरकार किसी देश के प्रशासित होने की व्यवस्था का नाम है। ऐसी सरकार के गठन व कार्य करने की विधियों का निर्धारण मनमाने ढंग से होने पर शासन व्यवस्था लोकतान्त्रिक नहीं रहती है। सरकार को लोकतान्त्रिक आधार प्रदान करने के लिए यह आवश्यक है कि इसकी संरचनात्मक व्यवस्था व कार्यप्रणाली संविधान द्वारा निरूपित

की जाए। संविधान नियमों का ऐसा संग्रह है जो उन उद्देश्यों की प्राप्ति कराता है जिनके लिए शासन शक्ति प्रवर्तित की जाती है और जो शासन के उन विविध अंगों की सृष्टि करता है जिनके माध्यम से सरकार अपनी शक्ति का उत्तरदायी ढंग से प्रयोग करती है। अत: संविधान जनता के आदर्शों को व्यावहारिक बनाने के माध्यम के रूप में सरकार का संगठक कहा जा सकता है। लोकतान्त्रिक व्यवस्था के लिए यह ही पर्याप्त नहीं है कि उसका एक संविधान हो, क्योंकि हर राज्य में किसी न किसी प्रकार का संविधान तो अनिवार्यत: होता है। पर ऐसे राज्य में संवैधानिक सरकार भी हो यह जरूरी नहीं है, क्योंकि संवैधानिक सरकार ही वह सरकार होती है जो संविधान की व्यवस्थाओं के अनुसार संगठित, सीमित और नियंत्रित होती है तथा व्यक्ति विशेष की इच्छाओं के स्थान पर केवल विधि के अनुरूप ही संचालित होती है। **हिटलर** व **स्तालिन** के समय में जर्मनी व रूस में संविधान तो थे पर संवैधानिक सरकारें भी थीं ऐसा नहीं कहा जा सकता है। इनमें राजनीतिक आचरण का आधार संविधान नहीं होकर व्यक्ति या दल की महत्त्वाकांक्षाएँ ही कही जा सकती हैं। अत: राज्य में केवल संविधान का होना मात्र सरकार को लोकतान्त्रिक नहीं बनाता है। केवल वह सरकार ही लोकतान्त्रिक कही जाती है जो संविधान पर आधारित हो, संविधान द्वारा सीमित और नियन्त्रित हो व स्वेच्छापूर्वकता के स्थान पर केवल विधि के अनुरूप ही संचालित हो। अत: लोकतान्त्रिक शासन के लिए संवैधानिक सरकार का होना आवश्यक है।

लोकतन्त्र में हर व्यक्ति को राजनीतिक स्वतन्त्रता रहती है। वह अपने हितों की रक्षा के लिए किसी भी दल का सदस्य बन सकता है तथा किसी भी व्यक्ति को अपने प्रतिनिधि के रूप में निर्वाचित करने के लिए मत दे सकता है। राजनीतिक स्वतन्त्रता की व्यावहारिकता ही प्रतियोगी राजनीति कही जाती है। राजनीतिक व्यवस्था में प्रतियोगी राजनीति के लिए यह आवश्यक है कि अनेक संगठन, दल व समूह, प्रतियोगी रूप में उस व्यवस्था में सक्रिय रहें। राजनीतिक स्वतन्त्रता की अवस्था में ही राजनीतिक दल बनकर जनता के सामने भिन्न-भिन्न प्रकार के दृष्टिकोण एवं नीति सम्बन्धी विकल्प प्रस्तुत कर सकते हैं। इनके द्वारा चुनावों में जनता के सामने अनेक विकल्पों की व्यवस्था होती है तथा जनता इनमें से किसी एक को पसन्द करके अपने मन की अभिव्यक्ति करती है। अगर किसी समाज में केवल एक ही विकल्प हो और इस विकल्प के कारण जनता को इसी का समर्थन करना पड़ता हो तो ऐसी राजनीति को प्रतियोगी राजनीति नहीं कहा जा सकता और इसके अभाव में लोकतन्त्र नहीं हो सकता है। अत: लोकतन्त्र की 'जीवन-रेखा' ही प्रतियोगी राजनीति है। राजनीतिक समाज में प्रतियोगी राजनीति की व्यवस्था करने के लिए अनिवार्यताएँ होती हैं--(1) राजनीतिक गतिविधियों की पूर्ण स्वतन्त्रता, (2) दो या दो से अधिक प्रतियोगी दलों या समूहों के रूप में वैकल्पिक पसन्दों की विद्यमानता, (3) मताधिकार की पूर्ण समानता अर्थात सर्वव्यापी वयस्क मताधिकार की व्यवस्था, (4) प्रतिनिधित्व की अधिकतम एकरूपता, और (5) नियतकालिक चुनाव।

उपरोक्त व्यवस्थाओं के अभाव में किसी भी देश की राजनीति प्रतियोगिक नहीं बन सकती है। साम्यवादी राज्यों या अन्य एकदलीय व्यवस्थाओं वाले राज्यों में प्रतिनिधि सरकार, उत्तरदायी सरकार तथा संवैधानिक सरकार की संरचनात्मक व्यवस्थाएँ रहती हैं, परन्तु प्रतियोगी राजनीति का अभाव इनको लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं की श्रेणी में नहीं आने देता है। जैसे साम्यवादी राज्यों में नियतकालिक चुनाव होते हैं तथा मतदान प्रतिशत भी करीब-करीब शत-प्रतिशत रहता है। परन्तु मतदाता के सामने चुनाव उम्मीदवार के रूप में एक ही व्यक्ति के होने के कारण कोई विकल्प नहीं रहता है। इससे इसी प्रत्याशी का, जो एकमात्र उम्मीदवार के रूप में खड़ा है, समर्थन करना उसकी पसन्द का सही प्रकाशन नहीं है। इसके लिए कई प्रत्याशियों का होना आवश्यक है। इससे स्पष्ट है कि लोकतन्त्र की 'संजीवनी' प्रतियोगी राजनीति ही होती है।

लोकतन्त्र की परिभाषा में यह स्पष्ट किया गया है कि इस व्यवस्था में शक्ति का स्रोत जनता होती है। जब हम यह कहते हैं कि जनता अपने मत सम्बन्धी अधिकार के प्रयोग द्वारा संविधान को अपनी इच्छा के अनुकूल बना सकती है अथवा वह उसके द्वारा अपने प्रतिनिधियों पर नियन्त्रण रख सकती है तो इसका तात्पर्य यही होता है कि संप्रभुत्वशक्ति जनता के हाथों में रहती है। इसका यह अर्थ है कि राज्य में जनता सर्वोपरि एवं संप्रभु होती है। क्योंकि उसकी ही इच्छा के अनुसार राज्य-शक्ति का प्रयोग होता है। मताधिकार के कारण शासन-सम्बन्धी अन्तिम शक्ति जनता में निहित रहती है। अत: हम जनता को संप्रभु कहते हैं और उसमें निहित शक्ति को जनता की सम्प्रभुता कहा

नोट

जाता है। लोकतान्त्रिक समाज की पहचान ही जनता की सम्प्रभुता है। इसके माध्यम से ही जनता सरकार को प्रतिनिधि, उत्तरदायी व संवैधानिक रख पाती है। आने वाले चुनाव का भय शासकों को उत्तरदायी रखने की प्रभावशाली व्यवस्था माना गया है। अत: लोकतान्त्रिक व्यवस्था में जनता की सम्प्रभुता का सिद्धान्त अत्यधिक महत्त्व का है।

अब तक हमने लोकतन्त्र को निर्णय लेने के ढंग तथा निर्णय लेने के सिद्धान्तों के रूप में विवेचित किया है। परन्तु इससे यह प्रश्न उठता है कि निर्णय लेने की एक लोकतान्त्रिक प्रक्रिया और उसके आधारभूत सिद्धान्तों का अनुसरण क्यों किया जाए? आखिर ऐसी क्या बात है जिसके कारण राजनीतिक समाज एक विशेष निर्णय-प्रक्रिया व सैद्धान्तिक व्यवस्था के अनुपालन के लिए मर मिटने तक को तैयार हो जाता है। ऐसी क्या बात है कि भारत के नागरिक, चीन के नागरिकों के द्वारा अपनाए गए राजनीतिक साधनों व विचारधारा से अपने को बेमेल मानते हैं? क्यों चीन में प्रचलित निर्णय प्रक्रियाओं तथा सिद्धान्तों को भारत में पसन्द नहीं किया जाता है? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि चीन के समाज के आदर्श, भारत के समाज के आदर्शों से भिन्न है तथा चीन के आदर्शों व मूल्यों के मुकाबले में भारत का समाज अपने मूल्यों व व्यवहार के मानदण्डों को श्रेष्ठतर मानता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि किसी राजनीतिक समाज में निर्णय-प्रक्रियाओं व निर्णयों के आधारभूत सिद्धान्तों का निरूपण समाज की मूल्य व्यवस्था से होता है। लोकतान्त्रिक समाज में मूल्य ही महत्त्वपूर्ण कहे जाते हैं, क्योंकि इन मूल्यों के द्वारा निर्णय सिद्धान्तों व निर्णय के ढंगों का नियमन होता है। वास्तव में लोकतन्त्र व तानाशाही प्रणाली में यह मूल्य व्यवस्था का अन्तर ही आधारभूत होता है। अत: लोकतन्त्र को आदर्शी मूल्यों के सेट या समूह के रूप में परिभाषित करना भी आवश्यक है।

(ग) आदर्श मूल्यों के रूप में लोकतन्त्र (Democracy as a set of normative values)– लोकतान्त्रिक शासन प्रणाली की आधारभूत कसौटी इसकी मूल्य व्यवस्था में निहित है। इन्हीं मूल्यों के आधार पर किसी व्यवस्था को लोकतान्त्रिक या अलोकतान्त्रिक कहा जा सकता है। कोरी तथा अब्राहम ने लोकतान्त्रिक समाज के निम्नलिखित मूल्यों को आधारभूत बताया है–(1) व्यक्तिगत व्यक्तित्व का सम्मान (Respect for individual personality), (2) व्यक्तिगत स्वतंत्रता (Individual freedom), (3) विवेक में विश्वास (Belief in rationality), (4) समानता (Equality), (5) न्याय (Justice) और (6) विधि का शासन या संविधानवाद (Rule of law constitutionalism)।

(i) मानव समाजों में कुछ आदर्शों व मूल्यों की व्यवस्था से उनसे भी उच्चतर आदर्श उपलब्ध हो जाते हैं। हर समाज में कुछ ऐसे मूल्य होते हैं जिनकी व्यवस्था ही इसलिए की जाती है कि जिससे समाज उनसे भी श्रेष्ठतर मूल्यों को प्राप्त करने के मार्ग पर आगे बढ़ सकें। उदाहरण के लिए, व्यक्ति का स्वतंत्रता व सामाजिक समानता में विश्वास ही इसलिए होता है कि इनके सहारे उसके व्यक्तित्व के विकास का सर्वश्रेष्ठ वातावरण प्रस्तुत होता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए यह अनिवार्य है कि व्यक्तिगत व्यक्तित्व का सम्मान किया जाए जिससे हर व्यक्ति अपने ढंग से, बेरोकटोक अपनी पूर्णता के मार्ग पर आगे बढ़ सके। लोकतान्त्रिक समाज का यह आदर्श या मूल्य सर्वाधिक महत्त्व का माना जाता है। हर व्यक्ति के लिए स्व-अभिव्यक्ति का अवसर व साधन महत्त्व रखते हैं। मनुष्य के विकास में व्यक्तित्व के भौतिक व बाहरी पहलुओं से कहीं अधिक महत्त्व उसके आंतरिक पहलुओं का है। मनुष्य चाहता है कि वह परिपूर्ण बने। इसके लिए यह आवश्यक है कि उसके व्यक्तिगत व्यक्तित्व का मान-सम्मान हो। इसके अभाव में व्यक्ति के पास सब कुछ होते हुए भी उसे रिक्तता या कुछ कमी महसूस होती है। अत: लोकतन्त्र के दृष्टिकोण में, सर्वोच्च मूल्य व राजनीतियों का अन्तिम ध्येय, व्यक्ति की मुक्ति व व्यक्तित्व का सम्मान करना है। यहाँ यह ध्यान रखना होगा कि व्यक्तित्व के सम्मान का मूल्य राजनीति में अन्य मूल्यों की विद्यमानता को अस्वीकार नहीं करता है। व्यक्तियों व समूहों के और भी श्रेष्ठतर आदर्श हो सकते हैं। यह मूल्य वास्तव में उनका विरोध नहीं है। यह तो वास्तव में अन्य आदर्शों व मूल्यों की प्राप्ति के लिए व्यक्ति को अनिवार्यत: उन्मुक्त बना देता है। अत: लोकतन्त्र व्यवस्था का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मूल्य, जिससे अन्य मूल्यों की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है, व्यक्तिगत व्यक्तित्व का सम्मान है। वास्तव में लोकतान्त्रिक व्यवस्था का यह ऐसा आधार स्तम्भ है जिसके सहारे अन्य मूल्य भी प्राप्त किये जा सकते हैं।

(ii) लोकतान्त्रिक समाज का दूसरा महत्त्वपूर्ण मूल्य स्वतंत्रता का है। लोकतन्त्र के विचार के इतिहास में इस शब्द का कई अर्थों में प्रयोग हुआ है। एक राजनीतिक आदर्श के रूप में स्वतंत्रता के नकारात्मक और सकारात्मक दो पहलू माने जाते हैं। इसके नकारात्मक पहलू में स्वतंत्रता का अर्थ बन्धनों का अभाव है तथा सकारात्मक रूप में इसका अर्थ जीवन की उन परिस्थितियों व स्थितियों के होने से लिया जाता है जिसमें व्यक्ति अपने सही स्वरूप को प्राप्त कर सकता है। इसके अर्थ के नकारात्मक व सकारात्मक पहलू आपस में बेमेल पड़ते हैं। इसलिए स्वतन्त्रता का यह अर्थ सभी प्रकार के प्रतिबन्धों का अभाव, अराजकता व अव्यवस्था का मार्ग तैयार करता है जो इसके दूसरे अर्थ को अव्यावहारिक बना देता है। अत: लोकतान्त्रिक मूल्य में स्वतन्त्रता का सही अर्थ समझना आवश्यक है।

सीले के अनुसार, 'स्वतन्त्रता अति शासन का विलोम है'। **लास्की** की मान्यता है कि स्वतन्त्रता वह स्थिति है जिसमें व्यक्ति बिना किसी बाहरी बाधा के अपने जीवन के विकास के तरीके को चुन सकता है। अत: स्वतंत्रता सब प्रकार के प्रतिबन्धों का अभाव नहीं, अपितु अनुचित के स्थान पर उचित प्रतिबन्धों की व्यवस्था है, अर्थात स्वतंत्रता का तात्पर्य नियंत्रणों के अभाव, उच्छृंखलता से न होकर उस नियंत्रित स्वतंत्रता से है जो उचित प्रतिबन्धों द्वारा मर्यादित हो। लोकतन्त्र में स्वतन्त्रता का यही अर्थ लिया जाता है। इसी अर्थ में यह लोकतान्त्रिक समाजों में सर्वप्रिय मूल्य के रूप में अपनाया जाता है। अत: स्वतंत्रता का लोकतान्त्रिक मूल्य के रूप में तात्पर्य वैयक्तिक व्यवहार की नियमितता और मर्यादा से है। इसका सम्बन्ध आवश्यक रूप से समाज की इकाई के रूप में व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास से होता है जिससे व्यक्तिगत व्यक्तित्व का सम्मान हो सके।

(iii) **कोरी** तथा **अब्राहम** का कहना है कि, 'लोकतान्त्रिक आदर्श में यह धारणा सन्निहित है कि मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है जो कार्य करने के सिद्धान्तों का निर्णय करने और अपनी निजी इच्छाओं को उन सिद्धान्तों के अधीनस्थ बनाए रखने में समर्थ है।' वास्तव में यह धारणा अपने आपमें बड़ी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यदि व्यक्ति विवेक की पुकार नहीं सुनेंगे तो लोकतन्त्र एक स्थायी शासन प्रणाली कभी नहीं बन सकेगी। व्यक्तियों के परस्पर विरोधी दावों, उद्देश्यों और हितों में विवाद और वार्ता द्वारा तब तक कभी सामंजस्य स्थापित नहीं हो सकता जब तक कि ऐसे सामान्य स्वीकृत नियमों का अस्तित्व न हो, जिनके आधार पर वार्ता या विवाद में किस पक्ष की जीत मानी जाएगी इसका निर्णय न किया जा सके। इन नियमों में सबसे साधारण और स्पष्ट नियम तो यही है कि बहुमत का निर्णय और विचार ही मान्य होना चाहिए। यहाँ यह ध्यान रखना होगा कि बहुमत का कोरा सिद्धान्त भी उसी प्रकार अविवेकपूर्ण है जिस प्रकार कि 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली धारणा। मनुष्य केवल विवेकी यन्त्र (logical machine) ही नहीं है। वह भावनाओं का पुतला भी है। अत: लोकतान्त्रिक आदर्श को यह मानकर चलना होगा कि प्रयत्नों से मनुष्य को भावनाओं के स्तर से विवेक के स्तर पर लाया जा सकता है जिससे वह अपने मतभेदों को बातचीत करके या कुछ सिद्धान्तों का सहारा लेकर तय कर सके। इस प्रकार लोकतान्त्रिक आदर्श में मनुष्य की विवेकशीलता की धारणा सन्निहित होनी चाहिए। अगर मनुष्य की विवेकशीलता की बात छोड़ दी जाए तो लोकतान्त्रिक समाज के स्थान पर अराजक समाज ही स्थापित होगा।

(iv) लोकतान्त्रिक आदर्श के रूप में हम स्वतन्त्रता का ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। ऐसा कहा जाता है कि स्वतन्त्रता समानता से अविच्छिन्न रूप से सम्बन्धित है। इसलिए ही शायद **आशीर्वादम** ने यह कहा है कि, "फ्रांस के क्रांतिकारियों ने जब युद्ध घोषणा करते हुए स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व का नारा लगाया था तब वे न तो पागल थे और न मूर्ख।" इसका संकेत इस बात की ओर है कि स्वतंत्रता के मूल्य की क्रियान्विति के लिए समानता के मूल्य का अस्तित्व आवश्यक है। समानता प्रजातन्त्र की स्थापना का एक प्रधान तत्व है। इसका सामान्य अर्थ उन विषमताओं के अभाव से लिया जाता है जिसके कारण असमानता पनपती है। समाज में दो प्रकार की असमानता पाई जाती है। पहली प्रकार की असमानता वह है जिसका मूल व्यक्तियों की प्राकृतिक असमानता है, परन्तु इस प्रकार की असमानता का कोई निराकरण सम्भव नहीं हो सकता। इसलिए इस समानता से किसी को शिकायत नहीं रहती है। दूसरे प्रकार की असमानता वह है जिसका मूल समाज द्वारा उत्पन्न की हुई विषमता होती है। हम देखते हैं कि बुद्धि, बल और प्रतिभा की दृष्टि से अच्छे होने पर भी निर्धन व्यक्तियों के बच्चे अपने व्यक्तित्व का वैसा विकास नहीं कर पाते, जैसा विकास बुद्धि, बल और प्रतिभा की दृष्टि से निम्नतर स्तर के होते हुए भी, धनिकों के बच्चे

नोट

कर लेते हैं। इस प्रकार की असमानता का कारण समाज द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों का वह वैषम्य होता है जिसके कारण सब लोगों को व्यक्तित्व विकास का समान अवसर प्राप्त नहीं हो पाता है। अत: राजनीतिक समाज में समानता का तात्पर्य ऐसी परिस्थितियों के अस्तित्व से होता है, जिसके कारण सब व्यक्तियों को व्यक्तित्व विकास के समान अवसर प्राप्त हो सकें।

लोकतान्त्रिक दृष्टि से समानता का राजनीतिक पहलू महत्त्वपूर्ण है। समानता के राजनीतिक रूप का अर्थ यह है कि राजनीतिक व्यवस्था में सभी वयस्क नागरिकों को समान नागरिक और राजनीतिक अधिकार उपलब्ध हों। राजनीतिक समानता का यह आशय नहीं है कि राज्य में प्रत्येक व्यक्ति समान शक्ति का प्रयोग करता हो। इसका अभिप्राय केवल यह है कि प्रत्येक व्यक्ति समान राजनीतिक अधिकारों का प्रयोग कर सके। समानता का यह पक्ष किसी समाज के नागरिकों को शासन-प्रक्रिया में सम्मिलित करने की व्यवस्था माना जाता है। इससे सभी व्यक्तियों को समान रूप से शासन में भाग लेने का अवसर मिल जाता है। इसमें वोट देना, निर्वाचित पद के लिए उम्मीदवार होना व सरकारी पद प्राप्त करना प्रमुख है। इन सबमें सबको अवसरों की समानता ही राजनीतिक समानता कही जाती है। यह लोकतन्त्र का आधार मानी जाती है।

समानता का दूसरा पक्ष नागरिक समानता है। उसका तात्पर्य सभी को नागरिकता के समान अवसर प्राप्त होने से होता है। नागरिक समानता की अवस्था में व्यक्ति के मूल अधिकार सुरक्षित होने चाहिए तथा सभी को कानून का संरक्षण समान रूप से प्राप्त होना चाहिए, क्योंकि कानून की दृष्टि से यदि धन, पद, वर्ग अथवा धर्म के आधार पर भेद होने लगे, तो उससे नागरिक असमानता उत्पन्न हो जाएगी। नागरिक समानता के आधार पर ही सामाजिक समानता लाना सम्भव होता है और यह राजनीतिक समानता को यथार्थता के तत्व से युक्त करती है। आधुनिक युग में समानता का एक और पक्ष महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा है। यह है आर्थिक समानता। इस समानता को समाजवादियों ने अपने आधारभूत सिद्धान्त के रूप में अपनाया है। इसका अर्थ यह है कि सब मनुष्यों के पास आवश्यकतानुसार पर्याप्त सम्पत्ति हो और कोई सम्पत्ति के स्वामित्व की दृष्टि से ऐसी स्थिति में नहीं हो कि दूसरे का शोषण कर सके। आर्थिक समानता का अर्थ यह नहीं है कि सभी के पास समान सम्पत्ति अथवा धन हो। इसका तो केवल इतना ही तात्पर्य है कि सम्पत्ति तथा धन का उचित वितरण हो जिससे उसके अभाव के कारण किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में बाधा न पड़े। आर्थिक समानता वास्तव में राजनीतिक समानता को अर्थपूर्ण व वास्तविक बनाती है। यही कारण है कि आधुनिक लोकतन्त्रों में राजनीतिक व आर्थिक समानता का मूल्य सर्वाधिक महत्त्व का माना जाने लगा है। इसके बिना न व्यक्ति के व्यक्तिगत व्यक्तित्व का सम्मान हो सकता है और न ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता की सच्चे अर्थों में व्यवस्था हो सकती है।

(v) लोकतान्त्रिक व्यवस्था न्याय पर आधारित होनी चाहिए। न्याय की प्राप्ति लोकतन्त्र का आधार है। अनेक राजनीतिक दार्शनिक तो यह मानते हैं कि लोकतान्त्रिक प्रणाली ही न्याय की प्राप्ति का एकमात्र साधन है। वैसे न्याय लोकतन्त्र का ऐसा मूल्य है जो अपने आपमें व्यापकतम प्रकृति रखता है। इस कारण इसे बहुत कुछ अस्पष्ट-सा ही माना जाता है। फिर भी, इतना तो कहा ही जा सकता है कि लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था में अन्याय के लिए बहुत कम स्थान रहता है। लोकतन्त्र में राजनीतिक स्वतन्त्रताएँ, समानताएँ और सुरक्षाएँ हर नागरिक को प्राप्त रहती हैं। इस कारण, हर व्यक्ति अन्याय की अवस्था से अपने आपको मुक्त करने के कारगर साधन रखता है। अत: न्याय की व्यवस्था उस समाज में स्वत: ही हो जाती है जहाँ स्वतंत्रता, समानता और व्यक्तिगत व्यक्तित्व का सम्मान करने की संस्थागत व्यवस्थाएँ होती हैं। राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टियों से लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं में हर नागरिक को न्याय प्राप्त होना लोकतांत्रिक मूल्यों को सुदृढ़ करना माना जाता है।

(vi) संविधानवाद, विधि के शासन का आदर्श प्राप्त करने का साधन है। यह उन विचारों व सिद्धान्तों की ओर संकेत करता है, जो उस संविधान का विवरण व समर्थन करते हैं, जिनके माध्यम से राजनीतिक शक्ति पर प्रभावशाली नियन्त्रण स्थापित किया जा सके। यह संविधान पर आधारित विचारधारा है, जिसका मूल अर्थ यही है कि शासन संविधान में लिखित नियमों व विधियों के अनुसार ही संचालित हो तथा उस पर प्रभावशाली नियन्त्रण स्थापित रहे, जिससे वे मूल्य और राजनीतिक आदर्श सुरक्षित रहें जिनके लिए समाज राज्य के बंधन स्वीकार करता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि संविधान के नियमों के अनुसार शासन संचालन मात्र ही संविधानवाद है। ऐसा

तो किसी निरंकुश शासन में भी हो सकता है। एक तानाशाह अपनी इच्छा के अनुसार संविधान बनाकर, जनता की इच्छाओं और आकांक्षाओं की अवहेलना करता हुआ उन पर यह संविधान बलपूर्वक लागू कर सकता है। ऐसे संविधान में जनता के आदर्शों व मूल्यों का समावेश नहीं होता है, और इस कारण यह व्यवस्था संविधानवाद का विलोम ही होगी। अत: संविधानवाद, संविधान के नियमों के अनुरूप शासन संचालन से अधिक है। इसका अर्थ है, निरंकुश शासन के विपरीत नियमानुकूल शासन, जिसमें मनुष्य की आधारभूत मान्यताओं, आस्थाओं और मूल्यों की व्यवहार में उपलब्धि सम्भव हो। इस अर्थ में संविधानवाद लोकतन्त्र का एक ऐसा मूल्य है जो अन्य मूल्यों में वास्तविकता लाता है। यह व्यक्तियों के स्थान पर विधियों के शासन की स्थापना का नाम है। अत: लोकतान्त्रिक व्यवस्था में प्राणवायु का संचार विधि का शासन या संविधानवाद का मूल्य ही करता हुआ कहा जा सकता है।

उपरोक्त वर्णन में हमने लोकतन्त्र की अवधारणा के तीन अर्थों का स्पष्टीकरण किया है। इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकालना कठिन नहीं होगा कि लोकतंत्र वास्तव में जीवन का एक तरीका है। यह राजनीतिक समाज के मूल्यों का भी द्योतक है। यह उन सिद्धान्तों व निर्णय करने की प्रक्रियाओं का संकेतक भी है जिनसे यह मूल्य सुरक्षित और व्यावहारिक बनते हैं। इस वर्णन से यह भी स्पष्ट होता है कि निर्णय के ढंग के रूप में लोकतन्त्र, निर्णय लेने के सिद्धान्तों के रूप में लोकतन्त्र का पूरक है तथा यह दोनों आदर्श मूल्यों के रूप में लोकतन्त्र को यथार्थता प्रदान करते हैं। लोकतन्त्र के अर्थ के विस्तृत विवेचन के बाद यह समझना सरल हो जाता है कि लोकतन्त्र की विभिन्न विचारधाराएँ कौन-कौन-सी हैं तथा लोकतन्त्र के इन दृष्टिकोणों के बीच क्या मौलिक अन्तर है?

2.4 अधिनायकतन्त्र (Dictatorship)

आधुनिक युग को 'लोकतन्त्र का युग' कहा जाता है। परन्तु शायद सत्य बात यह है कि यह युग 'अधिनायकतन्त्र' का युग बनता जा रहा है। यद्यपि हमने लोकतन्त्र का मूल्यांकन करते समय यह निष्कर्ष निकाला है कि सुदूर भविष्य में लोकतन्त्र व्यवस्थाएँ ही लोकप्रिय होंगी, फिर भी आज दुनिया के अनेक राज्य लोकतन्त्र शासन प्रतिमान के प्रतिकूल तानाशाही व्यवस्था में जकड़े हुए दिखाई देते हैं। लेटिन अमेरिका, अफ्रीका व एशिया के अनेक राज्यों में आजकल निरंकुश व्यवस्थाओं का ही बोलबाला है। इन महाद्वीपों में जहाँ-तहाँ लोकतन्त्रीय व्यवस्थाएँ दिखाई पड़ती हैं पर उनमें भी निरंकुशता के बीज जमते जा रहे लगते हैं। लोकतन्त्र व्यवस्था के समान अधिनायकतन्त्र के भी कई अर्थ व रूप पाए जाते हैं। संक्षेप में इसके अर्थ, उद्देश्य व उपयोगिता का विवेचन किया जा रहा है।

अधिनायकतन्त्र का अर्थ व परिभाषा (The Meaning and Definition of Dictatorship)

अधिनायकतंत्र किसी-न-किसी रूप में हमेशा बना रहा है, परन्तु प्राचीन समय में इसका अर्थ आजकल के अर्थ से पूर्णतया भिन्न था। स्पष्टता के लिए हम अधिनायकतन्त्र के प्राचीन व अर्वाचीन अर्थों का पृथक्-पृथक् विवेचन कर रहे हैं।

(क) अधिनायकतन्त्र का प्राचीन अर्थ (The meaning of dictatorship in ancient times)– प्राचीन समय में अधिनायकतन्त्र व्यवस्था को दुर्भाव की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। ऐसी व्यवस्था या तो विशेष संकटों का सफलता से मुकाबला करने के लिए या लोक कल्याण के लक्ष्यों को शीघ्रता से प्राप्त करने के लिए अपनाई जाती थी। रोमन साम्राज्य में संकट के समय व कानून व्यवस्था बनाये रखने के लिए कभी-कभी विशेष अधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी। संकट का सामना करने के लिए इन अधिकारियों को विशिष्ट शक्तियाँ दी जाती थीं और इन्हें 'अधिनायक' (dictator) कहा जाता था। इन्हें अधिनायक के नाम से इसलिए पुकारा जाता था क्योंकि उन्हें आदेश देने की असीम शक्तियाँ प्राप्त रहती थीं। इस प्रकार, मूल रूप में अधिनायक शब्द का अर्थ आदेश देने वाला है। रोम में अधिनायक को संकट का सामना करने के लिए ही सर्वोच्च शक्तियाँ सौंपी जाती थीं। संकट समाप्त होने पर अधिनायक का पद भी समाप्त हो जाता था। अत: रोमन अधिनायकतन्त्र केवल एक अस्थाई प्रयोग हुआ करता था। अधिनायक का कानूनी विधि से चुनाव होता था तथा वह अत्याचारी नहीं बन जाए इसके लिए उस पर कानूनी रोक की व्यवस्थाएँ लागू रहती थीं। उसके लिए यह आवश्यक था कि वह अपनी शक्ति के प्रयोग को 'स्थायी अधिकार शक्ति' की जाँच के लिए प्रस्तुत करेगा।

नोट

अधिनायकतन्त्र का इस अर्थ में प्रयोग पिछली शताब्दी के मध्य तक प्रचलित माना जा सकता है। एमिलिया के शासक **फेरिनि** (Farini) ने 1859 में एवं सिसली के शासक **गेरिबाल्डी** (Garibaldi) ने 1860 में अपने को इसी प्रकार का अधिनायक घोषित किया था, परन्तु उनके अधिनायक बनने का उद्देश्य अपने देश में जनकल्याण करना था। **कार्लमार्क्स** ने भी 'सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतन्त्र' (dictatorship of the proletariat) का प्रतिपादन करते समय इसका यही अर्थ लिया था। इस प्रकार के अधिनायकतन्त्र के कुछ लक्षणों का उल्लेख इसे आजकल के नये-अधिनायकतन्त्र से भिन्न करने के लिए आवश्यक है। प्राचीन अधिनायकतन्त्र में निम्नलिखित लक्षण प्रमुख माने जा सकते हैं–

(1) अधिनायक विधियों द्वारा सीमित रहता था।

(2) लोक कल्याण का लक्ष्य सर्वोपरि रहता था।

(3) अधिनायक को वैधता (legitimacy) प्राप्त रहती थी।

(4) अधिनायक उत्तरदायी होता था।

(5) अधिनायक का पद अस्थायी भी हो सकता था।

(6) समस्त शक्तियाँ अधिनायक में निहित रहती थीं।

उपरोक्त लक्षणों के सम्बन्ध में यह बात ध्यान रखनी है कि अधिनायकतन्त्र व्यवस्थाएँ विधि द्वारा संचालित व्यवस्थाएँ होती थीं तथा शासन शक्ति का प्रयोग जन-कल्याण के लिए किया जाता था। ऐसी व्यवस्थाओं में अधिनायकों का उत्तरदायित्व व वैधता इस रूप में रहती थी कि जनमत उनके अनुकूल रहता था। सामान्यतया जनता का अधिकांश भाग उनके अधिकारों के प्रयोग में सहायक व समर्थक होता था। शासन सही अर्थों में जनता के लिए ही होता था।

(ख) अधिनायकतन्त्र का अर्वाचीन अर्थ (The meaning of dictatorship in modern times)– आधुनिक समय में 'अधिनायकतन्त्र' का अर्थ पूरी तरह बदल गया है। आजकल इससे स्वेच्छाचारी व अत्याचारी शासन का बोध होता है। इसमें राजसत्ता एक व्यक्ति में निहित होती है और शासन सत्ताधारी व्यक्ति की इच्छानुसार ही चलता है। ऐसे अधिनायक पर किसी प्रकार का अंकुश या प्रतिबन्ध नहीं होता है। आधुनिक अधिनायकों को राष्ट्रीय संकट के समय नहीं चुना जाता है वरन् वे तो प्रायः आकस्मिक राज्यक्रान्ति के फलस्वरूप शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। उनकी राजनीतिक अधिकार शक्ति का आधार, बल प्रयोग होता है। वे उसी समय तक शक्ति में बने रहते हैं, जब तक बल प्रयोग उन्हें अधिनायक बनाए रखने में सहायक रहता है। वे किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं होते। अधिनायकतन्त्र में राज्य की सम्पूर्ण शक्ति एक ही व्यक्ति में निहित होती है जो स्वयं को राज्य का मूर्त रूप समझता है।

आधुनिक अधिनायकतन्त्र के दो मत माने जाते हैं। साम्यवादी शासन व्यवस्थाओं के उदय ने एकदलीय व्यवस्थाओं की स्थापना की है। इससे एक दल, जो वस्तुतः एक विचारधारा से अनुप्राणित होता है, सत्ता का एकाधिकर रखता है तथा दल का सर्वोच्च नेता, दल के समर्थन के द्वारा एक तरह से अधिनायक की तरह शक्ति प्रयोग करता है। इस प्रकार के अधिनायकतन्त्र में शासक स्वेच्छाचारी व अत्याचारी नहीं होता है। जबकि वर्तमान में ऐसे शासक भी मिलते हैं जो सेवा के सहयोग से सत्ता में आते हैं और सत्ता में आने के बाद निरंकुश ढंग से शक्तियों का प्रयोग करते हैं। **एलेन बाल** ने आधुनिक अधिनायकतन्त्र के दो रूप माने हैं। उसने एक को सर्वाधिकारी शासन (totalitarian) तथा दूसरे को स्वेच्छाचारी शासन (autocratic) के नाम से सम्बोधित किया है। यहाँ इन दोनों के लक्षणों का विस्तार से विवेचन आवश्यक है–

(1) सर्वाधिकारी शासन मुख्य रूप से बीसवीं सदी में आधुनिक प्रौद्योगिकी तथा संचार में प्रगति होने के कारण अस्तित्व में आये हैं। अधिकांश सर्वाधिकारी शासन आधुनिकीकरण (modernization) तथा सुधार लाने के लिए कटिबद्ध क्रांतिकारी शासन है। **स्तालिन** का रूस, **हिटलर** का जर्मनी व **मुसोलिनी** के समय में इटली इस प्रकार के शासन के उदाहरण हैं। इन तीनों उदाहरणों में एक लक्षण समान था। इन सबमें एक व्यक्ति के नेतृत्व पर बल दिया गया था, पर 1945 से बाद की सर्वाधिकारी पद्धतियों में 'सामूहिक नेतृत्व' ही पाया जाता है। यह व्यवस्था

नोट

अब रूस व चीन के अलावा पूर्वी यूरोप के साम्यवादी राज्यों में पाई जाती है। सर्वाधिकारी शासन व्यवस्थाओं के लक्षणों का विवेचन **एलेन बाल** ने निम्न बिन्दुओं पर किया है–

(क) सिद्धान्ततः व्यक्तिगत तथा सामाजिक गतिविधि के सभी पहलुओं से सरकार राजनीतिक रूप से सम्बद्ध होती है।

(ख) एक ही दल राजनीतिक तथा कानूनी रूप से प्रभावी होता है। सारी राजनीतिक सक्रियता इसी के माध्यम से गुजरती है और प्रतियोगिता, नियुक्तियों तथा विरोध के लिए दल ही एकमात्र संस्थागत आधार प्रस्तुत करता है।

(ग) सैद्धान्तिक रूप से एक ही सुस्पष्ट विचारधारा होती है जो उस व्यवस्था के अन्तर्गत सम्पूर्ण राजनीतिक सक्रियता का विनियमन करती है। वह शासन तथा जोड़-तोड़ करने का उपकरण होती है।

(घ) न्यायपालिका और जन-सम्पर्क के माध्यमों पर सरकार का कठोर नियन्त्रण होता है और उदारवादी प्रजातन्त्रों में परिभाषित नागरिक स्वतन्त्रताएँ कठोरतापूर्वक काट-छाँट दी जाती हैं।

(ङ) यह शासन प्रजातन्त्रीय आधार उपलब्ध करने के उद्देश्य से और शासन के लिए व्यापक जन-समर्थन प्राप्त करने के लिए जन-सक्रियता पर जोर देते हैं। जनता के भाग लेने तथा जनता की स्वीकृति से शासन का वैधीकरण हो जाता है।

उपरोक्त लक्षणों से यह स्पष्ट है कि सर्वाधिकारी शासन व्यवस्थाओं में विचारधारा का सर्वाधिक महत्त्व होता है तथा विचारधारा के क्रियान्वयन के लिए एकाधिकारयुक्त एक राजनीतिक दल होता है। समस्त गतिविधियों का नियन्त्रण व निर्देशन यही दल करता है। अतः सर्वाधिकारी शासन व्यवस्थाओं में एक विचारधारा का राजनीतिक दल, प्रतियोगिता का अभाव तथा पूर्णतया नियन्त्रित जीवन मुख्य विशेषताएँ होती हैं।

(2) स्वेच्छाचारी शासन की सुस्पष्ट परिभाषा करना बहुत कठिन है, क्योंकि सामान्यतया ऐसे शासन अस्थायी होते हैं। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि उदारवादी सर्वाधिकारी शासन व्यवस्थाओं में वर्गीकृत न होने वाले शासन स्वतः ही स्वेच्छाचारी शासनों की श्रेणी में सम्मिलित नहीं किए जा सकते हैं। इसी तरह, स्वेच्छाचारी शासन पद्धतियों को 'तीसरी दुनिया' या 'विकासशील राज्यों' का पर्याय नहीं मान लेना चाहिए। वैसे इन शासन व्यवस्थाओं में बचे हुए अधिकांश राज्य–उदारवादी व सर्वाधिकारी राज्यों को छोड़कर, सम्मिलित किये जा सकते हैं, क्योंकि इनमें लक्षणों की भिन्नता प्रकारात्मक न होकर केवल मात्रात्मक ही होती है। स्वेच्छाचारी शासन व्यवस्थाओं के निम्नलिखित लक्षण उल्लेखनीय हैं। **एलेन बाल** ने इनके निम्नलिखित लक्षण गिनाए हैं–

(क) मुख्य राजनीतिक प्रतियोगिता (यानी राजनीतिक दल और चुनाव) पर महत्त्वपूर्ण पाबन्दियाँ।

(ख) साम्यवाद या फासीवाद जैसी प्रभावी राजनीतिक विचारधारा का अभाव।

(ग) 'राजनीतिक' शब्द से सम्बोधित की जाने वाली बातों का सीमित क्षेत्र होता है क्योंकि इन शासन व्यवस्थाओं में सरकार आधुनिक प्रशासकीय तथा औद्योगिक विधियों के अभाव में सभी बातों को राजनीतिक रंग नहीं दे पाती।

(घ) राजनीतिक अनुरूपता तथा आज्ञाकारिता प्राप्त करने के लिए राजनीतिक सत्ताधारी बहुधा जोर-जबरदस्ती तथा बल प्रयोग पर अधिक बल देता है।

(ङ) नागरिक स्वतन्त्रताओं की अनुमति बहुत कम दी जाती है और जन-सम्पर्क के माध्यमों तथा न्यायपालिका पर सरकार का सीधा नियन्त्रण होता है।

(च) शासक या तो परम्परागत दृष्टि से राजनीतिक श्रेष्ठजन हों या आधुनिक दृष्टिकोण वाले नये श्रेष्ठजन होते हैं। अक्सर सेना ही आकस्मिक राज-परिवर्तन या स्वतंत्रता के औपनिवेशिक युद्ध के फलस्वरूप सत्ता हथिया लेती है।

(छ) एक गुट या राजनीति पर एकाधिकारी नियन्त्रण रहता है।

लक्षणों की उपरोक्त सूची पूर्ण नहीं कही जा सकती है। इस श्रेणी में सम्मिलित शासनों में इतनी विविधतायें हैं कि सभी लक्षणों को सूचीबद्ध करना अत्यधिक कठिन है। इस श्रेणी में परम्परागत शासन वर्गों वाले राज्य, जैसे–

नोट

सउदी अरब, इथोपिया और नेपाल तथा सैनिक सरकारों वाले आधुनिकीकृत राज्य जैसे नाइजीरिया और असैनिक सरकारों वाले आधुनिकीकृत राज्य जैसे अलजीरिया या मिस्र–शामिल कर सकते हैं।

सर्वाधिकारी व स्वेच्छाचारी शासन व्यवस्थाओं में बहुत अन्तर है। उपरोक्त विवेचन में यह अन्तर स्पष्ट हो जाते हैं। इस तरह, अधिनायकतन्त्र का अर्वाचीन रूप इसके प्राचीन रूप से बहुत कुछ भिन्न हो गया है। आधुनिक अधिनायकतन्त्र व्यवस्थाओं में व्यक्ति की स्वतंत्रताओं पर प्रतिबन्ध व मनुष्य के जीवन का हर पहलू नियन्त्रित करने के कारण, इन व्यवस्थाओं के नाम से दुर्भाव का ही बोध होता है। इसके अर्थ के बाद अधिनायकतन्त्र व्यवस्थाओं के लक्षणों का विवेचन करना सरल हो जाता है। संक्षेप में यह इस प्रकार हैं।

अधिनायकतन्त्र के लक्षण (Characteristics of Dictatorship)

अधिनायकतन्त्र के सर्वाधिकारी व स्वेच्छाचारी रूपों का विवेचन पहले किया गया है। इनके लक्षणों के अध्ययन से संकेत मिलता है कि दोनों व्यवस्थाओं में अन्तरों के बावजूद मोटी समानताएँ हैं। कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो अधिनायकतन्त्र के दोनों प्रकारों में पाई जाती है। **पीटर मर्कल** ने अपनी पुस्तक **पोलिटिकल कन्टीन्यूविटी चेन्ज** में अधिनायकतन्त्र की निम्नलिखित विशेषताओं की ओर ध्यान दिलाया है–(1) असाधारण सत्तायुक्त, अर्द्ध-देवतुल्य (deified) एक नेता। (2) सरकारी प्रशासन व समाज के समस्त संगठनों के नियन्त्रक के रूप में विशिष्ट ढंग से संगठित व भावात्मक समर्पणता वाला एक जनपूंजी (mass) दल। (3) शिक्षा व्यवस्था तथा जन-सम्पर्क के सभी साधनों पर प्रचार का एकाधिकार। (4) आतंक तथा भयभीत करने की सुपरिष्कृत व्यवस्था।

सर्वाधिकारी व स्वेच्छाचारी शासन व्यवस्थाओं में गन्तव्यों, विचारधाराओं तथा आधुनिकीकरण में उनकी भूमिकाओं को लेकर बहुत कुछ असमानताएँ होते हुए भी उनमें उपरोक्त विशेषताएँ समान रूप से पाई जाती हैं। इनका संक्षेप में विवेचन करने से इन दोनों व्यवस्थाओं के समान लक्षणों को अच्छी तरह समझा जा सकता है।

(1) सामान्यतया निरंकुश व्यवस्थाओं से एक ऐसे अधिनायक का अर्थ लिया जाता है जो सर्वशक्तिमान हो। परन्तु इतिहास में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता है जब किसी तानाशाह ने अकेले समस्त राज्य शक्तियों का प्रयोग किया हो। हिटलर, मुसोलिनी तथा स्तालिन के भी सलाहकार, समर्थक व सहयोगी रहे हैं। क्योंकि अधिनायकतन्त्री व्यवस्था में नेता की सर्वोच्चता व असाधारण सत्ता का आधार दल का नेतृत्व होता है। इन व्यवस्थाओं में नेता या तो विचारधारा का प्रवर्तक होता है, जो किसी प्रचलित विचारधारा का प्रमुख संशोधक होता है। वह विचारधारा का एकमात्र व्याख्याकार, रक्षक तथा क्रियान्वयक माना जाता है। अतः दल के सदस्यों के लिए, जो दल की विचारधारा को पूर्णतया समर्पित होते हैं, वह नेता देवतुल्य व श्रद्धा का पात्र बन जाता है तथा उसकी शक्ति परम व सर्वोच्च हो जाती है। यह नेता किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं होता, किसी से भी आदेश प्राप्त नहीं करता तथा परिस्थितियों के बन्धनों से भी मुक्त रह सकता है। नेता की सत्ता को कोई चुनौती न दे पाए इसके लिए हर अधिनायक तीन साधनों का सहारा लेता है–(1) वह समय-समय पर दल में से सभी सम्भावित (potential) दुश्मनों व विरोधियों का बर्बरतम तरीकों का उपयोग करके सफाया करता रहता है। (2) अपने सभी सहयोगियों व अनुयायियों के दिलों में भय और आतंक फैलाये रखता है। (3) सत्ता संरचना को स्थिर नहीं होने देता है।

इस तरह, अधिनायकतन्त्र में नेता की सर्वोच्चता तथा सत्ता बनाई रखी जा सके इसके लिए नेता उपरोक्त तीन विधियों में से दो विधियों का तो प्रयोग करते ही हैं परन्तु तीसरी विधि के माध्यम से वह उनकी चुनौती देने की संस्थागत व्यवस्था को भी नहीं पनपने देते हैं। अधिनायकतन्त्र में नेता को सबसे बड़ा खतरा ऐसी संस्थाओं की स्थापना या विकास से है जो स्वयं निर्णय लेने लगें। ऐसी अवस्था नेता की सत्ता की क्षीणता का संकेत होती है जो अनिवार्यतः नेतृत्व में परिवर्तन करके रहती है। रूस में ख्रुश्चेव तथा पाकिस्तान में अय्यूब खाँ के बाद क्रमशः ब्रेजनेव तथा याह्याखान का सत्ता में आना इसी आधार पर समझा जा सकता है।

(2) तानाशाही व्यवस्थाओं में चाहे उसका कोई रूप हो, एक एकाधिकारी राजनीतिक दल का दिखावा अवश्य पाया जाता है। यह राजनीतिक दल सम्पूर्ण जीवन का नियन्त्रक होता है। सरकारी, सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन ऐसे दल के नियन्त्रण में रहता है। साम्यवादी व्यवस्थाओं में दल सही अर्थों में जनपूँजी होते हैं, पर स्वेच्छाचारी सैनिक या असैनिक तथा परम्परागत शासक वर्गों वाले राज्यों में भी सत्ता की वैधता के लिए दल का गठन किया

जाता है। पाकिस्तान में राष्ट्रपति अय्यूब खां ने, बर्मा में जनरल ने विन (आजकल बर्मा के राष्ट्रपति) व नेपाल में सम्राट महेन्द्र ने इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए दल का सहारा लिया था। ऐसे शासनों में अधिनायक दल के नेता के रूप में पूजनीय बन जाता है।

(3) निरंकुश शासक अपनी सत्ता को स्थायी आधार उपलब्ध कराने के लिए शिक्षण व्यवस्था के माध्यम से नेता के प्रति अगाध आस्था उत्पन्न कराने का प्रयास करता है। सम्पर्क के सभी साधनों का प्रयोग नेता की श्रेष्ठता के गुणगान करने में किया जाता है। जन-सम्पर्क के सभी साधनों पर कड़ी निगरानी रहती है तथा जनता को बार-बार आंतरिक एवं बाहरी दुश्मनों से संघर्ष करने के लिए सचेत रखा जाता है। सारा प्रचार केवल नेता के द्वारा बताए गए तथ्य को ही सही मानने के लिए होता है। अन्य किसी भी प्रकार का प्रचार यहाँ तक कि बाहर का रेडियो प्रसारण सुनना तक अपराध माना जाता है। दूसरे विश्वयुद्ध के समय तो जर्मनी में विदेशी रेडियो प्रसारण सुनने वालों को मौत की सजा देने का कानून तक लागू था। प्रसारणों के माध्यम से बार-बार विचारधाराओं से सम्बन्धित सिद्धान्तों को दोहराया जाता है जिससे लोगों के मस्तिष्कों पर इसकी अमिट छाप अंकित हो जाए तथा इससे आगे सोचने के लिए जनता के मस्तिष्कों पर ताले पड़ जाएँ। इस तरह जन-सम्पर्क साधनों का एकाधिकार नेता की सत्ता को स्थायित्व प्रदान करने में प्रयुक्त किया जाता है।

(4) अधिनायकतन्त्री व्यवस्थाओं को बनाए रखने के लिए नेताओं द्वारा आतंक तथा डर का साम्राज्य फैला दिया जाता है। इससे व्यक्ति को इतना भयभीत बना दिया जाता है कि उसको हर वक्त अपना अस्तित्व खतरे में लगता है। इसके लिए बेबुनियादी प्रचार तक का सहारा लिया जाता है। निरंकुश व्यवस्थाओं में सरकार एक निरन्तर चलने वाली क्रांति का प्रतीक होती है। इन व्यवस्थाओं में एक अत्यधिक महत्त्वाकांक्षी व सुनहरे भविष्य की प्राप्ति के लिए संघर्ष में कोई रुकावट नहीं आए इसके लिए सारा शासनतन्त्र एक सूत्र में बांधकर रखा जाता है। इस प्रयत्न के विरोध में किसी भी प्रकार का प्रयत्न नहीं हो इसके लिए पहले ही आतंक फैलाये रखा जाता है। इसके लिए गुप्तचर विभागों को पूर्ण अधिकार तथा अप्रत्याशित शक्तियों से युक्त किया जाता है। ऐसी व्यवस्थाओं में 'रास्ते से हटने वालों' को अनुनयन से समझाने की बजाय समाप्त किया जाता है।

अन्त में निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि आधुनिक अधिनायकतन्त्र प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सैनिकवाद की उपज है। इसमें एक दल या नेता या सेना के झंडे के चारों ओर राष्ट्रीय आत्म-सम्मान, आशाओं और आकांक्षाओं की शक्ति इकट्ठी होती है। अधिनायकतन्त्र आन्तरिक विरोध व संघर्ष को कठोरता से दबा देता है। वह इस तरह कार्य करता है जैसे कि वह राष्ट्रीय एकता की मूर्ति हो। अधिनायकतन्त्र लोगों को एक स्वर में गूँथने का प्रयत्न करता है। इसमें जनता के किसी विरोध को सहन नहीं किया जाता है। यह इसी बात में विश्वास करता है कि सम्पूर्ण राष्ट्र एक ही ढंग से सोचे, बोले व कार्य करे। अधिनायकतन्त्र के अर्थ व विशेषताओं के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि इस शासन व्यवस्था में कुछ गुण हैं तो कुछ दोष भी हैं। इनका संक्षेप में विवेचन देना मूल्यांकन के लिए आवश्यक है।

(ख) संघात्मक और एकात्मक शासन प्रणालियाँ (Federal and Unitary Government Systems)

"आधुनिक समाज में लगभग सभी प्रवृत्तियाँ केन्द्रीयकरण की दिशा में संगठित हो रही हैं।"

–लिम्सन

शासन की शक्तियों का प्रयोग मूल रूप से एक स्थान से किया जाता है या कई स्थानों से, इस आधार पर शासन प्रणालियों के दो प्रकार हैं–एकात्मक शासन और संघात्मक शासन। जिस शासन व्यवस्था में शासन की सम्पूर्ण शक्ति एक केन्द्रीय सरकार में संकेन्द्रित होती है, उसे एकात्मक शासन कहते हैं। इसके विपरीत जिस शासन प्रणाली में शासन की शक्तियाँ केन्द्र तथा राज्यों के बीच बँटी रहती हैं, उसे संघात्मक शासन कहते हैं। वस्तुतः एकात्मक और संघात्मक शासन में भेद का आधार है राज्य की शक्तियों का संकेन्द्रित या विभाजित होना। ब्रिटेन और फ्रांस

की शासन प्रणालियाँ एकात्मक संविधान का नमूना प्रस्तुत करती हैं जबकि अमेरिका, स्विट्जरलैण्ड तथा सोवियत संघ की शासन प्रणालियाँ संघात्मक व्यवस्था के नमूने माने जाते हैं।

नोट

2.5 एकात्मक शासन : अर्थ और परिभाषा (Unitary Government : Meaning And Definitions)

एकात्मक शासन वह होता है जिसके अन्तर्गत संविधान के द्वारा शासन की सम्पूर्ण शक्ति केन्द्रीय सरकार में निहित कर दी जाती है और स्थानीय सरकारों का अस्तित्व एवं शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार की इच्छा पर निर्भर करती हैं। विभिन्न विद्वानों ने एकात्मक शासन की निम्नलिखित परिभाषाएँ दी हैं :

डॉ. फाइनर के अनुसार, "एकात्मक राज्य वह है जिसमें शासन सत्ता एवं शक्ति एक केन्द्र में निहित रहती है और जिसकी इच्छा एवं जिसके अधिकारी समस्त क्षेत्र पर कानूनन सर्वशक्तिमान होते हैं।"

डायसी के अनुसार, "एक केन्द्रीय शक्ति के द्वारा सर्वोच्च शक्ति का प्रयोग किया जाना ही एकात्मक शासन है।"

2.6 एकात्मक शासन : विशेषताएँ (Unitary Government : Features)

एकात्मक शासन की प्रमुख रूप से निम्नलिखित विशेषताएँ कही जा सकती हैं:

(1) संविधान द्वारा शक्तियों का विभाजन नहीं–एकात्मक शासन में संविधान के अनुसार सम्पूर्ण राजशक्ति केन्द्रीय सरकार में निहित होती है और केन्द्र तथा इकाइयों की सरकारों में उसका विभाजन नहीं किया जाता। केन्द्रीय सरकार सम्पूर्ण देश में और सभी विषयों के सम्बन्ध में सर्वोच्च होती है और इस प्रकार सरकार द्वारा प्रत्येक प्रकार का कार्य किया जा सकता है।

(2) स्थानीय सरकारों की केन्द्र पर निर्भरता–एकात्मक शासन के अन्तर्गत स्थानीय सरकारों का स्वरूप एवं शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार की इच्छा पर निर्भर करती हैं। प्रशासनिक सुविधा के लिए राज्य को अनेक इकाइयों व प्रान्तों में विभक्त किया जा सकता है किन्तु इन प्रान्तीय सरकारों का सम्पूर्ण अस्तित्व केन्द्रीय सरकार की इच्छा पर निर्भर करता है। संविधान के अनुसार, प्रान्तीय सरकारों की अपनी कोई पृथक् एवं स्वतन्त्र शक्ति नहीं होती है।

(3) इकहरी नागरिकता–एकात्मक शासन प्रणाली वाले राज्यों में इकहरी नागरिकता की व्यवस्था होती है, यद्यपि इकहरी नागरिकता होने का तात्पर्य आवश्यक रूप से एकात्मक नहीं होता।

2.7 संघात्मक शासन : अर्थ और परिभाषा (Federal Government : Meaning and Definitions)

संघीय शासन, शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत एक नवीन देन है। 'संघ' शब्द का अंग्रेजी पर्यायवाची **'फैडरेशन'** (Federation) लैटिन भाषा के शब्द **'फोएडस'** (Foedus) से निकला है जिसका अर्थ है **सन्धि** या **समझौता**। अत: शब्द व्युत्पत्ति के दृष्टिकोण से समझौते द्वारा निर्मित राज्य को संघ राज्य कहा जा सकता है। संवैधानिक दृष्टिकोण से संघात्मक शासन का तात्पर्य एक ऐसे शासन से होता है जिसमें संविधान द्वारा ही केन्द्रीय सरकार और इकाइयों की सरकारों के बीच शक्ति-विभाजन कर दिया जाता है और ऐसा प्रबन्ध कर दिया जाता है कि इन दोनों पक्षों में से कोई एक अकेला इस शक्ति-विभाजन में परिवर्तन न कर सके। संघीय राज्य की कुछ प्रमुख परिभाषाएँ इस प्रकार हैं :

डायसी का कथन है कि, "संघात्मक राज्य, एक ऐसे राजनीतिक उपाय के अतिरिक्त कुछ नहीं है जिसका उद्देश्य राष्ट्रीय एकता तथा राज्यों के अधिकारों में मेल स्थापित करना है।"

फाइनर के अनुसार, "संघीय राज्य वह है जिसमें अधिकार व शक्ति का कुछ भाग स्थानीय क्षेत्रों में निहित हो व दूसरा भाग स्थानीय क्षेत्र के समुदाय द्वारा विचारपूर्वक बनायी गयी केन्द्रीय संस्था को दिया जाए।"

अमेरिकन लेखक **हैमिल्टन** का कथन है कि, "संघ राज्यों का एक समुदाय है जो नये राज्य का निर्माण करता है।"

नोट

उपर्युक्त परिभाषाओं की तुलना में **डॉ. गार्नर** की परिभाषा अधिक स्पष्ट और महत्त्वपूर्ण है। वे कहते हैं कि "संघ एक ऐसी प्रणाली है जिसमें केन्द्रीय तथा स्थानीय सरकारें एक ही प्रभुत्व शक्ति के अधीन होती हैं। ये सरकारें अपने-अपने क्षेत्र में, जिसे संविधान अथवा संसद का कोई कानून निश्चित करता है, सर्वोच्च होती हैं। संघ सरकार, जैसा कि प्राय: कह दिया जाता है, अकेली केन्द्रीय सरकार नहीं होती, वरन् यह केन्द्रीय और स्थानीय सरकारों को मिलाकर बनती है। स्थानीय सरकारें उसी प्रकार संघ का भाग हैं जिस प्रकार केन्द्रीय सरकार। वे केन्द्र द्वारा निर्मित अथवा नियन्त्रित नहीं होतीं।" वर्तमान समय में संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत रूस, भारत, कनाडा, स्विट्जरलैण्ड आदि राज्यों में संघात्मक शासन प्रणाली है।

2.8 संघात्मक सरकार की विशेषताएँ (Features of the Federal Government)

संघ राज्य की विशेषताओं को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है:

(1) **प्रभुत्व शक्ति का दोहरा प्रयोग**–यद्यपि सम्प्रभुता का विभाजन नहीं हो सकता और संघ राज्य में भी सम्प्रभुता अविभाज्य होती है किन्तु सम्प्रभुता की अभिव्यक्ति अवश्य ही–केन्द्रीय सरकार और स्थानीय–इस प्रकार के दो साधनों द्वारा होती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संघात्मक राज्य के अन्तर्गत जो इकाइयाँ होती हैं, उन्हें अपनी सत्ता केन्द्रीय सरकार से प्राप्त न होकर संविधान द्वारा ही प्राप्त होती है और उनकी स्थिति अधीनता की न होकर समानता की होती है।

(2) **शक्तियों का विभाजन**–संघीय सरकार के अन्तर्गत संविधान द्वारा ही केन्द्रीय सरकार और स्थानीय सरकारों के बीच शक्ति का विभाजन कर दिया जाता है। साधारणतया यह विभाजन इस आधार पर किया जाता है कि राष्ट्रीय महत्त्व के विषय अर्थात् संघ की सभी इकाइयों के समान रूप से सम्बन्धित विषय केन्द्रीय सरकार के सुपुर्द कर दिये जाते हैं और स्थानीय महत्त्व के विषय इकाइयों की सरकारों के सुपुर्द किये जाते हैं।

(3) **संविधान की सर्वोच्चता**–संघ शासन समझौते द्वारा स्थापित शासन होता है। यह समझौता संविधान में निहित होता है और संविधान में ही इस समझौते की परिवर्तन विधि का भी उल्लेख होता है। संघात्मक राज्य के अन्तर्गत संविधान सर्वोच्च होता है और केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकारें तथा सरकार के विभिन्न अंग संविधान के प्रतिकूल किसी प्रकार का कार्य नहीं कर सकते।

(4) **न्यायपालिका की सर्वोच्चता**–सभी संघात्मक राज्यों के अन्तर्गत एक सर्वोच्च न्यायालय की व्यवस्था की जाती है जिसका कार्य संविधान की व्याख्या एवं रक्षा करना होता है। यह सर्वोच्च न्यायालय केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकार या सरकार के किसी अंग द्वारा संविधान के प्रतिकूल किए गये कार्यों को अवैधानिक घोषित कर सकता है। केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों या प्रान्तीय सरकारों में परस्पर किसी प्रकार का विवाद उत्पन्न होने पर सर्वोच्च न्यायालय ही इस विवाद को हल करता है। **हस्किन** (Haskin) के शब्दों में, **"संघीय शासन में सर्वोच्च न्यायालय शासनतन्त्र में सन्तुलन रखने वाला पहिया है।"**

(5) **दोहरी नागरिकता**–संघ राज्य के अन्तर्गत साधारणतया दोहरी नागरिकता की व्यवस्था होती है। एक व्यक्ति केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकार जिसमें वह रहता है–इन दोनों का नागरिक होता है तथा इन दोनों के प्रति भक्ति रखता है किन्तु दोहरी नागरिकता संघ राज्यों का आवश्यक तत्व नहीं है। भारतीय संविधान ने एक संघ राज्य की स्थापना की है किन्तु दोहरी नागरिकता की व्यवस्था नहीं।

नोट

2.9 एकात्मक तथा संघात्मक सरकारों में अन्तर (Difference between Unitary and Federal Governments)

एकात्मक शासन, शक्तियों के केन्द्रीयकरण और संघात्मक शासन, शक्तियों के विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त पर आधारित होता है। राज्य और शासन-व्यवस्था के इन दो रूपों में प्रमुख रूप से निम्नलिखित अन्तर बताये जा सकते हैं:

(1) शक्तियों के विभाजन का अन्तर—एकात्मक शासन में संविधान द्वारा शक्तियों का विभाजन नहीं किया जाता और संविधान द्वारा सम्पूर्ण शक्ति केन्द्रीय सरकार को प्रदान कर दी जाती है। प्रादेशिक सरकारों में शक्ति का विभाजन केन्द्रीय शासन की इच्छा पर निर्भर करता है। लेकिन संघात्मक शासन में संविधान द्वारा ही केन्द्रीय सरकार और इकाइयों की सरकारों के बीच शक्ति का विभाजन कर दिया जाता है।

(2) प्रान्तीय सरकारों की स्थिति में अन्तर—एकात्मक शासन में प्रान्तीय सरकारें पूर्णतया केन्द्रीय शासन के अधीन होती हैं और ये इकाइयाँ केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रदत्त शक्तियों का ही उपयोग कर सकती हैं लेकिन संघात्मक शासन में प्रान्तीय सरकारों को संविधान से ही शक्ति प्राप्त होती है और ये सरकारें केन्द्रीय सरकार के अधीन नहीं वरन् समकक्ष होती हैं।

(3) नागरिकों की स्थिति में अन्तर—एकात्मक शासन में नागरिक केवल केन्द्रीय सरकार के प्रति ही भक्ति रखते हैं और इकहरी नागरिकता की व्यवस्था होती है, लेकिन संघात्मक शासन में नागरिक केन्द्रीय सरकार और प्रान्तीय सरकार दोनों के प्रति भक्ति रखते हैं और दोहरी नागरिकता की व्यवस्था होती है। इस सम्बन्ध में भारत की संघात्मक व्यवस्था अवश्य ही एक अपवाद है।

(4) संविधान के रूप का अन्तर—एकात्मक राज्य का संविधान लिखित, अलिखित, कठोर या लचीला किसी भी प्रकार का हो सकता है लेकिन संघात्मक राज्य समझौते का परिणाम होता है और यह समझौता संविधान का एक भाग होने के कारण संविधान आवश्यक रूप से लिखित होता है। इसके अतिरिक्त, इस बात का भी ध्यान रखा जाता है कि समझौते का कोई एक पक्ष अकेला ही शक्ति-विभाजन में परिवर्तन न कर सके। इस प्रकार संघात्मक राज्य के लिए लिखित और कठोर संविधान आवश्यक है, लेकिन एकात्मक राज्य के लिए नहीं।

(5) प्रशासकीय अंगों की शक्ति में अन्तर—सभी एकात्मक राज्यों के अन्तर्गत साधारणतया व्यवस्थापिका सम्प्रभु होती है और न्यायपालिका का कार्य तो व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों के आधार पर न्याय प्रदान करना मात्र होता है। किन्तु एक संघात्मक राज्य में संविधान सर्वोच्च होता है, सम्प्रभुता संविधान में निहित होती है और इस संविधान की व्याख्या एवं रक्षा करने का कार्य सर्वोच्च न्यायालय द्वारा किया जाता है। ऐसी स्थिति में न्यायपालिका व्यवस्थापिका से अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानून संविधान के प्रतिकूल होने पर न्यायपालिका उन्हें अवैधानिक घोषित कर सकती है।

एकात्मक और संघात्मक शासन का भेद निम्न चित्र के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है।

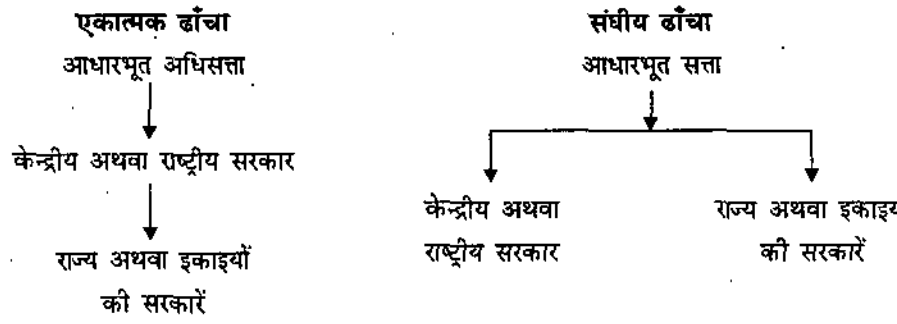

2.10 राज्य-मण्डल (Confederation)

नोट

जब विभिन्न प्रभुत्वसम्पन्न राज्य कुछ निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समझौते द्वारा एक संगठन की स्थापना करते हैं, तो उसे राज्य-मण्डल की संज्ञा दी जाती है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रसिद्ध वेत्ता **ओपनहेम** के शब्दों में, "राज्य-मण्डल में कई पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न राज्य सम्मिलित हैं। उनका राज्य-मण्डल बनाने का उद्देश्य होता है, अपनी आन्तरिक और वैदेशिक स्वतन्त्रता को कायम रखना। इस हेतु वे एक प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि भी करते हैं। उक्त सन्धि के द्वारा जो संघ बनता है उसे सदस्य राज्यों के ऊपर अधिकार अवश्य मिल जाते हैं किन्तु उक्त सदस्य राज्यों के नागरिक किसी प्रकार भी राज्य-मण्डलीय संगठन के प्रति भक्ति नहीं रखते।"

2.11 संघ और राज्य-मण्डल में भेद (Difference between Federation and Confederation)

बहुत-से विद्वान संघ और राज्य-मण्डल को एक ही मानते हैं। इसका कारण यह है कि इन दोनों में कुछ समानताएँ हैं। ये समानताएँ विविध हैं--(1) दोनों की उत्पत्ति एक ही धातु (Foedus) से हुई है, (2) दोनों स्वतन्त्र एवं प्रभुसत्ताशाली राज्यों के पारस्परिक समझौते के परिणाम होते हैं, और (3) दोनों में एक केन्द्र का निर्माण होता है।

किन्तु इन ऊपरी समानताओं के होते हुए भी संघ और राज्य-मण्डल में **मौलिक भेद** हैं, जिनका अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है:

(1) राज्य-मण्डल में सम्मिलित होने वाले राज्य, राज्य-मण्डल के निर्माण के बाद भी स्वतन्त्र बने रहते हैं जबकि संघ में सम्मिलित होने वाले राज्य अपनी स्वतन्त्रता खो देते हैं। जर्मन भाषा में राज्य-मण्डल को **'स्टाटेनबण्ड'** (Statenbund) या **'राज्यों का संघ'** (League of States) कहते हैं जबकि संघ को **'बन्देस्टाट'** (Bundesstatt) अर्थात् संयुक्त राज्य कहा जाता है। संघ में अनेक राज्यों को मिलाकर एक नवीन राज्य का रूप दिया जाता है जबकि राज्य-मण्डल में किसी नवीन राज्य की स्थापना नहीं होती। यह तो कुछ राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में केवल कुछ नवीनता पैदा कर देता है।

(2) संघ में जब राज्य अपनी वैयक्तिक प्रभुत्व शक्ति छोड़ देते हैं तो एक नयी प्रभुत्व शक्ति का निर्माण होता है, किन्तु राज्य-मण्डल में ऐसा नहीं होता। इसकी इकाइयाँ अपनी वैयक्तिक शक्ति अपने पास रखती हैं। **डॉ. गार्नर** ने इस बात को स्पष्ट करते हुए कहा है, **"संघीय शासन के विपरीत राज्य-मण्डल में केवल एक प्रभुसत्ता नहीं होती, इसमें कई प्रभुत्व शक्तियाँ होती हैं, वास्तव में उतनी ही जितने राज्य इसके सदस्य हैं।"**

(3) संघ का निर्माण संविधान द्वारा होता है और यह संविधान संघ की सर्वोच्च विधि होता है। इसके विपरीत, राज्य-मण्डल किसी सन्धि या समझौते से उत्पन्न होता है जो एक प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय समझौता होता है।

(4) संघ स्थायी होता है और संघ की इकाइयाँ संघ से पृथक् नहीं हो सकतीं। इसके विपरीत, राज्य-मण्डल में सम्मिलित होने वाले राज्य, राज्य-मण्डल से विलग भी हो सकते हैं और इनके विरुद्ध कोई वैधानिक आपत्ति नहीं की जा सकती।

(5) यदि किसी राज्य-मण्डल के राज्यों में सशस्त्र युद्ध छिड़ जाये, तो उसे अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध माना जाएगा, किन्तु यदि संघ की इकाइयों के बीच किसी प्रकार का युद्ध हो, तो गृहयुद्ध की संज्ञा दी जाएगी।

(6) संघ में केन्द्रीय या संघीय सरकार की स्थापना संविधान के द्वारा की जाती है और संविधान में संशोधन करके ही केन्द्रीय सरकार की शक्तियों में घटा-बढ़ी की जा सकती है। इसके विपरीत, राज्य-मण्डल के सदस्य राज्य ही केन्द्रीय सरकार की रचना करते हैं, ये केन्द्रीय सरकार की शक्तियों में परिवर्तन कर सकते हैं या उसे नष्ट भी कर सकते हैं।

नोट

(7) राज्य-मण्डल में सम्मिलित होने वाले राज्यों की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बनी रहती है और वे अन्य सम्प्रभु राज्यों से 'द्वैत्य-सम्बन्ध' (diplomatic relations) स्थापित कर सकते हैं, किन्तु संघ राज्य की इकाइयों के लिए ऐसा करना सम्भव नहीं है।

(8) संघ का अपने नागरिकों से सीधा सम्बन्ध और संघ की अपनी नागरिकता होती है। इसके विपरीत, राज्य-मण्डल का केवल सदस्य राज्यों से सम्बन्ध रहता है, उनका नागरिकों से कोई सम्पर्क नहीं रहता। वस्तुतः राज्य-मण्डल के कोई नागरिक होते ही नहीं हैं।

राज्य-मण्डल (Confederation) के गुण–राज्य-मण्डल के प्रमुख रूप से निम्नलिखित गुण बताये जा सकते हैं:

(1) राज्य-मण्डल के अन्तर्गत निर्बल राज्य सुरक्षा को अपना लक्ष्य बनाकर परस्पर मिल सकते हैं। इस प्रकार इन शक्तिहीन राज्यों को शक्ति प्राप्त हो जाती है।

(2) राज्य-मण्डल उन राज्यों के परस्पर मिलने का बहुत अच्छा तरीका है, जो अपनी प्रभुसत्ता को नहीं छोड़ना चाहते और केवल कुछ सीमित लक्ष्यों की पूर्ति के लिए परस्पर मिलना चाहते हैं।

(3) राज्य-मण्डल की स्थापना से अनेक आपसी झगड़े समाप्त किये जा सकते हैं और राज्यों का कार्य परस्पर सहयोग के आधार पर चलता है।

(4) इनके अतिरिक्त, राज्य-मण्डल की स्थापना का एक लाभ यह भी है कि राज्य-मण्डल संघ की स्थापना के लिए एक सीढ़ी का कार्य करता है। स्विट्जरलैण्ड और संयुक्त राज्य अमरीका के संघ राज्य-मण्डल से ही विकसित हो सके हैं।

राज्य-मण्डल के दोष–राज्य-मण्डल में प्रमुख रूप से निम्नलिखित दोष बताये जा सकते हैं :

(1) राज्य-मण्डल में कोई स्थायित्व नहीं हो सकता। इसकी स्थापना कुछ विशेष लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए की जाती है और थोड़े-से भी मतभेद इसे समाप्त कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में गार्नर लिखते हैं कि, **"इसमें स्थायित्व की कमी होती है। यह राजनीतिक संगठन का अस्थायी रूप होता है जो साधारणतया संघात्मक प्रणाली में बदल जाता है या फिर इकाइयों में बँट जाता है।"**

(2) राज्य-मण्डल में संघ की अपेक्षा अधिक प्रशासनिक व्यय होता है; क्योंकि संघ में तो केवल केन्द्रीय सरकार ही दूसरे देशों में अपने कूटनीतिक प्रतिनिधि भेजती है, किन्तु राज्य-मण्डल की प्रत्येक इकाई के द्वारा पृथक्-पृथक् कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये जाते हैं।

(3) राज्य-मण्डल में सामान्यतया अधिक शक्तिशाली तथा बड़े राज्य छोटे और शक्तिहीन राज्यों को दबाने का प्रयत्न करते रहते हैं। राज्य-मण्डल की इकाइयाँ परस्पर षड्यन्त्रों में लिप्त रहती हैं और कोई ठोस कार्य सम्पन्न नहीं हो पाता।

(4) राज्य-मण्डल संकटकालीन अवस्था के लिए अधिक उपयोगी नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें पूरी एकता नहीं होती और राज्य-मण्डल की कोई भी इकाई मण्डल से अलग हो सकती है।

राज्य-मण्डल या परिसंघ की व्यवस्था में निहित त्रुटियों के कारण ही स्विट्जरलैण्ड और संयुक्त राज्य अमरीका में राज्य-मण्डल अधिक समय तक कार्य नहीं कर सके और इन क्षेत्रों में राज्य-मण्डल के स्थान पर संघ की स्थापना करनी पड़ी।

संघ का निर्माण होता है, स्वतः जन्म नहीं

राज्य के सम्बन्ध में तो सत्य यह है कि राज्य का किसी एक विशेष समय पर निर्माण नहीं किया गया, वरन् यह विकास का परिणाम है। लेकिन संघ राज्य जो कि राज्य और शासन का एक विशेष प्रकार है, के सम्बन्ध में स्थिति विपरीत ही है। संघ राज्य सामान्यतया एक समझौते का परिणाम होता है और इस नाते संघ का निर्माण होता है, स्वतः विकास नहीं। यदि हम विश्व के विभिन्न संघ राज्यों का उदाहरण लें तो यह बात नितान्त स्पष्ट हो जाती है कि संघ निर्माण का परिणाम होता है। उदाहरणार्थ, अमरीकी संघ का निर्माण सन् 1789 में और सोवियत रूस के वर्तमान संघ राज्य का निर्माण सन् 1977 के संविधान द्वारा हुआ है। इसी प्रकार भारत में संघ राज्य सन् 1950

नोट

के संविधान की देन है। मलेशिया संघ राज्य मलाया, सिंगापुर, सारावाक व साबा के मध्य हुए समझौते की देन है। इस दृष्टि से **मैरियट** (Marriott) का यह कथन बिलकुल सत्य है कि, **'संघ का निर्माण होता है स्वत: जन्म नहीं'** (A Federation is made, not born)।

संघ का निर्माण–संघीय राज्य का निर्माण साधारणतया दो प्रक्रियाओं के आधार पर होता है, प्रथम **केन्द्रोन्मुखी (Centripetal)** प्रवृत्ति या सम्मिलन (Integration) प्रक्रिया द्वारा और द्वितीय केन्द्रविमुखी **(Centrifugal)** प्रवृत्ति या पृथक्करण (Disintegration) की प्रक्रिया द्वारा।

जब प्रभुत्व-शक्ति सम्पन्न स्वतन्त्र राज्य विदेशी आक्रमण का सामना करने या आर्थिक विकास के लिए स्वेच्छा से मिलकर अपने अस्तित्व को बनाए रखते हुए एक नवीन संघ की स्थापना के लिए सहमत हो जाते हैं तो इस प्रकार संघ का निर्माण हो जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका, आस्ट्रेलिया, स्विट्जरलैण्ड, आदि संघ राज्यों का निर्माण इसी प्रकार हुआ है।

इसके अतिरिक्त, केन्द्रविमुखी प्रवृत्ति या पृथक्करण की प्रक्रिया के आधार पर भी संघ का निर्माण हो सकता है। इस प्रकार से संघ की रचना तब हो सकती है जब कोई बड़े आकार वाला एकात्मक राज्य अपने अधीन राज्यों या प्रान्तों को पूर्ण आन्तरिक स्वतन्त्रता प्रदान करने के उद्देश्य से स्वयं ही शक्तियों का विकेन्द्रीकरण स्वीकार कर ले।

2.12 संसदीय शासन प्रणाली (Parliamentary System of Government)

संसदीय सरकार को 'कैबिनेट' सभात्मक 'मन्त्रिमण्डलात्मक' अथवा 'उत्तरदायी सरकार' के नाम से भी जाना जाता है। इसे कैबिनेट सरकार इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इसके अन्तर्गत कार्य-पालन की शक्ति एक व्यक्ति में निहित न होकर एक समिति जिसे कैबिनेट कहते हैं, में निहित रहती है। इसको सभात्मक सरकार कहने का कारण, एक सभा-संसद में सम्पूर्ण कार्यपालिका व व्यवस्थापिका शक्तियों का केन्द्रण है। यह सभा सारी शक्तियों का केन्द्र होती है और कार्यपालिका व व्यवस्थापिका दोनों को नियंत्रित करती है। इसको 'उत्तरदायी' शासन का नाम कार्यपालिका के उत्तरदायी रहने के कारण दिया जाता है। संसदीय प्रणाली में कार्यपालिका अपने हर कार्य के लिए व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी रहती है और यह उत्तरदायित्व नहीं निभाने की अवस्था में उसको हटाने का व्यवस्थापिका को अधिकार रहता है।

संसदीय शासन प्रणाली का अर्थ व परिभाषा
(The Meaning and Definition of Parliamentary System of Government)

संसदीय प्रणाली शासन की वह व्यवस्था है जिसमें कार्यपालिका विधान सभा के सदस्यों में से चुनी जाती है तथा यह उसके प्रति उत्तरदायी रहती है। कार्यपालिका पर व्यवस्थापिका का पूर्ण नियन्त्रण होता है और व्यवस्थापिका द्वारा इसे हटाया भी जा सकता है। इस प्रणाली में कार्यपालिका एक समिति मात्र होती है जो व्यवस्थापिका की अधीनता में कार्य करती है। अत: संसदीय प्रणाली में कार्यपालिका व व्यवस्थापिका की निरंतर सम्पर्कता (interaction) आधारभूत लक्षण है। जैसा कि **कार्टर** व **हर्ज़** ने भी कहा है कि, "संसदीय प्रणाली, सरकार के कार्यपालिका व व्यवस्थापिका अंगों के अन्त:पाशन (interlocking) पर आधारित है।"

गार्नर के अनुसार, "संसदीय शासन वह प्रणाली है जिसके अन्तर्गत वास्तविक कार्यपालिका (मंत्रिमंडल) विधान मंडल या उसके एक सदन (प्राय: लोकप्रिय सदन) के प्रति प्रत्यक्ष तथा कानूनी रूप से और निर्वाचकों के प्रति अन्तिम रूप से अपनी राजनीतिक नीतियों और कार्यों के लिए उत्तरदायी रहती है, जबकि राज्य का प्रमुख जो नाममात्र की कार्यपालिका होता है, अनुत्तरदायित्व की स्थिति में रहता है?" **सी. एफ. स्ट्रांग** ने इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि, "संसदीय कार्यपालिका प्रणाली का सार यह है कि अन्तिम विश्लेषण में मंत्रिमंडल संसद की एक समिति है जिसमें लोकतन्त्र की प्रगति के साथ-साथ लोकसभा की समिति बन जाने की प्रवृत्ति है।" संसदीय शासन प्रणाली की इन परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि इस प्रणाली के कुछ लक्षण हैं।

नोट

संसदीय शासन प्रणाली की विशेषताएँ
(Characteristics of Parliamentary Government)

संसदीय प्रणालियों में मात्रात्मक अंतर पाए जाते हैं। हर देश की संसदीय प्रणाली में कुछ न कुछ नवीनता होती है। परन्तु इन अन्तरों के होते हुए भी इनमें मोटी समानता होती है। अत: इस प्रणाली की विशेषताओं का उल्लेख करते समय हम किसी देश विशेष के संसदवाद को ध्यान में नहीं रखेंगे। **वर्ने** ने ठीक ही लिखा है कि, "संसदवाद (parliamentarism) के इस विश्लेषण का सम्बन्ध संसदवाद के विभिन्न रूपों में अन्तर करने के बजाय विभिन्न संसदीय व्यवस्थाओं में विद्यमान अधिकतर समान घटकों की स्थापना करना है।" इस प्रकार हम विशेषताओं का विवेचन करते समय उन्हीं विशेषताओं को विवेचन में सम्मिलित करेंगे जो संसदवाद के लिए आधारभूत हैं। **डी.वी. वर्ने** ने अपनी पुस्तक **एन एनेलिसिस ऑफ़ पोलिटिकल सिस्टम्स** में संसदीय प्रणाली के निम्नलिखित लक्षणों का उल्लेख किया है। संक्षेप में यह इस प्रकार हैं–

(क) व्यवस्थापिका संसद बन जाती है (The assembly becomes a parliament)—संसदीय प्रणाली की प्रमुख विशेषता, व्यवस्थापिका के संसद में रूपान्तर की है। संसद एक नई संस्था के रूप में उत्पन्न होती है। यह न कार्यपालिका की तरह होती है और न ही व्यवस्थापिका की सी प्रकृति रखती है। वास्तव में यह कार्यपालिका व व्यवस्थापिका दोनों के संयोजन व विलयन से बनी एक नई संस्था होती है। यह इन दोनों से सर्वोपरि तथा दोनों की नियंत्रक होती है। इसलिए ही **वर्ने** का कहना है कि संसदीय प्रणाली में व्यवस्थापिका का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहता है और वह संसद का अभिन्न भाग बन जाती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि संसदीय प्रणाली में मंत्रिमंडल और व्यवस्थापिका का विलयन होकर उनमें परस्पर अन्त:निर्भरता की स्थापना हो जाती है। इसका यह अर्थ है कि संसदीय प्रणाली में कार्यपालिका व व्यवस्थापिका के कार्यों का भी सम्मिश्रण हो जाता है। इसमें कार्यपालिका व व्यवस्थापिका की ऐसी अन्त:क्रिया होती है जो उन्हें लगातार सम्बन्धित और एक-दूसरे पर आश्रित रखती है। अत: संसदीय प्रणाली का प्रमुख लक्षण कार्यपालिका व व्यवस्थापिका के विलयन से संसद का अस्तित्व में आना है।

(ख) कार्यपालिका दो भागों में विभक्त रहती है (The executive is divided into two parts)—इस प्रणाली में कार्यपालिका दो प्रकार की होती है। एक को ध्वज मात्र कार्यपालिका का नाम दिया जाता है। यह राज्य के अध्यक्ष के रूप में रहती है तथा दूसरी कार्यपालिका को वास्तविक कहा जाता है। यह सरकार का अध्यक्ष कही जाती है। ध्वजमात्र कार्यपालक वंशक्रमानुगत अथवा निर्वाचित हो सकता है तथा आजीवन या नियत अवधि के लिए अपने पद पर रह सकता है। उसको प्राप्त शक्ति सर्वांगीण तथा पूर्ण होती है और वह किसी के प्रति अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी नहीं होता है। किन्तु यह सब केवल सिद्धान्त रूप में ही सत्य होता है। व्यवहार में वह केवल ध्वज मात्र कार्यपालक होता है। उसकी सब शक्तियों का व्यवहार में वास्तविक कार्यपालक–मंत्रिमंडल द्वारा प्रयोग होता है। इससे स्पष्ट है कि संसदीय व्यवस्था का दूसरा लक्षण कार्यपालिका का दो भागों में विभक्त रहना है।

(ग) राज्य के अध्यक्ष द्वारा सरकार के अध्यक्ष की नियुक्ति (The head of the state appoints the head of government)—संसदीय प्रणाली में सरकार के अध्यक्ष, प्रधानमंत्री, की नियुक्ति राज्य के अध्यक्ष द्वारा की जाती है। यद्यपि यह नियुक्ति औपचारिक ही होती है, पर होती राज्य के अध्यक्ष के द्वारा ही है। दल व्यवस्था के विकास के कारण संसद में बहुमत दल का नेता ही प्रधानमंत्री के पद पर नियुक्त किया जाता है और ऐसी अवस्था में राज्य का अध्यक्ष नियुक्ति की औपचारिकता ही निभाता है। परन्तु, संसद में किसी दल का स्पष्ट बहुमत न होने पर यह नियुक्ति वास्तविक अर्थों में राज्य के अध्यक्ष के द्वारा की जाती है। संसदीय प्रणाली में सरकार के अध्यक्ष को राज्य का अध्यक्ष ही नियुक्त करता है। परिस्थिति के अनुसार यह औपचारिक या वास्तविक हो सकती है। जैसे भारत, इंग्लैण्ड, जापान, कनाडा व आस्ट्रेलिया में प्रधानमंत्रियों की नियुक्ति इन राज्यों के अध्यक्षों द्वारा ही होती है।

नोट

(घ) सरकार का अध्यक्ष मंत्रिमंडल की रचना करता है (The head of the government appoints the ministry)—मंत्रिमंडल का निर्माण प्रधानमंत्री द्वारा ही किया जाए यह संसदीय प्रणाली की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इससे प्रधानमंत्री व अन्य मंत्रियों में अन्तर स्थापित हो जाता है। जब मंत्रियों की नियुक्ति, जो औपचारिक रूप से राज्य के अध्यक्ष द्वारा होती है, प्रधानमंत्री की इच्छा से होती है तो प्रधानमंत्री मंत्रिमंडल का नेता व निर्माता बन जाता है। इससे मंत्रिमंडल एक टीम का रूप धारण कर लेता है और प्रधानमंत्री इस टीम के सुचारु रूप से कार्य का सूत्रधार बन जाता है। वह मंत्रिमंडल का निर्माण करने वाला होने के कारण वही उसकी अध्यक्षता करता है तथा वही उसको भंग करता है। क्योंकि प्रधानमंत्री के त्यागपत्र से मंत्रिमंडल स्वत: ही भंग हो जाता है। मंत्रिमंडल के निर्माता के रूप में प्रधानमंत्री अन्य मंत्रियों से प्रधानता पा जाता है। इसी कारण शासन की सारी शक्तियाँ प्रधानमंत्री में केन्द्रित हो जाती हैं।

(ङ) मंत्रिमंडल सामूहिक संस्था होती है (The ministry is a collective body)—संसदीय प्रणाली में मंत्रिमंडल का संयुक्त संस्था के रूप में होना बहुत महत्त्व रखता है। इससे प्रधानमंत्री का अस्तित्व न रहकर मंत्रिमंडल के सदस्य के रूप में ही अस्तित्व रहता है। इससे इनका संयुक्त उत्तरदायित्व सम्भव हो जाता है। इसके कारण प्रधानमंत्री शक्ति सम्पन्न ही नहीं बनता बल्कि मंत्रिमंडल का नियंत्रक भी बन जाता है। **पीटर मर्कल** का कहना है कि, "मंत्रिमण्डल ऐसी सामूहिक संस्था है जो एक व्यक्ति की तरह उत्तरदायित्व का हिस्सेदार रहती है।" इसके कारण मंत्रिमण्डल के सदस्य सामूहिक रूप से प्रधानमंत्री के नेतृत्व में कार्य करते हैं। इससे शासन और नीति की एकता कायम रहती है और मंत्रिमंडल एक ठोस संस्था बनकर शक्ति का केन्द्रबिन्दु बन जाता है।

(च) मंत्रिगण सामान्यतया संसद के सदस्य होते हैं (Ministers are usually members of parliament)—मंत्रियों की संसद की सदस्यता से तात्पर्य यह नहीं है कि सभी मंत्रीगण व्यवस्थापिका के भी सदस्य हों। कोई भी मंत्री संसद का सदस्य होने पर अपने आप व्यवस्थापिका का सदस्य नहीं बन जाता है। परन्तु मंत्रिमंडल का सदस्य होने के कारण वह संसद का अभिन्न अंग हो जाता है और वादविवाद में भाग लेता है और व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी रहता है। इसके लिए संसद के हर सदस्य को एक निश्चित अवधि के भीतर व्यवस्थापिका की सदस्यता प्राप्त करनी होती है। भारत में कोई भी व्यक्ति मंत्रिमण्डल में नियुक्त हो सकता है और इस नियुक्ति के होते ही वह संसद का सदस्य बन जाता है पर इससे वह लोक सभा या राज्य सभा का सदस्य नहीं बन जाता है। उसे यह सदस्यता छह माह की अवधि के भीतर-भीतर प्राप्त करनी होती है। अत: छह महीने तक वह व्यवस्थापिका का सदस्य न होते हुए भी मंत्रिमंडल में रह सकता है। इसलिए ही **वर्ने** ने कहा है कि संसदीय प्रणाली में मंत्रिगण सामान्यतया संसद के सदस्य होते हैं।

(छ) कार्यपालिका राजनीतिक दृष्टि से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है (The government is politically responsible to the assembly)—कार्यपालिका का व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायित्व संसदीय प्रणाली का बहुत महत्त्वपूर्ण लक्षण है। **अर्नेस्ट बी. शुल्ज** ने ठीक ही कहा है कि, "संसदीय सरकार कार्यपालिका के व्यवस्थापिका के प्रति निरन्तर उत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर आधारित होती है।" इस व्यवस्था में व्यवस्थापिका को यह अधिकार रहता है कि कार्यपालिका द्वारा उत्तरदायित्व न निभाने पर उसे अविश्वास प्रस्ताव के द्वारा हटा दिया जाए। इसलिए ही **कार्टर व हर्ज़ो** का कहना है कि "तकनीकी दृष्टि से संसदीय व्यवस्था कार्यपालिका में 'विश्वास' की संस्था के इर्द-गिर्द चक्कर लगाती है।"

(ज) सरकार का अध्यक्ष राज्य के अध्यक्ष को 'सभा' विघटित करने की सलाह दे सकता है (The head of the government may advice the head of the state to dissolve the assembly)—**कार्ल लोवेन्सटीन** (Karl Loewenstein) ने इस विशेषता का महत्त्व बताते हुए लिखा है कि "सच्चा संसदवाद 'भंग' करने की धुरी (pivot) के इर्द-गिर्द घूमता है।" व्यवस्थापिका को भंग करा सकने की व्यवस्था दो कारणों से अनिवार्य है। प्रथम तो संसद के दोनों भागों–कार्यपालिका व व्यवस्थापिका के बीच संघर्ष का समाधान करने के लिए तथा दूसरे, राजनीतिक व्यवस्था में कानूनी सम्प्रभु (legal sovereign) तथा राजनीतिक सम्प्रभु के बीच संघर्ष का हले निकालने के लिए। इन दोनों ही परिस्थितियों में संवैधानिक संकट की अवस्था आ जाती है और प्रधानमंत्री

द्वारा व्यवस्थापिका को भंग कराने का निवेदन करने का तात्पर्य संकट के समाधान का जनता को अवसर उपलब्ध कराना है। लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं में ऐसे संवैधानिक संकटों, जिनका सामान्य प्रक्रियाओं से समाधान नहीं हो सके, जनता द्वारा चुनावों के माध्यम से निपटारा कराया जाता है। इस तरह संसदीय शासन में कार्यपालिका व व्यवस्थापिका को जनता के प्रति उत्तरदायी रखने का यह अन्तिम शस्त्र है। व्यवस्थापिका के विघटन से चुनावों का अवसर आता है–जिसमें निर्वाचक, कार्यपालिका व व्यवस्थापिका के बीच संघर्ष के निर्णायक हो जाते हैं। इससे जनता की सम्प्रभुता की स्थापना हो जाती है और शासन को उत्तरदायी बनाए रखने का साधन प्राप्त हो जाता है। चुनावों के द्वारा निर्वाचक सरकार में विश्वास या अविश्वास की अभिव्यक्ति करते हैं। इसलिये संसदीय व्यवस्था को सही अर्थों में उत्तरदायी शासन बनाए रखने के लिए ही भंग करा सकने का अधिकार प्रधानमंत्री को प्रदान किया जाता है।

(झ) संसद इसके संघटक भागों–कार्यपालिका व व्यवस्थापिका से सर्वोच्च रहती है (Parliament is supreme over its constituent parts—the executive and the assembly)—संसदीय व्यवस्थाओं में कार्यपालिका व व्यवस्थापिका के विलयन से एक नई संस्था बनती है जिसे 'संसद' कहते हैं। संसद सुचारु रूप से अपने कार्य सम्पादित कर सके इसके लिए आवश्यक है कि यह उन संघटकों से सर्वोच्च रहे जिनका इसे निर्देशन करना है। इससे इसके निर्माणक भागों–कार्यपालिका व व्यवस्थापिका में न केवल संतुलन स्थापित होता है वरन्, इन दोनों में सहयोग का आधार भी प्रस्तुत होता है। कार्यपालिका को व्यवस्थापिका के समर्थन पर आश्रित रहना होता है और दूसरी तरफ व्यवस्थापिका के जीवन की डोर कार्यपालिका के हाथ में होने के कारण यह उसका नेतृत्व व निर्देशन स्वीकार करने के लिए तत्पर रहती है। इस लक्षण का महत्त्व स्पष्ट करते हुए **वर्ने** ने लिखा है कि, "समग्र रूप में संसद की इसके संघटक भागों पर सर्वोच्चता की धारणा संसदीय व्यवस्थाओं का विशिष्ट लक्षण है।" संसद की सर्वोच्चता, संसदीय प्रणालियों की सफलता के लिए अनिवार्य है। इसके कारण तीन महत्त्वपूर्ण लाभ प्राप्त हो जाते हैं–(*i*) संसद शक्ति का केन्द्र बनी रहती है। (*ii*) संसद के संघटक भाग जागरूक, अनुक्रियाशील तथा उत्तरदायी रहते हैं। (*iii*) संसद के संघटक भाग नियंत्रित व संतुलित रहते हैं।

वर्ने का कहना है कि, "अनेकों संसदीय व्यवस्थाएँ इसलिए असफल हो गईं, क्योंकि संसद के संघटक अंगों में से किसी ने सर्वोच्चता का दावा किया तथा संसद समग्र रूप में कार्यपालिका व व्यवस्थापिका से सर्वोच्च नहीं रह सकी।"

(ञ) कार्यपालिका केवल अप्रत्यक्ष रूप से ही निर्वाचकों के प्रति उत्तरदायी रहती है (The executive is only indirectly responsible to the electorate)—संसदीय व्यवस्था में कार्यपालिका आम निर्वाचकों के द्वारा निर्वाचित नहीं होती है। कार्यपालिका का अस्तित्व संसद पर आधारित रहता है इसलिए इसका प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व तो केवल संसद के प्रति ही हो सकता है। यह संसद के माध्यम से अर्थात् अप्रत्यक्ष रूप से ही निर्वाचकों के प्रति उत्तरदायी रह सकती है। अगर कार्यपालिका को निर्वाचकों के प्रति प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायित्व बना दिया जाए तो संसद महत्त्वरहित बन जाएगी और सम्पूर्ण संसदीय व्यवस्था व्यवहार में धराशायी हो जाएगी। वैसे भी निर्वाचकों के प्रति प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व केवल चुनावों में ही व्यावहारिक बन सकता है इसी कारण कार्यपालिका का निरंतर उत्तरदायित्व असम्भव हो जाता है। कार्यपालिका निरन्तर उत्तरदायी रहे और उत्तरदायी रखी जा सके इसके लिए ही इसे संसद के प्रति उत्तरदायी रखा जाता है।

(ट) राजनीतिक व्यवस्था में संसद सत्ता का केन्द्र होती है (Parliament is the focus of power in the political system)—राजनीतिक व्यवस्था में कार्यपालिका व व्यवस्थापिका शक्तियों का संसद में विलयन संसद को शक्ति का केन्द्र बना देता है। संसद ही कार्यपालिका व व्यवस्थापिका की निर्देशक, निरीक्षक व नियंत्रक होती है। इन दोनों का अस्तित्व संसद के प्रसाद प्रयत्न ही रहता है। संसदीय प्रणाली में संसद की प्रमुखता को स्पष्ट करते हुए **वर्ने** ने लिखा है कि, "यह वह मंच है जहाँ राजनीति का नाटक खेला जाता है। यह राष्ट्रीय विचारों का रंगमंच है। यह वह विद्यालय है जहाँ भावी राजनीतिक नेताओं का प्रशिक्षण होता है।" संसद के महत्त्व का कारण ही इसमें शक्तियों का केन्द्रण है। निम्नलिखित तथ्यों से उसकी शक्ति सम्पन्नता की पुष्टि होती है–(*i*) राजनीतिक व्यवस्था में सभी शक्तियों का उद्भव संसद से ही होता है। (*ii*) सभी शक्तियाँ संसद द्वारा प्रतिबन्धित

व सीमित रहती हैं। (*iii*) राजनीतिक नीतियों के निर्धारण का मंच भी संसद ही रहती है। (*iv*) सभी महत्त्वपूर्ण राजनीतिक वाद-विवाद संसद में ही होते हैं। (*v*) यह सभी शासन गतिविधियों का आधार होती है।

यही कारण है कि संसदीय प्रणालियों में संसद एक ऐसा चक्र बन जाती है जिसके इर्द-गिर्द सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था चक्कर लगाती रहती है।

संसदीय प्रणाली की प्रमुख विशेषताओं के विवेचन से स्पष्ट है कि संसदीय प्रणाली में राजनीतिक व्यवस्था का 'ध्रुव' संसद होती है। कार्यपालिका, व्यवस्थापिका व निर्वाचक इसी के माध्यम से सम्पर्कता की अवस्था में लाए जाते हैं। संसदीय प्रणाली में निर्वाचकों, व्यवस्थापिका व कार्यपालिका के सम्बन्धों को चित्र 3.1 में चित्रित किया गया है।

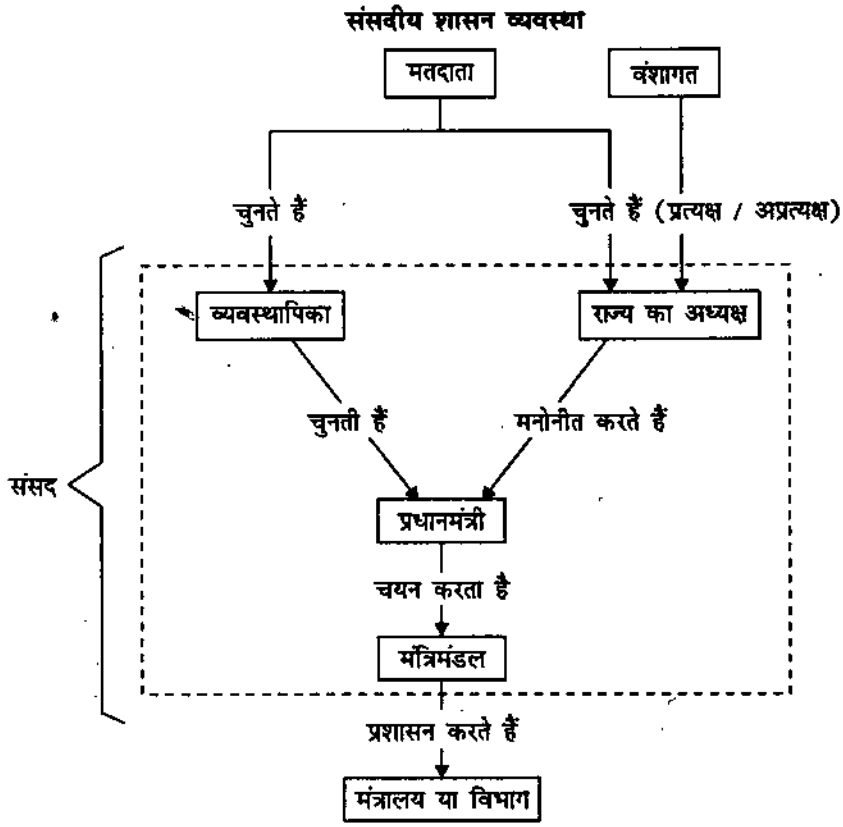

चित्र 2.1 संसदीय व्यवस्था की सामान्य संरचना

चित्र 2.1 अपने आपमें स्पष्ट है। संसद में क्या-क्या सम्मिलित होता है इसका संकेत भी इस चित्र से मिल जाता है। व्यवस्थापिका और कार्यपालिका दोनों मिलकर संसद कहलाते हैं तथा संसदीय प्रणाली में न कार्यपालिका का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व होता है और न ही व्यवस्थापिका संसद से अलग रहती है।

2.13 अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली (Presidential System of Government)

अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली का संगठन, संसदीय शासन प्रणाली से भिन्न सिद्धान्त पर आधारित है। शासन पद्धति में कार्यपालिका वैधानिक रूप से व्यवस्थापिका से पृथक् होती है। यह न तो उसमें से ली जाती है और न ही उसके प्रति उत्तरदायी होती है। इसके अर्थ व परिभाषा से इस व्यवस्था की प्रकृति व महत्त्व को समझना सरल होगा। इसलिये इसका अर्थ दिया जा रहा है।

नोट

अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली का अर्थ व परिभाषा
(The Meaning and Definition of Presidential Government)

अध्यक्षात्मक व्यवस्था के विशुद्धतम रूप में, राष्ट्रपति अनिवार्यत: व्यवस्थापिका से स्वतन्त्र होता है और उसे अपने सलाहकार मंडल, जिसे मन्त्रिमण्डल का नाम दिया जाने लगा है, की नियुक्ति करने, व्यवस्थापन प्रस्तावों की पहल करने, बजट बनाने इत्यादि में अत्यधिक नियन्त्रण प्राप्त रहता है। यद्यपि कार्यपालिका पृथक् रहती है तब भी कार्यपालिका व व्यवस्थापिका अन्त:निर्भरता की अवस्था में आने के लिए मजबूर होती है। व्यवस्थापिका प्रस्तावित विधेयक पारित नहीं करके व कार्यपालिका पारित व्यवस्थापन का निषेध करके एक दूसरे को अपंग बना सकते हैं। ऐसी अवस्था में प्रशासन कार्य ठप्प होने से तभी बच सकता है जब दोनों के बीच पारस्परिकता बनी रहे। परन्तु यह व्यवहार की बात है, जिसका उल्लेख आगे किया जायेगा।

गार्नर ने अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था की परिभाषा करते हुए लिखा है कि, "यह वह शासन व्यवस्था है जिसमें कार्यपालिका अपनी अवधि, शक्तियों और कार्यों के सम्बन्ध में व्यवस्थापिका से स्वतन्त्र रहती है।" इस शासन व्यवस्था में राज्य का प्रधान एक राष्ट्रपति होता है जो प्रजा द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से एक निश्चित अवधि के लिए चुना जाता है। वह कार्यपालिका का वास्तविक अध्यक्ष होता है तथा संविधान द्वारा निर्धारित समस्त कार्यपालिका शक्तियों का उपयोग करता है। उसकी कार्यपालिका शक्ति किसी अन्य शक्ति या संस्था के साथ बंटी हुई नहीं होती है। वह न विधानमण्डल का भाग होता है और न उसके प्रति उत्तरदायी रहता है। वह अपनी सहायता, सलाह व सहूलियत के लिए कुछ व्यक्तियों का 'सलाहकार मंडल' बनाता है। इस सलाहकार मण्डल के हर सदस्य का पूर्ण उत्तरदायित्व राष्ट्रपति के प्रति होता है जो उसके प्रसाद-पर्यन्त ही अपने पद पर रहता है। राष्ट्रपति उन्हें जब चाहे हटा सकता है तथा उनके द्वारा दी गई सलाह को ठुकरा सकता है। राष्ट्रपति निश्चित अवधि के लिए चुना जाता है तथा उसको 'विश्वासघात व देशद्रोह' को छोड़कर अन्य किसी भी अवस्था में बुरे प्रशासन के कारण नहीं हटाया जा सकता है। अवधि से पूर्व उसे केवल महाभियोग द्वारा ही पदमुक्त किया जा सकता है।

अध्यक्षात्मक प्रणाली में व्यवस्थापिका का राष्ट्रपति से पृथक् व स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। यह निश्चित अवधि के लिए चुनी जाती है। यह अपने आप बैठकों में आहूत होती है। वह निश्चित अवधि पूरी होने पर ही भंग होती है और व्यवस्थापन कार्य में राष्ट्रपति पर आश्रित नहीं होती है। समस्त व्यवस्थापन अधिकार इसमें निहित रहते हैं। इसी तरह, न्यायपालिका शक्तियों के लिए एक पृथक् स्वतन्त्र व सर्वोच्च न्यायालय होता है। इस प्रकार, अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त पर आधारित व्यवस्था है। शुद्ध रूप में अध्यक्षात्मक सरकार वह शासन व्यवस्था है जिसमें कार्यकारिणी व व्यवस्थापिका अपनी अवधि, अपनी शक्तियों और कार्यों के सम्बन्ध में एक-दूसरे से स्वतन्त्र व पृथक् रहती है।

अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली की विशेषताएँ
(Characteristics of Presidential Government)

वर्ने ने संसदीय प्रणाली की विशेषताओं के उल्लेख के साथ ही अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली की विशेषताओं को भी समझाया है। यह विशेषताएँ अमरीका की अध्यक्षात्मक व्यवस्था को ध्यान में रखकर निश्चित नहीं की गई हैं। यह तो वह विशेषताएँ हैं जिनके होने पर एक शुद्ध अध्यक्षीय शासन तन्त्र स्थापित होता है। यह विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

(क) व्यवस्थापिका एक व्यवस्थापिका ही रहती है (The assembly remains an assembly only)—व्यवस्थापिका एक व्यवस्थापिका ही रहती है। इसका अर्थ है कि अध्यक्षात्मक व्यवस्था में संसदीय व्यवस्था की तरह व्यवस्थापिका व कार्यपालिका मिलकर कोई नई संस्था नहीं बनाती है, अर्थात् व्यवस्थापिका से कार्यपालिका पूर्णत: पृथक् रहती है। कार्यपालिका न तो व्यवस्थापिका में से ली जाती है और न वह उसके प्रति उत्तरदायी ही होती है। व्यवस्थापिका महाभियोग को छोड़कर कार्यपालिका को हटाने का अधिकार भी नहीं रखती है। इस प्रकार अध्यक्षात्मक शासन में कार्यकारिणी व व्यवस्थापिका अपनी अवधि, शक्तियों और कार्यों के सम्बन्ध में एक-दूसरे से स्वतंत्र व पृथक् रहती है।

(ख) कार्यपालिका विभक्त नहीं होती है (The executive is no divided)—संसदीय प्रणाली की तरह अध्यक्षात्मक व्यवस्था में दोहरी कार्यपालिका राज्य का अध्यक्ष व सरकार का अध्यक्ष नहीं होती है। इसमें कार्यपालिका एकल होती है। एक राष्ट्रपति में ही राज्याध्यक्ष और शासनाध्यक्ष, दोनों की शक्तियाँ निहित होती हैं। राष्ट्रपति में औपचारिक व वास्तविक दोनों ही शक्तियाँ रहती हैं। संविधान द्वारा प्रदान समस्त कार्यपालिका शक्तियाँ राष्ट्रपति में रहती हैं। वह इन शक्तियों को किसी अन्य व्यक्ति या संस्था से बाँटता नहीं है। इन शक्तियों के प्रयोग में वह किसी के अधीन नहीं रहता है। उसकी सीमाएँ संविधान की व्यवस्थाओं के अलावा और कुछ भी नहीं होती हैं।

(ग) सरकार का अध्यक्ष ही राज्य का अध्यक्ष होता है (The head of the government is the head of the state)—अध्यक्षात्मक व्यवस्था में ध्वजमात्र व वास्तविक अध्यक्ष का अन्तर नहीं होता है। यहाँ सरकार का अध्यक्ष ही राज्य का अध्यक्ष भी होता है। इस पद्धति में राज्य-शक्ति, वास्तविक रूप में राज्य के अध्यक्ष द्वारा ही प्रयुक्त की जाती है और वह ध्वजमात्र व वास्तविक दोनों प्रकार का शासन होता है। इस प्रणाली में मुख्य, कार्यपालिका-राष्ट्रपति, की एक ओर यदि वास्तविक शक्ति प्राप्त होती है तो दूसरी ओर वह ध्वजमात्र कार्यपालिका के कार्य भी करता है। एक ओर यदि वह शासन का वास्तविक संचालन करता है तो दूसरी ओर वह आनुष्ठानिक (ceremonial) या औपचारिक गतिविधियों में भी राज्य का नेतृत्व करता है। इस प्रकार, अध्यक्षात्मक व्यवस्था में ध्वजमात्र व वास्तविक अध्यक्ष का अन्तर नहीं होता है। सरकार का अध्यक्ष ही राज्य का अध्यक्ष होता है।

(घ) राष्ट्रपति विभागाध्यक्षों की नियुक्ति करता है जो उसके मातहत होते हैं (The president appoints head of departments who are his subordinates)—राष्ट्रपति विभागाध्यक्षों की नियुक्ति करने में स्वतन्त्र होता है। यह उसके अधीन रहते हैं और उसके प्रति उत्तरदायी होते हैं। वे राष्ट्रपति के सहयोगी अथवा साथी नहीं होते वरन् उसके सेवक जैसे होते हैं। इनसे राष्ट्रपति परामर्श ले भी सकता है और नहीं भी तथा इसके परामर्श से वह किसी रूप में बँधा हुआ नहीं रहता है। इसका अर्थ है कि अध्यक्षात्मक व्यवस्था में तथाकथित 'कैबिनेट' संसदीय व्यवस्था के कैबिनेट के समान नहीं होता है। संसदीय प्रणाली में कैबिनेट के सदस्य प्रधानमंत्री के साथी, सहयोगी व उसके समकक्ष से होते हैं। दोनों व्यवस्थाओं में मंत्रियों की स्थिति को चित्र 2.2 (क) और (ख) में स्पष्ट किया जा सकता है।

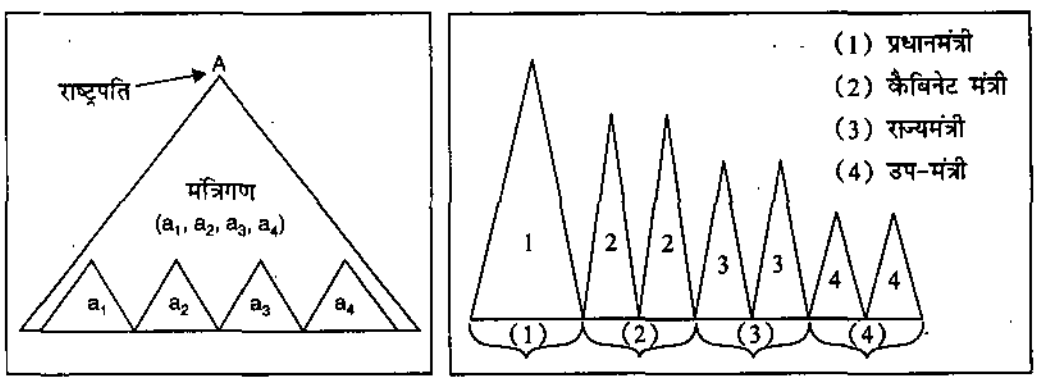

चित्र 2.2 (क) अध्यक्षात्मक व्यवस्था में राष्ट्रपति व 'कैबिनेट' के सदस्यों का सम्बन्ध
(ख) संसदीय व्यवस्था में प्रधानमंत्री व मन्त्रिमण्डल के सदस्यों का सम्बन्ध

चित्र 2.2 (क) और (ख) अपने आपमें स्पष्ट हैं इसलिये इसका विवेचन करने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ केवल इतना ध्यान रखना है कि अध्यक्षात्मक प्रणाली में राष्ट्रपति का मंत्रिमण्डल राष्ट्रपति से पृथक् नहीं वरन् उसके अधीन व सेवक के रूप में होता है, जबकि संसदीय व्यवस्था में मंत्रिगण प्रधानमंत्री के सहयोगी और साथी होते हैं।

(ङ) राष्ट्रपति ही एकमात्र कार्यपालिका होता है (The president is the sole executive)—राष्ट्रपति ही एकमात्र कार्यपालिका होता है, इसका यही तात्पर्य है कि कार्यपालिका शक्तियों के सदुपयोग या दुरुपयोग

नोट

का उत्तरदायित्व राष्ट्रपति अपनी शक्तियों का स्वयं या अपने सहयोगियों द्वारा प्रयोग करा सकता है, परन्तु इनका उत्तरदायित्व और किसी का नहीं हो सकता है। राष्ट्रपति निक्सन के काल में 'वाटरगेट' विवाद में यह स्पष्ट था कि राष्ट्रपति के मातहत कर्मचारियों ने शक्तियों का दुरुपयोग किया पर इस आधार पर राष्ट्रपति निक्सन अपने उत्तरदायित्व से बच नहीं सके और उन्हें त्यागपत्र देना पड़ा। राष्ट्रपति अपनी कार्यपालिका शक्तियों का प्रयोग असंख्य लोगों द्वारा करवाते हैं पर अन्ततः हर कार्य के लिए उत्तरदायित्व केवल उनका ही होता है, क्योंकि संविधान केवल राष्ट्रपति को ही कार्यपालिका के रूप में व्यवस्थित करता है। इस कारण कार्यपालिका शक्तियों का वही एकमात्र धारक होता है।

(च) व्यवस्थापिका के सदस्य प्रशासकीय पद के लिए और प्रशासकीय अध्यक्ष व्यवस्थापिका में सम्मिलित होने की पात्रता नहीं रखते हैं (The members of the assembly are not eligible for office in the administration and vice-versa)—अध्यक्षात्मक प्रणाली में कार्यपालिका के सदस्य विधान मण्डल के सदस्य नहीं होते हैं और न ही उसकी कार्यवाहियों में भाग लेते हैं। कार्यपालिका के सदस्य न विधेयक प्रस्तुत कर सकते हैं और न ही विधेयकों के पारण में हाथ बँटा सकते हैं। इसी तरह विधान मण्डल के सदस्यों को राष्ट्रपति प्रशासकीय विभागाध्यक्षों के पदों पर नियुक्त नहीं कर सकता है। राष्ट्रपति के मन्त्रिमण्डल में विधान मण्डल का सदस्य लिया ही नहीं जा सकता है। जबकि, संसदीय प्रणाली में कोई भी सदस्य मन्त्रिमण्डल में सामान्यतया तब ही लिया जाता है जबकि वह विधान मण्डल का सदस्य हो। अगर कोई गैर सदस्य ले भी लिया गया तो उसे विधान मण्डल की सदस्यता एक निश्चित अवधि में प्राप्त करनी होती है। अध्यक्षात्मक व्यवस्था में मन्त्रिमण्डल में केवल वही सम्मिलित हो सकता है जो विधान मण्डल का सदस्य नहीं होता है। यह कार्यपालिका व व्यवस्थापिका को पृथक् रखने के लिए आवश्यक है।

(छ) कार्यपालिका संविधान के प्रति उत्तरदायी रहती है (The executive is responsible to the constitution)—कार्यपालिका व्यवस्थापिका से पृथक् होने के कारण उसके प्रति उत्तरदायी भी नहीं रहती है। उसका आधार विधान मण्डल नहीं होता है। उसको संविधान द्वारा शक्तियाँ प्राप्त होती हैं और इसी कारण वह केवल संविधान के प्रति ही उत्तरदायी हो सकती है।

(ज) राष्ट्रपति न तो विधान मण्डल को भंग कर सकता है और न ही उसे अवपीड़ित या बाध्य कर सकता है (The president can not dissolve or coerce the assembly)—इस प्रणाली में विधान मण्डल को राष्ट्रपति के हरसम्भव हस्तक्षेप से मुक्त रखा जाता है। व्यवस्थापिका की निश्चित अवधि होती है। अवधि से पहले उसे कोई विघटित नहीं कर सकता है। राष्ट्रपति न उसकी बैठकें बुला सकता है, न ही बैठकें स्थगित कर सकता है। इस प्रकार कार्यपालिका को विधान मण्डल सम्बन्धी कोई अधिकार नहीं होने के कारण वह विधान मण्डल को किसी विशेष प्रकार के व्यवस्थापन या धन की स्वीकृति के लिए बाध्य भी नहीं कर सकती है। विधान मण्डल का पृथक् व्यक्तित्व होता है। उसमें कोई भी बाह्य हस्तक्षेप नहीं हो सकता है।

(झ) विधान मण्डल, सरकार के अन्य अंगों से अन्ततः सर्वोच्च रहता है तथा संसद की तरह कार्यपालिका व व्यवस्थापिका शाखाओं का संगलन या विलयन नहीं होता है (The assembly is ultimately supreme over the other branches of government and there is no fusion of the executive and the legislative branches as in parliament)—अध्यक्षात्मक सरकार में शासन-शक्तियों का समन्वय नहीं अपितु पृथक्करण होता है। कार्यपालिका, विधान मण्डल और न्यायपालिका अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र व सर्वोच्च होते हैं, परन्तु विभिन्न अंगों की सर्वोच्चता सापेक्ष है। अगर व्यवस्थापिका, न्यायपालिका व कार्यपालिका में गतिरोध उत्पन्न हो जाए तो शक्तियों के पृथक्करण के कारण इसे दूर करने की किसी व्यवस्था का अभाव शासन व्यवस्था में संवैधानिक संकट उत्पन्न कर देगा। इससे अन्ततः शासन ठप्प हो जाएगा। इससे बचाव के लिए अध्यक्षात्मक व्यवस्था में विधान मण्डल को अन्तिम रूप से कार्यपालिका व न्यायपालिका से सर्वोच्च रखा जाता है। न्यायपालिका जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करती है तथा कार्यपालिका भी जनता की सही अर्थों में प्रतिनिधि नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि उसका भी चुनाव सामान्यतया अप्रत्यक्ष ही होता है। ऐसी अवस्था में जनता के प्रतिनिधियों में सर्वोच्चता विद्यमान करके लोकतांत्रिक भावना की रक्षा की व्यवस्था की जाती है। विधान मण्डल की सर्वोच्चता के कारण यह महाभियोग द्वारा कार्यपालिका व न्यायपालिका के न्यायाधीशों को हटाने का काम, आवश्यकता पड़ने या परिस्थिति आने पर कर सकती है। शासन व्यवस्था को ठप्प

होने से रोकने के लिए ही यह सर्वोच्चता विधान मण्डल में निहित करना अध्यक्षात्मक व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण लक्षण है।

नोट

(ञ) कार्यपालिका प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचकों के प्रति उत्तरदायी रहती है (The executive is directly responsible to the electorate)—लोकतान्त्रिक व्यवस्था में हर निर्वाचित संस्था का निर्वाचकों के प्रति उत्तरदायित्व होता है। नियतकालिक चुनावों की व्यवस्था ही अपने आपमें इस उत्तरदायित्व को व्यावहारिक बनाने के लिए पर्याप्त है। अध्यक्षात्मक व्यवस्था में कार्यपालिका को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचक चुनते हैं। इस कारण निर्वाचकों के प्रति उसका प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व रहता है।

(ट) राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक शक्ति का कोई केन्द्र नहीं होता है (There is no focus of power in the political system)—अध्यक्षात्मक व्यवस्था में शक्तियों का पृथक्करण होता है। कार्यपालिका, व्यवस्थापिका व न्यायपालिका शक्तियाँ पृथक्-पृथक् संस्थाओं में निहित होती हैं। यह संस्थाएँ अपनी शक्तियों के प्रयोग में किसी अन्य संस्था पर आश्रित नहीं होती हैं इनमें से हर एक के अधिकार व शक्तियाँ अनन्य होती हैं। इस कारण, राजनीतिक व्यवस्था में शक्तियों के अनेक ध्रुव स्थापित हो जाते हैं। कार्यपालिका शक्तियों का केन्द्र राष्ट्रपति बन जाता है। विधायी शक्तियाँ विधान मण्डल में होने के कारण व्यवस्थापिका भी एक महत्त्वपूर्ण शक्ति केन्द्र बन जाती है। संविधान की व्याख्या करने व संविधान के प्रतिकूल समस्त कार्यपालिका व व्यवस्थापिका कार्यों को रद्द कर सकने के अधिकार के कारण सर्वोच्च न्यायालय तीसरा केन्द्र कहा जा सकता है। इस प्रकार संसदीय प्रणाली के विपरीत अध्यक्षात्मक व्यवस्था में शक्ति का कोई केन्द्र न होकर शक्तियाँ विभिन्न केन्द्रों में बिखरी रहती हैं। शासन ढांचा एक सावयवी एकता में गुँथा होता है, परन्तु शक्तियों का पृथक्करण इस एकता को समाप्त करता है। इस एकता के अभाव में राजनीतिक व्यवस्था में कोई ऐसा केन्द्र नहीं बचता जहाँ सभी शक्तियाँ केन्द्रित होती हों। इसलिए ही **वर्ने** का कहना है कि, "अध्यक्षात्मक प्रणाली की यह विशेषता है कि इसमें शक्ति का कोई निश्चित केन्द्र नहीं होता है।"

अध्यक्षात्मक प्रणाली की इन विशेषताओं के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि इस प्रणाली में राजनीतिक शक्ति बिखरी रहती है। शक्ति का कोई एक केन्द्र नहीं होने के कारण अध्यक्षात्मक व्यवस्था में कार्यपालिका, व्यवस्थापिका व निर्वाचक एक सूत्र में नहीं बंधे होते हैं। परिस्थितियों के अनुसार राजनीतिक शक्ति के केन्द्र इधर-उधर खिसकते रहते हैं। **राबर्ट सी. बोन** ने अध्यक्षात्मक व्यवस्था का शुद्ध प्रतिमान अव्यावहारिक माना है यही कारण है कि अमरीकी संविधान निर्माताओं ने शक्तियों के पृथक्करण के साथ ही साथ नियंत्रण व संतुलन का सिद्धान्त भी अपनाया है। शुद्ध अध्यक्षात्मक व्यवस्था में कार्यकारिणी, विधान मण्डल व निर्वाचकों का परस्पर सम्बन्ध **ला पालोम्बारा** ने निम्नलिखित ढंग से प्रस्तुत किया है।

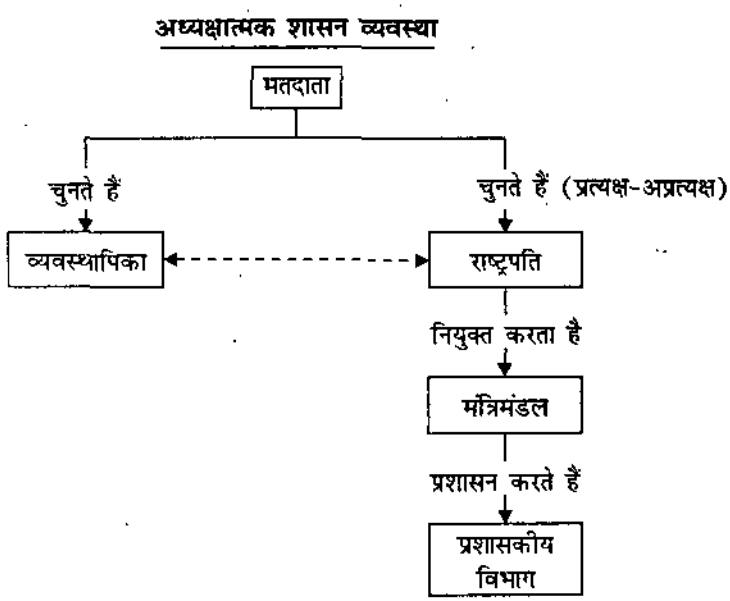

चित्र 2.3 अध्यक्षात्मक व्यवस्था की सामान्य संरचना

चित्र 2.3 से स्पष्ट है कि अध्यक्षात्मक व्यवस्था में राष्ट्रपति-कार्यपालिका व व्यवस्थापिका दोनों पृथक् होते हैं। इनमें सम्पर्कता केवल औपचारिक होती है इसलिये इन दोनों के बीच सम्बन्ध को बिन्दुकृत रेखा से दिखाया गया है। मन्त्रिमण्डल की यहाँ नियुक्ति होती है जबकि संसदीय प्रणाली में एक तरह से चयन होता है। इस तरह अध्यक्षात्मक शासन में कार्यकारिणी व विधान मण्डल दोनों पृथक् और स्वतंत्र निकाय होते हैं। यह शुद्ध रूप में ही अध्यक्षात्मक प्रणाली की संरचनाओं का चित्रण है। ऐसी प्रणाली व्यवहार में किसी भी देश में नहीं पाई जाती है।

छात्र क्रियाकलाप

1. प्राचीन अधिनायकतंत्र के प्रमुख लक्षण बताइए।

2. संसदीय शासन प्रणाली की विशेषताएँ बताइए।

2.14 सारांश (Summary)

- अब्राहम लिंकन के अनुसार–'लोकतंत्र शासन वह शासन है जिसमें शासन जनता का, जनता के लिए और जनता द्वारा हो।'
- एलेन बाल ने आधुनिक अधिनायकतंत्र के दो रूप माने हैं। उसने एक को सर्वाधिकारी शासन तथा दूसरे को स्वेच्छाचारी शासन के नाम से संबोधित किया है।
- जिस शासन व्यवस्था में शासन की संपूर्ण शक्ति एक केंद्रीय सरकार में सकेन्द्रित होती है, उसे एकात्मक शासन कहते हैं। इसके विपरीत जिस शासन प्रणाली में शासन की शक्तियाँ केन्द्र तथा राज्यों के बीच बँटी रहती हैं, उसे संघात्मक शासन कहते हैं।

  ब्रिटेन तथा फ्रांस की शासन प्रणाली एकात्मक है जबकि अमेरिका स्विट्जरलैंड की संघात्मक।
- अगर किसी राजनीतिक व्यवस्था में कार्यपालिका व व्यवस्थापिका शक्तियों का एक ही संरचनात्मक व्यवस्था में विलयन है तो उसे संसदीय शासन प्रणाली कहा जाता है और अगर ये शक्तियाँ कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका में अलग-अलग निहित हैं तो उसे अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली कहा जाता है।

- संघ एवं राज्यमंडल में मौलिक भेद है कि राज्यमंडल में सम्मिलित होने वाले राज्य, राज्यमंडल के निर्माण के बाद भी स्वतंत्र बने रहते हैं जबकि संघ में सम्मिलित होने वाले राज्य अपनी स्वतंत्रता खो देते हैं।

नोट

अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)

1. लोकतंत्र के अर्थ को समझाएँ तथा लोकतंत्र एवं अधिनायकतंत्र में अंतर स्पष्ट करें।
2. एकात्मक शासन का अर्थ एवं विशेषताओं को समझाएँ।
3. संघात्मक सरकार की विशेषताओं को बताएँ।
4. एकात्मक तथा संघात्मक सरकार में अंतर स्पष्ट करें।
5. संघ तथा राज्यमंडल में भेद बताएँ।
6. संसदीय तथा अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली के तुलनात्मक रूप से अंतर बताएँ।

संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)

1. तुलनात्मक राजनीति–चन्द्रदेव प्रसाद, ऐटलांटिक।
2. तुलनात्मक राजनीति–प्रो. रामानन्द गैरोला।
3. तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीति विश्लेषण–डॉ. डी. एस. यादव।

नोट

इकाई–III

राजनीतिक अर्थशास्त्र
(Political Economy)

संरचना (Structure)

3.1 उद्देश्य (Objectives)

3.2 प्रस्तावना (Introduction)

3.3 राजनीतिक अर्थव्यवस्था : परम्परागत एवं मार्क्सवाद
(Political Economy : Traditional and Marxism)

3.4 नव-परम्परागत एवं नव-मार्क्सवादी (Neo-Traditional and Neo-Marxism)

3.5 सारांश (Summary)

- अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)
- संदर्भ ग्रंथ (Reference books)

3.1 उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- राजनीतिक अर्थशास्त्र के विषय में जानने हेतु।
- राजनीति की परिभाषाओं को जानने हेतु।
- राजनीति और अर्थशास्त्र के अंतर को जानने हेतु।
- आर्थिक विकास के विषय में जानने हेतु।

3.2 प्रस्तावना (Introduction)

अर्थशास्त्र विषय का उद्‌भव 18वीं शताब्दी में 'राजनीतिक अर्थशास्त्र' (Political Economy) के रूप में हुआ था। यद्यपि राजनीतिक अर्थशास्त्र के प्रबल समर्थक **एडम स्मिथ** ने राजनीतिक अर्थशास्त्र शब्द का कभी प्रयोग नहीं किया तथापि उसके सभी अनुयायियों ने कालान्तर में अपनी कृतियों में इस शब्द का प्रयोग अवश्य किया है। एडम स्मिथ से पूर्व सन् 1767 में **सर जेम्स स्टेयुअर्ट** (Sir James Steuart) ने पहली बार इस शब्द का

नोट

प्रवर्तन करते हुए अपनी कृति 'Inquiry into the Principles of Political Economy' का प्रकाशन किया। **सर विलियम पैटी** (1623-87) को राजनीतिक अर्थशास्त्र का जनक माना जाता है जिन्होंने राजनीतिक गणित के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। उन्होंने सरकारी खर्च और प्रशासन के आंकड़ों के आधार पर तर्कशीलता की कला को विकसित किया। एडम स्मिथ वस्तुत: राजनीतिक अर्थशास्त्र को राज्य के विज्ञान अथवा विधि निर्माता (Science of a statesman or legislator) की शाखा मानते थे और इस रूप में इसके दो उद्देश्य बताते थे; **प्रथम**, राज्य के लोगों के जीवनयापन के लिए पर्याप्त राजस्व इकट्ठा करना तथा **दूसरा**, लोक कल्याण के लिए राज्य के लिए पर्याप्त राजस्व का प्रबन्ध करना। इस प्रकार राजनीतिक अर्थशास्त्र से अभिप्राय है राज्य एवं राज्य के लोगों के लिए पर्याप्त धन अथवा राजस्व का प्रबन्ध करना। रिकार्डो के अनुसार, राजनीतिक अर्थशास्त्र का उद्देश्य उन नियमों का निर्धारण करना है जो वितरण का नियामकीयकरण करें। अपने मित्र माल्थस को लिखे एक पत्र में उसने लिखा कि राजनीतिक अर्थशास्त्र का क्षेत्र अधिकतम वस्तुओं का संग्रह करना तथा उन संस्थाओं का विरोध है जो उत्पादन के मार्ग में बाधाएँ खड़ी करती हैं। कार्ल मार्क्स ने अपनी कृति 'Critique of Political Economy' (1859) में उस व्यवस्था की रूपरेखा प्रस्तुत की जिसमें राजनीतिक अर्थशास्त्र का अध्ययन सम्भव है। एंजिल्स ने राजनीतिक अर्थशास्त्र की परिभाषा करते हुए लिखा है–"Political Economy is the Science of the laws governing the production and exchange of the material means of subsistence in human society." आगे चलकर मार्शल ने लिखा, "Political Economy or Economics is a study of mankind in the ordinary business of life. It examines that part of individual and social action, which is most closely connected with the attainment and with the use of the material requisites of well being."

3.3 राजनीतिक अर्थव्यवस्था : परम्परागत एवं मार्क्सवाद (Political Economy : Traditional and Marxism)

महान आर्थिक संकट और द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद आर्थिक चिन्तन वृद्धि एवं विकास की समस्याओं से प्रभावित हुआ और इसने राजनीतिक अर्थशास्त्र को शैक्षणिक विचार मंथन की केन्द्रीय धुरी बना दिया। **रोबिन्स** जैसे विद्वानों ने शास्त्रीय और नवशास्त्रीय राजनीतिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों से असन्तुष्ट होकर राजनीतिक अर्थशास्त्र विषय को नीति सम्बन्धी समस्याओं के समाधान की खोज (Political Economy in the conception of Robbins 'is essentially a search for solutions to problems of policy') में प्रवृत्त कर दिया।

• **कौटिल्य** का 'अर्थशास्त्र' राजनीति और प्रशासनिक विज्ञान का ऐसा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय राजनीति है। अर्थशास्त्र में लोक प्रशासन विषय का विस्तृत और व्यवस्थित ढंग से विवेचन किया गया है। रिकार्डो ने अपनी कृति का नाम 'राजनीतिक अर्थव्यवस्था तथा करारोपण के सिद्धांत' (On the Principle of Political Economy and Taxation) तथा माल्थस ने अपनी रचना का नाम 'राजनीतिक अर्थव्यवस्था के सिद्धान्त' (Principles of Political Economy) रखा।

• **चार्ल्स लिण्डब्लोम** ने अपनी कृति 'Political and Markets' (1997) में लिखा है : "विश्व की सभी राजनीतिक प्रणालियों में अधिकांश राजनीति अपने आपमें अर्थशास्त्र भी है और अधिकांश अर्थशास्त्र राजनीति भी है..... अनेक युक्तियुक्त कारण यह मांग करते हैं कि बुनियादी सामाजिक यन्त्र-व्यवस्थाओं और प्रणालियों के विश्लेषण में राजनीति और अर्थशास्त्र को साथ-साथ रखना आवश्यक है।"

• आज राजनीति की उन परिभाषाओं को महत्त्व दिया जाता है जिनमें लोकचयन (Public Choice), निर्णयन (Decision Making), इष्ट वस्तुओं के लिए प्रतिस्पर्धा आदि निहित हैं।

• एक अध्ययन धारा की हैसियत से राजनीतिक अर्थशास्त्र सामान्य अध्ययन भी है और प्रत्यक्ष उदाहरणों पर आधारित भी है। इसमें एक आदर्श आर्थिक व्यवस्था के अनुमान आधारित दृष्टिकोण होते हैं,

नोट

लेकिन साथ ही प्रत्यक्ष तथ्यों पर भी जोर दिया जाता है। राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्था के आलोचक और समर्थक दोनों इसी तरीके का इस्तेमाल करते हैं।

• राजनीतिक अर्थशास्त्र नीतिपरक है, लेकिन इसे नीति विश्लेषक की एक शाखा नहीं माना जा सकता है। राजनीतिक अर्थशास्त्र में एक व्यापक नीतिगत प्राथमिकता के तहत नीतिगत सिफारिश करने का व्यावहारिक पहलू शामिल है जो इसे समष्टि और व्यष्टि दोनों तरह का अध्ययन बनाता है।

• राजनीतिक अर्थशास्त्र में विश्लेषण के ढाँचागत और व्यवहारगत दोनों स्तर शामिल होते हैं। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक ढाँचे राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत दायरे में शामिल होते हैं। दुर्बल और कठोर राज्य का सवाल, व्यवस्था या अव्यवस्था का सवाल, नरम या प्रभावी राज्य का सवाल राजनीतिक अर्थशास्त्र के लिए अहम होता है, लेकिन नेतृत्व, समाज में आम सहमति का स्तर, सामाजिक अनुशासन के स्तर और प्रेरणा के प्रश्नों पर भी राजनीतिक अर्थशास्त्र में गौर किया जाता है।

• *राजनीतिक अर्थशास्त्र अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय दोनों अर्थव्यवस्थाओं के अध्ययन पर जोर देता है,* क्योंकि एक को समझे बिना दूसरे को नहीं समझा जा सकता।

• राजनीतिक अर्थशास्त्र के वृहत्तर ढाँचे को निम्न श्रेणियों में बाँटा जा सकता है–1. उदारवाद, 2. व्यापारवाद, 3. साम्यवाद, 4. सामाजिक लोकतन्त्र और 5. विकासाधीन राज्य। राजनीतिक अर्थशास्त्र के विश्लेषण के दो अन्य ढाँचे अराजकतावाद और फासीवाद अब कमोबेश इतिहास में दफनाये जा चुके हैं।

वस्तुतः अर्थशास्त्र का सम्बन्ध समाज तथा व्यक्ति के आर्थिक क्रियाकलापों से है, इसे धन का विज्ञान भी कहा जाता है। समाज की उत्पादन व्यवस्था का अध्ययन तथा विश्लेषण इसका मुख्य ध्येय है। आधुनिक अर्थशास्त्र वस्तुतः पुराने राज्य के लिए 'आय इकट्ठा करने वाले ज्ञान' से विकसित हुआ जिसे शैशवावस्था में 'राजनीतिक अर्थशास्त्र' कहते थे। ***गुरुमुख निहाल सिंह*** *के अनुसार, "प्रारम्भिक दिनों में अर्थशास्त्र को राजनीति विज्ञान की एक* शाखा माना जाता था, उसके अध्ययन का विषय राज्य के लिए राजस्व प्राप्त करना था।" ग्रीक विद्वानों ने जब अर्थशास्त्र को राजनीतिक अर्थशास्त्र कहा तब उनका मतलब यही था कि अर्थशास्त्र राजनीतिक या राज्य का ही एक हिस्सा है। एडम स्मिथ ने अपनी कृति का नाम 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' रखा तथा अर्थशास्त्र को जनता एवं राज्य को समृद्ध करने वाला शास्त्र बताया। मैकियावेली, लॉक, मेडीसन, जेम्स मिल, बेंथम, जे.एस. मिल इत्यादि सभी लेखकों ने आर्थिक एवं राजनीतिक विषयों की एक साथ व्याख्या की है। 19वीं शताब्दी में महान दार्शनिक कार्ल मार्क्स ने राजनीति को अर्थशास्त्र या राजनीतिक अर्थशास्त्र का एक अंग माना। मार्क्स ने अर्थशास्त्र को राजनीति शास्त्र का अंग मानने के बजाय राजनीति को अर्थशास्त्र का एक पहलू मात्र माना। समाज का आर्थिक आधार राजनीतिक व्यवस्था का भी आधार है। राजनीतिक व्यवस्था केवल आर्थिक व्यवस्था पर स्थित ऊपरी ढाँचा है। अतः मार्क्सवादी सिद्धान्त ने आर्थिक तत्व को समाज के विश्लेषण में मुख्य तथा अटूट रूप से सम्बद्ध माना और समाज का अध्ययन भिन्न समाजशास्त्रों के माध्यम से करने को अनुचित माना। समाजशास्त्रों की एकता राजनीतिक अर्थशास्त्र में देखी गयी। अतः मार्क्सवाद अर्थशास्त्र तथा राजनीति में एक अभिन्न अटूट सम्बन्ध देखता है। आज बहुत से देशों में अर्थशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र के अध्ययन की एक ही संस्था है; जैसे 'लन्दन स्कूल ऑफ इकानॉमिक्स एण्ड पॉलिटिकल साइंस,' 'केनेडियन स्कूल ऑफ इकानॉमिक्स एण्ड पॉलिटिकल साइंस' आदि।

वस्तुतः राजनीतिक और आर्थिक दशाएँ एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं और राजनीतिक क्षमता एवं आर्थिक स्थिति के क्षीण एवं दुर्बल हो जाने पर राज्य में लोगों का जीवन प्रसन्न नहीं रह सकता। आर्थिक लोकतन्त्र के अभाव में राजनीतिक लोकतन्त्र व्यर्थ साबित हो रहा है। राज्य का आर्थिक विकास एवं समृद्धि राजनीतिक स्थिरता एवं राजनीतिक विकास की कुंजी है। आर्थिक असंतोष राजनीतिक क्रान्तियों को जन्म देता है। हर राजनीतिक क्रांति के पीछे आर्थिक कारण होते हैं। हर राजनीतिक विचारधारा जैसे–उदारवाद, समाजवाद, मार्क्सवाद, साम्यवाद, फासीवाद का आर्थिक आधार है। स्वतन्त्रता, समानता, न्याय, अधिकार तथा लोकतन्त्र जैसे राजनीतिक आदर्शों का मूल्यांकन आर्थिक आधार पर ही किया जा सकता है। केवल राज्य और राजनीति पर ही अर्थशास्त्र तथा अर्थव्यवस्था का प्रभाव

नोट

नहीं पड़ता है बल्कि अर्थशास्त्र पर भी राज्य, राजनीति एवं राजनीतिक नीतियों का गहरा प्रभाव पड़ता है। सरकारों में परिवर्तन, राजनीतिक अस्थिरता, युद्ध आदि अर्थव्यवस्था को प्रभावित करते हैं। राज्य आर्थिक नीतियों का निर्धारण एवं संचालन करता है। आर्थिक नियोजन राज्य के महत्त्वपूर्ण कार्यों में से एक है। राज्य उत्पादन, वितरण, मूल्य नियन्त्रण, मुद्रा, व्यापार, श्रमिक पूंजीपति सम्बन्ध, बजट, बैंकिंग, आयात-निर्यात आदि के मामले में मुख्य भूमिका निभाता है। आज का राज्य जैसा गैलब्रैथ कहते हैं 'औद्योगिक राज्य' है। आज अर्थशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र का अध्ययन एक-दूसरे से बिना जोड़े नहीं किया जा सकता। राजनीतिक व्यवस्थाओं का सम्पूर्ण अध्ययन आर्थिक व्यवस्था के विकास को देखे बिना नहीं किया जा सकता। तीसरी दुनिया के विकासशील देशों का अध्ययन उनके आर्थिक विकास की आवश्यकता के सन्दर्भ में ही किया जा सकता है। वर्ग संघर्ष में फंसे समाज में राजनीतिक स्थायित्व, मेल-मिलाप, सामंजस्य तथा सहयोग की तमाम समस्याएं आर्थिक ही हैं।

राजनीतिक अर्थशास्त्र का मुख्य उद्देश्य आर्थिक बदलाव की प्रक्रिया को समझाना है। आर्थिक बदलाव की प्रक्रिया सत्तारूढ़ नीति निर्माताओं की मंशा और दृष्टिकोण पर निर्भर करती है। **नार्थ** के अनुसार, आर्थिक बदलाव की प्रक्रिया अधिकांशतः एक सुविचारित प्रक्रिया होती है जो इस कार्यवाही के परिणाम के बारे में कर्ताधर्ताओं के दृष्टिकोण से प्रेरित होती है।

इस उपागम ने राजनीति और अर्थशास्त्र के अध्ययन में अन्तर-अनुशासनात्मक (Inter-disciplinary Approach) को बढ़ावा दिया है। इस उपागम में ऐसी संकल्पनाओं पर विशेष बल दिया जाता है जो राजनीतिक और आर्थिक गतिविधि दोनों में समान रूप से पायी जाती हैं, उदाहरणार्थ, संसाधनों का आवंटन मांगें, लागत, उपयोगिता, इष्टितमकरण आदि।

राजनीतिक अर्थशास्त्र अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय दोनों अर्थव्यवस्थाओं के अध्ययन पर बल देता है। यह कमजोर या शक्तिशाली राज्य, व्यवस्था या अव्यवस्था के प्रश्न, नरम या प्रभावी राज्य की प्रकृति, बहुराष्ट्रीय निगमों और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं विश्व बैंक जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों पर अपना ध्यान केंद्रित करता जा रहा है। यह उदारवादी एवं समाजवादी देशों की अर्थव्यवस्थाओं के साथ-साथ टिकाऊ विकास एवं पर्यावरणवाद जैसे नए मुद्दों के अध्ययन पर ध्यान देने लगा है।

भूमण्डलीकरण के इस युग में उदार पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के सुदृढ़ीकरण ने यह प्रतिपादित किया है कि जहाँ सोवियत संघ ने अपनी अर्थव्यवस्था को दुनिया से बहुत काटकर रखा वहां पश्चिम के साथ जुड़कर चलने वाले दक्षिण कोरिया, ताइवान, हांगकांग और सिंगापुर जैसे नव-औद्योगिक देशों की अर्थव्यवस्थाओं का कामकाज बहुत अच्छा रहा है और हाल ही में चीन की अर्थव्यवस्था ने पश्चिम के साथ जुड़कर शानदार परिणाम दिए हैं।

3.4 नव-परम्परागत एवं नव-मार्क्सवादी (Neo-Traditional and Neo-Marxism)

मार्क्स ने अपनी 'इकॉनॉमिक एंड फिलॉसफ़िक मैनुस्क्रिप्ट्स ऑफ़ 1844' (1844 की आर्थिक और दार्शनिक पांडुलिपियाँ) के अंतर्गत पूंजीवाद की आलोचना इस आधार पर की थी कि वह मनुष्य को मनुष्य नहीं रहने देता। वह मनुष्य की रचनात्मक शक्तियों और कोमल भावनाओं को नष्ट करके उसे अपनी रचना से, प्रकृति से, समाज से, यहाँ तक कि अपने-आपसे बेगाना बना देता है। ऐसी हालत में उसकी स्वतंत्रता की क्षमता नष्ट हो जाती है। उसकी स्वतंत्रता को वापस लाने का सही तरीका यह होगा कि उन परिस्थितियों को बदल दिया जाए जिनमें मनुष्य **'अलगाव'** या **'परायापन'** (Alienation) अनुभव करता है। मार्क्स ने **'पराएपन'** के चार स्तरों की पहचान की है–

(क) पहले-पहल, **इसमें मनुष्य अपने उत्पादन तथा उत्पादन प्रक्रिया से कट जाता है** क्योंकि पूंजीवादी समाज में कामगार से यह नहीं पूछा जाता कि किन वस्तुओं का उत्पादन किया जाए और कैसे किया जाए? उसका काम उसे रचनात्मक कार्य का संतोष नहीं दे पाता। उदाहरण के लिए, यदि सामंतवादी समाज में कोई कामगार एक

नोट

पूरी कमीज बनाता था तो उसे यह संतोष होता था कि उसने एक उपयोगी या कलात्मक वस्तु बनाई है, शायद व्यक्ति-विशेष के लिए बनाई है जिसे वह उस कमीज को पहने हुए देख सकता था। अत: अपनी रचना के साथ वह एक तरह का अपनापन महसूस करता था। परंतु पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत बड़े-बड़े कारखानों में कोई कामगार पूरी कमीज नहीं बनाता। कोई सिर्फ कॉलर बनाता है, कोई जेबें बनाता है, कोई कुछ और; कोई सिर्फ बटन लगाता है। पूरी कमीज के साथ कोई अपनापन अनुभव नहीं करता। उसे कौन पहनेगा, और उस पर वह कैसी लगेगी–यह भी कोई नहीं जानता।

(ख) दूसरे, **मनुष्य प्रकृति से पराया हो जाता है।** मशीनों पर काम करते-करते प्रकृति से उसका संबंध टूट जाता है और वह प्रकृति के रमणीय दृश्यों तथा वातावरण का रस नहीं ले पाता। जैसे खेत में काम करने वाला किसान काले-काले बादलों को देखकर झूमता है, या फसल कटने पर सारे किसान मिल-जुलकर नाचते-गाते हैं या त्योहार मनाते हैं, वैसी रसानुभूति कारखाने के मज़दूरों के लिए दुर्लभ हो जाती है। इस तरह मनुष्य प्रकृति से पराया हो जाता है और मशीन का पुर्ज़ा बनकर रह जाता है। उसे बंधा-बंधाया काम करना पड़ता है जिसमें एकरसता आ जाती है।

(ग) तीसरे, आर्थिक प्रणाली में प्रतिस्पर्धा इतनी प्रधान होती है कि **मनुष्य अपने सहचरों से भी कोई हार्दिक संबंध नहीं रख पाता।** इस प्रतिस्पर्धा में एक का लाभ दूसरे की हानि बन जाता है जिससे हितों का तीव्र संघर्ष पैदा हो जाता है। उदाहरण के लिए, जब एक मज़दूर बीमार पड़ता है तो उसकी जगह दूसरे बेकार बैठे मज़दूर को काम मिल जाता है।

(घ) अंतत: **मनुष्य अपने-आपसे भी पराया जो जाता है** क्योंकि विवशता का साम्राज्य उसके जीवन को पाशविक अस्तित्व का विषय बना देता है जिससे साहित्य, कला और संस्कृति के प्रति उसकी कोई अभिरुचि नहीं रह जाती। दूसरे शब्दों में, **पूंजीवादी प्रणाली मानवीय प्रतिभा और गुणों को उन परिस्थितियों का दास बना देती है जो पूंजी और संपत्ति के निजी स्वामित्व से पैदा होती है।** कामगार की इस दुर्दशा का मतलब यह नहीं कि **पूंजीपति** की मानवीयता ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। दरअसल, पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत स्वयं पूंजीपति भी मुद्रा की तानाशाही का गुलाम बन जाता है। अधिक-से-अधिक लाभ की लालसा उसे चैन नहीं लेने देती और वह इसके पीछे सारे मानवीय गुणों से शून्य होता चला जाता है। अत: संपन्नता के बीच भी वह सच्ची स्वतंत्रता से वंचित रहता है।

इस अलगाव से मुक्ति के लिए मार्क्स ने साम्यवाद (Communism) का रास्ता दिखाया है जिसमें उत्पादन के प्रमुख साधनों (Major Means of Production) पर सामाजिक स्वामित्व (Social Ownership) स्थापित हो जाएगा, और सब मनुष्य आत्म-प्रेरणा से उत्पादन की प्रक्रिया में अपना सर्वोत्तम योगदान करने को तत्पर होंगे। जब वे मिल-जुलकर रहेंगे, कंधे से कंधा मिलाकर काम करेंगे, और मिल-बाँटकर खायेंगे तो उनमें पराएपन का अहसास अपने-आप खत्म हो जाएगा।

मार्क्स के अलगाव-सिद्धांत के आलोचक यह तर्क देते हैं कि यह **तरुण मार्क्स** (Young Marx) के मन का विचार था; इसे एक कवि-सुलभ या साहित्यिक शैली में व्यक्त किया गया था जिसमें वैज्ञानिक यथातथ्यता (Scientific Precision) का नितांत अभाव था। यही कारण था कि **प्रौढ़ मार्क्स** (Mature Marx) की कृतियों में इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। परंतु इस सिद्धांत के समर्थक यह दावा करते हैं कि मार्क्स की आरंभिक कृतियों में जिस विचार को 'अलगाव' की संज्ञा दी गई है, वही प्रौढ़ मार्क्स की कृतियों में निजी संपत्ति (Private Property), वर्ग प्रभुत्व (Class Domination), श्रम-विभाजन (Division of Labour) और शोषण (Exploitation) जैसी वैज्ञानिक शब्दावली के रूप में व्यक्त हुआ है।

नोट

विचारधारा (Ideology)

मार्क्सवाद के अनुसार, सभ्यता के आरंभ से ही समाज धनवान और निर्धन (Haves and Have-nots)– इन दो परस्पर विरोधी वर्गों में बँट जाता है। धनवान वर्ग सामाजिक उत्पादन के साधनों का स्वामी होता है; वही राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करके प्रभुत्वशाली वर्ग (Dominant Class) बन जाता है। निर्धन वर्ग अपने श्रम के सहारे निर्वाह करने के लिए विवश होता है; उसके पास कोई शक्ति नहीं होती; वह पराधीन वर्ग (Dependent Class) की स्थिति में रहता है। प्रभुत्वशाली वर्ग उन मूल्यों और मान्यताओं को सर्वहित के अनुरूप सिद्ध करने की कोशिश करता है जिनसे उसके अपने हित सधते हैं। इन मूल्यों और मान्यताओं के समुच्चय को 'विचारधारा' कहा जाता है जो प्रभुत्वशाली वर्ग के शासन को वैधता (Legitimacy) प्रदान करती है। सामाजिक विकास की प्रक्रिया में मनुष्यों की भौतिक आवश्यकताएँ (Material Needs) आगे बढ़ जाती हैं, परंतु उनकी सामाजिक चेतना पिछड़ जाती है। चूँकि प्रचलित 'विचारधारा' जनसाधारण के मन में भ्रांति पैदा करके उन्हें अपने शोषण (Exploitation) के मूल कारण को पहचानने से रोकती है, इसलिए मार्क्स ने इसे 'मिथ्या चेतना' (False Consciousness) की संज्ञा दी है।

हंगरी के मार्क्सवादी विचारक **जार्ज ल्यूकाच (1885-1971)** ने अलगाव के सिद्धांत को विचारधारा (Ideology) की मार्क्सवादी धारणा के साथ जोड़कर विकसित किया है। मार्क्स ने विचारधारा की व्याख्या 'मिथ्या चेतना' (False Consciousness) के रूप में दी थी। ल्यूकाच ने अपनी चर्चित कृति 'हिस्टरी एंड क्लास कांशसनेस' (इतिहास और वर्ग चेतना) (1923) के अंतर्गत लिखा है कि मार्क्स का इतिहास-सिद्धांत (Theory of History) सही तो है, परंतु वह अधूरा है। इसके साथ यह संदर्भ जोड़ना जरूरी है कि ऐतिहासिक विकास के विभिन्न बिन्दुओं पर विभिन्न वर्ग संसार को भिन्न-भिन्न रूप में देखते हैं। पूंजीवादी समाज में सभी वर्ग अपनी-अपनी तरह की 'मिथ्या चेतना' से ग्रस्त हैं। वास्तविक समस्या यह है कि जो चेतना मूलत: व्यक्ति की वर्ग स्थिति (Class Situation) से निर्धारित होती है, उसे इस संदर्भ से हटाकर सामाजिक संबंधों के यथार्थ जगत् का साक्षात्कार कैसे किया जाए? **ल्यूकाच** ने आशा व्यक्त की कि सर्वहारा (Proletariat) वर्तमान सामाजिक-आर्थिक जीवन में अपने बढ़ते हुए 'अजनबीपन' के कारण एक विलक्षण ऐतिहासिक स्थिति में पहुँच गया है जहाँ से वह यथार्थ विश्वजनीन चेतना (Universal Consciousness) प्राप्त कर सकता है। देखा जाए तो ल्यूकाच का अलगाव-सिद्धांत मार्क्स की अपेक्षा हेगेल (1770-1831) के अलगाव-सिद्धांत के निकट आता है। इसका सारांश यह है कि पूंजीवाद के अंतर्गत कामगार-वर्ग अपनी वर्ग-स्थिति से अलगाव के कारण वस्तुपरक ज्ञान (Objective Knowledge) प्राप्त करने की क्षमता विकसित कर सकता है।

छात्र क्रियाकलाप

1. कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' का मुख्य प्रतिपाद्य विषय क्या है?

2. सर जेम्स स्टुअर्ट ने 'राजनीतिक अर्थशास्त्र' शब्द का पहली बार प्रयोग अपनी कौन-सी कृति में किया?

नोट

3.6 सारांश (Summary)

- प्रारंभिक दिनों में अर्थशास्त्र को राजनीति विज्ञान की एक शाखा माना जाता था, उसके अध्ययन का विषय राज्य के लिए राजस्व प्राप्त करना था।
- वस्तुतः राजनीतिक और आर्थिक दशाएँ एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं और राजनीतिक क्षमता एवं आर्थिक स्थिति के क्षीण एवं दुर्बल हो जाने पर राज्य में लोगों का जीवन प्रसन्न नहीं रह सकता।
- आर्थिक लोकतंत्र के अभाव में राजनीतिक लोकतंत्र व्यर्थ साबित हो रहा है। राज्य का आर्थिक विकास एवं समृद्धि राजनीतिक स्थिरता एवं राजनीतिक विकास की कुंजी है।

अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)

1. अर्थशास्त्र विषय का उद्भव कब और किस रूप में हुआ था?
2. राजनीतिक अर्थशास्त्र की परिभाषा करते हुए एंजिल्स ने क्या लिखा है?
3. राजनीतिक अर्थशास्त्र के वृहत्तर ढाँचे को किन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है?
4. राजनीतिक अर्थशास्त्र कौन-से नए मुद्दों के अध्ययन पर ध्यान देने लगा है?

संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)

1. तुलनात्मक राजनीति–चन्द्रदेव प्रसाद, ऐटलांटिक।
2. तुलनात्मक राजनीति–सी. वी. गेना, विकास पब्लिशिंग हाउस।
3. तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीति विश्लेषण–डॉ. डी. एस. यादव।

अध्याय–II

इकाई–I

संविधानवाद
(Constitutionalism)

संरचना (Structure)

1.1 उद्देश्य (Objectives)

1.2 प्रस्तावना (Introduction)

1.3 संविधान का अर्थ और परिभाषा (Meaning and Definition of the Constitution)

1.4 संवैधानिक सरकार का अर्थ (Meaning of Constitutional Government)

1.5 संविधान व संविधानवाद में अन्तर
(Difference Between Constitution and Constitutionalism)

1.6 संविधानवाद की सामान्य विशेषताएँ (General Characteristics of Constitutionalism)

1.7 संविधानवाद की अवधारणाएँ (Concepts of Constitutionalism)

1.8 संविधान राज्य की उत्पत्ति एवं संविधानवाद का विकास (Origin of the Constitutional State and Evolution of the Constitutionalism)

1.9 स्वतंत्रता के विविध आयाम (Dimensions of Liberty)

1.10 सत्ता का अर्थ (The Meaning of Authority)

1.11 सत्ता और शक्ति (Authority and Power)

1.12 सत्ता के स्रोत (Sources of Authority)

1.13 सत्ता के कार्य (Functions of Authority)

1.14 सत्ता की अवधारणा : मैक्स वेबर के विचार
(The Concept of Authority : Views of Max Weber)

1.15 सारांश (Summary)

- अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)
- संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)

1.1 उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- संविधान के अर्थ को समझने में;
- संविधान के विकास का अध्ययन करने में;
- स्वतंत्रता के विविध आयाम की जानकारी प्राप्त करने में;
- ब्रिटेन तथा अमेरिका में संविधान के विकास को समझने में;
- स्वतंत्रता और सत्ता या अधिकारिता में अंतर को समझने में।

1.2 प्रस्तावना (Introduction)

मानव समाज में 'राजनीतिक शक्ति' का प्रादुर्भाव कब और किन परिस्थितियों में हुआ यह अभी तक कल्पना का ही विषय है। परन्तु जब से प्रारम्भिक समाज का उदय हुआ, शायद तभी से ही 'राजनीतिक शक्ति' को जन्म देने वाली परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं। सम्भवतया इसी शक्ति के प्रयोग से आदिकालीन मानव समाज में कुछ व्यवस्था व स्थिरता की स्थापना हुई। इसलिए 'राजनीतिक शक्ति' का हर समाज में आरम्भ से ही महत्त्व माना जा सकता है। परन्तु ज्यों-ज्यों मनुष्य में सामाजिकता बढ़ती गयी और संगठित जीवन का महत्त्व व उपयोगिता स्पष्ट होने लगी, त्यों-त्यों व्यवस्थित जीवन को व्यावहारिक बनाने वाली 'राजनीतिक शक्ति' में अवपीड़न व बाध्यता का तत्व समाविष्ट होता गया। एक ओर मनुष्य ने राजनीतिक शक्ति की सर्वोच्चता को स्वीकार किया किन्तु दूसरी ओर उस पर प्रभावकारी नियन्त्रणों को भी व्यवस्था की ताकि व्यक्ति की स्वतन्त्रता और सुरक्षा के लिए शासक आगे बढ़ सकें, और साथ ही इसके उल्लंघन के लालच से रोका भी जा सके। यही कारण है कि शुरू से ही शासकों को कानूनों, सुरक्षाओं और सन्तुलन शक्तियों के माध्यम से नियन्त्रित और प्रतिबन्धित करने का प्रयास किया जाता रहा है। यह एक मान्य सिद्धान्त बन गया है कि सम्पूर्ण राजनीतिक तन्त्र को एक संवैधानिक विधि के नियन्त्रण में होना चाहिए तथा राजनीतिक शक्ति के दुरुपयोग से बचाव की प्रक्रिया का उल्लेख एक ऐसे दस्तावेज में होना चाहिए, जिसे सामान्यत: संविधान कहा जाता है। अत:-इसमें निहित मान्यताओं, मूल्यों और राजनीतिक आदर्शों की प्राप्ति के लिए शासकों को नियमित अधिकार क्षेत्र में ही रहने के लिए बाध्य करने की संवैधानिक नियन्त्रण व्यवस्था को 'संविधानवाद' कहा जाता है।

अत: संविधानवाद वह राजनीतिक व्यवस्था है जिसका संचालन विधियों और नियमों द्वारा होता है, न कि व्यक्तियों द्वारा। यह लोकतान्त्रिक भावना और व्यवस्था पर आधारित है जिसमें शक्तियों के केन्द्रीयकरण और निरंकुश सभ्यता का कोई स्थान नहीं है। वास्तव में संविधान और संवैधानिक सरकार, संविधानवाद की पूर्वगामी परिस्थितियाँ हैं। संविधानवाद केवल उसी राजनीतिक व्यवस्था में सम्भव है, जहाँ संविधान हो और इस संविधान द्वारा राजनीतिक शक्ति के प्रयोगकर्ताओं की न केवल भूमिका निर्धारित की जाए, अपितु इस भूमिका की व्यावहारिकता की व्यवस्था भी की जाए, अर्थात् सरकार संविधान की व्यवस्था के अनुरूप ही संचालित हो और इसे व्यवहार में सम्भव बनाने के लिए संवैधानिक नियन्त्रणों व प्रतिबन्धों की प्रभावशाली व्यवस्था हो।

'संविधानवाद' का अर्थ समझने से पूर्व यह जरूरी है कि हम पहले संविधान और संवैधानिक सरकार के अर्थ को समझें क्योंकि ये दोनों ही संविधानवाद के आधार हैं। वास्तव में 'संविधान' और 'संवैधानिक सरकार' संविधानवाद की पूर्वगामी परिस्थितियाँ हैं।

संविधानवाद
(Constitutionalism)

नोट

1.3 संविधान का अर्थ और परिभाषा (Meaning and Definition of the Constitution)

मानव-शरीर के सन्दर्भ में 'संविधान' के अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द 'कांस्टिट्यूशन' का प्रयोग मानव-शरीर के ढाँचे व उसकी बनावट के लिए किया जाता है। जिस प्रकार मानव-शरीर के सन्दर्भ में 'कांस्टिट्यूशन' का अर्थ शरीर के गठन से होता है, उसी प्रकार राजनीति विज्ञान में 'कांस्टिट्यूशन' का तात्पर्य राज्य के ढाँचे तथा संगठन से होता है। संविधान की कतिपय महत्त्वपूर्ण परिभाषाएँ इस प्रकार दर्शायी गयी हैं–

डायसी–"संविधान उन कानूनों के समूह को कहते हैं, जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से राज्य की सर्वोच्च सत्ता की शक्ति के विवरण और प्रयोग को निश्चित करते हैं।"

लॉस्की–"नियमों का वह भाग संविधान कहलाता है, जिसके द्वारा यह निर्धारित होता है कि ऐसे नियम किस प्रकार बनाये जाएँ, किस प्रकार से बदले जाएँ और कौन उन्हें बनाये।"

गेटल–"वे मौलिक सिद्धान्त जिनके द्वारा किसी राज्य का स्वरूप निर्धारित होता है संविधान कहलाते हैं।"

ऑस्टिन–"संविधान वह है, जो सर्वोच्च शासन की रचना को निर्धारित करता है।"

के॰ सी॰ ह्वीयर–"संविधान नियमों का वह समूह है जो उन उद्देश्यों की प्राप्ति करता है, जिनके लिए शासन-शक्ति प्रवर्तित की जाती है और जो शासन के उन विविध अंगों की सृष्टि करता है, जिनके माध्यम से सरकार अपनी शक्ति का प्रयोग करती है।"

फाइनर–"संविधान आधारभूत राजनीतिक संस्थाओं की व्यवस्था होती है।"

गिलक्राइस्ट–"संविधान उन लिखित या अलिखित नियमों अथवा कानूनों का समूह होता है जिनके द्वारा सरकार का संगठन, सरकार की शक्तियों का विभिन्न अंगों में वितरण और इन शक्तियों के प्रयोग के सामान्य सिद्धान्त निश्चित किये जाते हैं।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि किसी भी राज्य के संविधान द्वारा प्रमुख रूप से निम्नलिखित तीन बातें निश्चित की जाती हैं–

(1) व्यक्ति-व्यक्ति का पारस्परिक सम्बन्ध।

(2) व्यक्ति और राज्य का पारस्परिक सम्बन्ध।

(3) सरकार के संगठन, उसके ढाँचे और सरकार के विविध अंगों का पारस्परिक सम्बन्ध।

इन तथ्यों के आधार पर संविधान के बारे में कहा जा सकता है कि, "संविधान राजकीय आचरण का वह विधान होता है, जिसके द्वारा व्यक्ति-व्यक्ति और व्यक्ति एवं राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध को निश्चित किया जाता है और जिसके द्वारा सरकार के विविध अंगों का स्वरूप एवं गठन, उनकी शक्ति और सरकार के विविध अंगों का पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित किया जाता है।"

1.4 संवैधानिक सरकार का अर्थ (Meaning of Constitutional Government)

सामान्यत: यह समझा जाता है कि जिस राज्य में संविधान हो वहाँ संवैधानिक सरकार भी होती है, परन्तु वास्तव में यह सही नहीं है। हर राज्य में किसी-न-किसी प्रकार का संविधान तो अनिवार्यत: होता है, पर हर ऐसे राज्य में संवैधानिक सरकार भी हो यह जरूरी नहीं है। संवैधानिक सरकार वह सरकार होती है जो संवैधानिक

व्यवस्था के अनुसार गठित, सीमित तथा नियन्त्रित होती है तथा व्यक्ति विशेष की इच्छाओं के बदले केवल कानून के अनुसार संचालित होती है। इस दृष्टि से हिटलर और मुसोलिनी के जमाने में जर्मनी और इटली में संविधान तो थे लेकिन संवैधानिक सरकारें नहीं थीं, क्योंकि इन दोनों ही देशों में राजनीतिक आचरण का आधार संविधान न होकर हिटलर और मुसोलिनी अथवा नाजी व फासी पार्टी की महत्त्वाकांक्षाएँ थीं। अत: राज्य में केवल संविधान की उपस्थिति सरकार को संवैधानिक नहीं बनाती। संवैधानिक सरकार कानून द्वारा नियन्त्रित और प्रतिबन्धित सरकार होती है। ऐसी सरकार से युक्त राजनीतिक व्यवस्था में ही संविधानवाद सम्भव है।

1.5. संविधान व संविधानवाद में अन्तर (Difference Between Constitution and Constitutionalism)

सामान्यत: संविधान और संविधानवाद को पर्यायवाची माना जाता है तथापि दोनों में काफी अन्तर है, जो इस प्रकार है:

(1) संविधान संगठन का प्रतीक है जबकि संविधानवाद विचारधारा का। संविधान में सरकार, व्यक्ति और सामाजिक संगठनों के सम्बन्धों का वर्णन होता है। दूसरी ओर संविधानवाद में देश के मूल्य, विश्वास और राजनीतिक आदर्श आते हैं जिनसे मिलकर विचारधारा बनती है और इसी विचारधारा का प्रतीक संविधानवाद कहलाता है।

(2) संविधान प्राय: निर्मित होते हैं। दूसरी ओर संविधानवाद हमेशा विकास का परिणाम रहा है। मूल्यों और आस्थाओं का यह विकास परम्पराओं, संस्थाओं और शासन सम्बन्धी तत्वों में विश्वास के कारण होता रहता है।

(3) प्राय: हर समाज का एक लक्ष्य होता है और इस लक्ष्य की प्राप्ति की व्यवस्था ही संविधानवाद है। संविधान साधनयुक्त धारणा है जबकि संविधानवाद साध्ययुक्त।

(4) संविधानवाद अनेक देशों में एक जैसा हो सकता है। संस्कृति, मूल्य, विश्वास और राजनीतिक आदर्श भी कई देशों के एक जैसे हो सकते हैं। संविधानवाद की समानता के बावजूद हर देश का संविधान अलग-अलग होता है।

(5) संविधान का औचित्य विधि के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है जबकि संविधानवाद में आदर्शों के औचित्य का प्रतिपादन मुख्यत: विचारधारा के आधार पर होता है।

1.6 संविधानवाद की सामान्य विशेषताएँ (General Characteristics of Constitutionalism)

संविधानवाद की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:

(1) संविधानवाद मूल्य सम्बद्ध अवधारणा है–संविधानवाद का सम्बन्ध राष्ट्र के जीवन-दर्शन से है। यह उन मूल्यों, विश्वासों व राजनीतिक आदर्शों की ओर संकेत करता है जो राष्ट्र के हर नागरिक को प्रिय है। जो हर राष्ट्र का जीवन आधार होते हैं। यह संवैधानिक दर्शन राजनीतिक समाज को अभिजनों द्वारा प्रदान किया जाता है।

(2) संविधानवाद संस्कृति सम्बद्ध अवधारणा है–संविधानवाद की धारणा हर जगह व स्थान विशेष की संस्कृति से सम्बद्ध पायी जाती है। हर देश के आदर्श, मूल्य व विचारधाराएँ उस देश कीं संस्कृति की ही उपज होते हैं।

(3) संविधानवाद गत्यात्मक अवधारणा है–संविधानवाद में विशिष्ट बात यह है कि इसमें स्थायित्व के साथ ही साथ गत्यात्मकता भी पायी जाती है। यही कारण है कि यह प्रगति में बाधक नहीं, प्रगति का साधक बना रहता है। इसकी गतिशील प्रकृति अति आवश्यक है, क्योंकि समय परिवर्तन के साथ मूल्यों में परिवर्तन आता है तथा संस्कृति विकसित होती है। यह समाज के वर्तमान में प्रिय मूल्यों के साथ ही उसकी भविष्य की आकांक्षाओं का प्रतीक भी होता है।

(4) संविधानवाद समभागी अवधारणा है–एक राष्ट्र के मूल्य, विश्वास व राजनीतिक आदर्श एवं संस्कृति के प्रति अन्य देशों में भी निष्ठा हो सकती है। अत: कई देशों के राजनीतिक आदर्श, आस्थाएँ व मान्यताएँ समान हो सकते हैं। ऐसे देशों में संविधानवाद आधारभूत समानताएँ रखता है। उदाहरणार्थ, पाश्चात्य संस्कृति वाले देशों में संविधानवाद में समानता पायी जाती है।

(5) *संविधानवाद साध्य से सम्बन्धित अवधारणा है*–*संविधानवाद मूलत: साध्यों से सम्बन्धित* अवधारणा है, किन्तु यह साधनों की पूर्णतया अवहेलना नहीं कर सकता। फिर भी संविधानवाद मुख्यत: लक्ष्यों का ही सूचक है। इस प्रकार जब संविधानवाद साध्य-प्रदान अवधारणा है तो इसका अर्थ उन आदर्शों से है जिन्हें समाज-साध्य के रूप में स्वीकार करता है।

(6) संविधानवाद संविधान पर आधारित अवधारणा है–सामान्य परिस्थितियों में हर लोकतान्त्रिक राजनीतिक समाज के मूल्यों व गन्तव्यों का संविधान में स्पष्ट उल्लेख किया जाता है। ऐसे संविधान पर ही संविधानवाद आधारित रहता है। यही उन संस्थागत प्रक्रियाओं का संगठन व स्थापना करते हैं जिनसे संविधानवाद व्यावहारिक व वास्तविक बनता है।

1.7 संविधानवाद की अवधारणाएँ (Concepts of Constitutionalism)

पिनोक व स्मिथ के अनुसार 'उदार लोकतन्त्रों' की अवधारणा ही संविधानवाद की सही धारणा है। किन्तु यह मान्यता ठीक नहीं है। यदि संविधानवाद राजनीतिक समाज के आदर्शों, मूल्यों और मान्यताओं का बोध कराता है तो ये आदर्श विभिन्न राष्ट्रों में अलग-अलग भी हो सकते हैं। अत: भिन्न संस्कृति वाले देशों में संविधानवाद की अवधारणा भिन्न हो सकती है। अत: उद्देश्यों और उद्देश्यों की प्राप्ति के साधनों के आधार पर संविधानवाद की तीन अवधारणाएँ हो सकती हैं:

(1) संविधानवाद की पाश्चात्य अवधारणा।

(2) संविधानवाद की साम्यवादी अवधारणा।

(3) संविधानवाद की विकासशील लोकतन्त्रों की अवधारणा।

(1) संविधानवाद की पाश्चात्य अवधारणा (Western Concept of Consti-tutionalism)– पाश्चात्य संविधानवाद में साध्य-तत्व 'व्यक्ति की स्वतन्त्रता' और साधन-तत्व 'सीमित सरकार' है। उदार लोकतन्त्रों में संविधानवाद का प्रमुख आधार संस्थागत व प्रक्रियात्मक प्रतिबन्धों से नियन्त्रित सरकार है। ये प्रतिबन्ध ही राजनीतिक शक्ति द्वारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता के हनन से बचाव व्यवस्था करते हैं। इसलिए पाश्चात्य संविधानवाद में राजनीतिक शक्ति पर सुनिश्चित नियन्त्रण व्यवस्था ही मूल तत्व है।

पाश्चात्य संविधानवाद के दार्शनिक आधार हैं–(*i*) व्यक्ति की स्वतन्त्रता; (*ii*) राजनीतिक समानता; (*iii*) सामाजिक व आर्थिक न्याय; तथा (*iv*) लोक कल्याण की साधना।

इन दार्शनिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए राजनीतिक शक्ति को 'साधन' के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। इसके लिए राजनीतिक शक्ति का संस्थाकरण किया जाता है अर्थात् राजनीतिक शक्ति व्यक्तियों के स्थान पर संस्थाओं में निहित की जाती है। शक्ति को संस्थाओं में निहित करके दोहरा उद्देश्य प्राप्त किया जाता है। पहला, सरकार को सीमित रखा जाता है तथा दूसरा, सरकार को उत्तरदायी बनाया जाता है। किसी भी प्रकार की संस्थात्मक व्यवस्था सरकार को तभी सीमित और उत्तरदायी रख सकती है जब राजनीतिक व्यवस्था लोकतान्त्रिक व प्रतिनिधात्मक हो और समाज व्यवस्था बहुल एवं खुली हो। सरकार को सीमित करने तथा उसे उत्तरदायी रखने की सभी संस्थागत व्यवस्थाएँ निम्न अवस्थाओं में ही प्रभावशाली बन सकती हैं–(*i*) सरकार लोकतान्त्रिक ढंग से संगठित हो; (*ii*) सरकार प्रतिनिधात्मक हो; (*iii*) बहुल एवं खुली सामाजिक व्यवस्था हो आदि।

राजनीतिक शक्ति को नियन्त्रित और उत्तरदायी रखने के लिए पाश्चात्य समाजों में अनेकों संस्थागत व्यवस्थाएँ की जाती हैं, जैसे (*i*) विधि का शासन; (*ii*) मौलिक अधिकारों व स्वतन्त्रताओं का प्रावधान;

(*iii*) राजनीतिक शक्तियों का विभाजन–शक्ति पृथक्करण एवं नियन्त्रण-सन्तुलन आदि; (*iv*) स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायपालिका।

पाश्चात्य संविधानवाद में राजनीतिक उत्तरदायित्व को व्यवहार में प्राप्त करने के लिए राजनीतिक शक्ति के एकाधिकार से बचाव की व्यवस्था की जाती है। ऐसा माना जाता है कि राजनीतिक शक्ति के एकाधिकार से बचाव व्यवस्था प्रतिस्पर्द्धात्मक राजनीति में निहित रहती है। प्रतिस्पर्द्धात्मक राजनीति तभी रहती है जब निम्न संस्थात्मक व्यवस्था हो–(*i*) नियमित चुनाव; (*ii*) राजनीतिक दलों व समूहों की स्थापना का वातावरण; (*iii*) समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता; (*iv*) लोकमत की प्रभावशीलता; (*v*) सामाजिक बहुलवाद की विद्यमानता।

ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस, स्विट्जरलैण्ड आदि देशों में उपरोक्त तत्व वहाँ के संविधान में मौजूद हैं। अत: यह कहा जा सकता है कि ये संविधान संविधानवाद की 'उदार लोकतन्त्रीय' अवधारणा का प्रतिनिधित्व करते हैं।

(2) संविधानवाद की साम्यवादी अवधारणा (Marxist Concept of Constitutionalism)–'सरकार' और 'राजनीतिक शक्ति' के बारे में साम्यवादियों की धारणा पाश्चात्य उदारवादी धारणा से एकदम भिन्न है। साम्यवादी 'सरकार' को पूँजीपतियों के हाथ की कठपुतली मानते हैं जो धनिक वर्ग की निर्धन वर्गों से रक्षा का ही कार्य करती है। उनके अनुसार, राजनीतिक शक्ति का आधार आर्थिक शक्ति है। जिनके हाथ में आर्थिक शक्ति होगी उसी के हाथ में राजनीतिक शक्ति भी आ जायेगी। इसलिए पूँजीपति ही राजनीतिक शक्ति के धारक व संचालक होते हैं।

साम्यवादी सैद्धान्तिक दृष्टि से सरकार को नियन्त्रित करने की व्यवस्था को स्वीकार करते हुए भी वे पाश्चात्य जगत द्वारा बिछाये हुए नियन्त्रणों की जाल-व्यवस्था से सहमत नहीं हैं क्योंकि उनकी दृष्टि से यह राजनीतिक नियन्त्रण आर्थिक शक्ति को नियन्त्रित नहीं करते और इसलिए आर्थिक शक्ति को नियन्त्रित किये बिना राजनीतिक शक्ति पर लगाये गये नियन्त्रण न केवल भ्रमकारी हैं बल्कि व्यर्थ सिद्ध होते हैं। इसलिए वे ऐसे नियन्त्रणों में विश्वास करते हैं जो समाज की आर्थिक शक्ति को नियन्त्रित कर सकें तथा ऐसी आर्थिक स्थिति उत्पन्न कर दें जिसमें कि यह शक्ति किसी वर्ग विशेष के पास न रहकर सारे समाज में निहित हो जाए तथा ऐसे समाज की रचना चाहते हैं जो वर्गरहित, राज्यरहित हो तथा जिसमें हर व्यक्ति आर्थिक उत्पादन में सहभागी हो तथा हर व्यक्ति की आर्थिक इच्छाओं की पूर्ति सम्भव हो सके ताकि आर्थिक दृष्टि से किसी भी व्यक्ति का शोषण सम्भव न हो। अत: संविधानवाद की साम्यवादी अवधारणा का स्पष्टीकरण साम्यवाद की आधारभूत मान्यताओं के सन्दर्भ में ही किया जा सकता है। ये मान्यताएँ निम्नलिखित हैं–(*i*) सामाजिक जीवन में शक्ति के आर्थिक पहलू की सर्वोच्चता; (*ii*) समाज में आर्थिक शक्ति से सम्पन्न वर्ग का प्रभुत्व; तथा (*iii*) राजनीतिक शक्ति का आर्थिक शक्ति के अधीन होना।

आर्थिक शक्ति को सार्वजनिक सत्ता के अधीन बनाने के लिए साम्यवादी समाजों में प्राय: निम्न संस्थागत व्यवस्थाओं को प्रमुखता दी जाती है–(*i*) उत्पादन व वितरण के साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व; (*ii*) सम्पत्ति का समान वितरण; तथा (*iii*) साम्यवादी दल का एकाधिकार।

संक्षेप में, संविधानवाद की साम्यवादी अवधारणा पाश्चात्य संविधान की अवधारणा से भिन्न है। उनके अनुसार, उत्पादन व वितरण के साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व व सम्पत्ति का समान वितरण ऐसी आधारभूत व्यवस्थाएँ हैं जो राजनीतिक शक्ति के दुरुपयोग को प्रभावशाली ढंग से रोकती हैं और संविधानवाद के आदर्शों को व्यवहार में कुछ लोगों को नहीं, सब नागरिकों को उपलब्ध कराती हैं।

रूस तथा अन्य साम्यवादी संविधानों में पायी जाने वाली सभी संस्थात्मक व्यवस्थाएँ संविधानवाद की स्थापना करती हुई दिखायी देती हैं। परन्तु वास्तव में सोवियत रूस में संविधानवाद का अनुसरण नहीं होता है। रूस में राजनीतिक शक्ति के धारकों पर संवैधानिक नियन्त्रणों की सभी संस्थात्मक व्यवस्थाएँ केवल 'औपचारिकता' मात्र हैं। वहाँ संविधान सरकार पर प्रभावी नियन्त्रणों की व्यवस्था नहीं करता है। साम्यवादी दल की सर्वोच्चता और तानाशाही के कारण ये संस्थात्मक व्यवस्थाएँ निरर्थक बन जाती हैं। इसलिए कतिपय आलोचकों का मत है कि रूस का संविधान संविधानवाद की अवधारणा के अनुरूप नहीं है। **मेयर** ने इसे 'संविधान के विचार का ही तीक्ष्ण निषेध बताया है।'

(3) संविधानवाद की विकासशील लोकतन्त्रों की अवधारणा (Constitutionalism in Developing Democractic Nations)–विकासशील देशों में संविधानवाद अभी तक अस्थायित्व के दौर से गुजर रहा है। इन देशों की अनेक राजनीतिक समस्याएँ हैं, जैसे–(*i*) राजनीतिक स्थायित्व की समस्या; (*ii*) आर्थिक विकास की समस्या; (*iii*) सुरक्षा की खोज; (*iv*) राजनीतिक सत्ता की वैधता की समस्या; (*v*) आधुनिकीकरण में रुकावटों की समस्या; (*vi*) राजनीतिक संरचना–विकल्पों के चुनाव की समस्या आदि जिससे संविधानवाद के आधार निश्चित नहीं हो पाये हैं।

विकासशील देशों की उपरोक्त समस्याओं के बावजूद संविधानवाद के कतिपय लक्षण स्पष्ट परिलक्षित होने लगे हैं, जैसे–(*i*) संविधानवाद निर्माण की अवस्था में है; (*ii*) संविधान मिश्रित प्रकृति रखता है; (*iii*) संविधानवाद प्रवाह के दौर में है; (*iv*) संविधानवाद दिशारहित चरण में है।

संक्षेप में, संविधानवाद की विकासशील राज्यों की अवधारणा में साध्य तो पाश्चात्य अवधारणा के समान है परन्तु साधनों की दृष्टि से यह अवधारणा साम्यवादी विचारधारा के समीप लगती है।

1.8 संविधान राज्य की उत्पत्ति एवं संविधानवाद का विकास (Origin of the Constitutional State and Evolution of the Constitutionalism)

संविधानी राज्य की उत्पत्ति एवं विकास एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है। संविधानी राज्य वह राज्य है जिसमें शासन की शक्तियों के अधिकारों और इन दोनों के बीच के सम्बन्धों का समायोजन किया जाता है। इस प्रकार का राज्य एक ही समय में प्राचीन और आधुनिक दोनों ही होता है। इसका प्राचीनतम रूप यूनानियों और रोमनों के इतिहास में मिलता है, यद्यपि वह आज के रूप में अत्यधिक भिन्न है क्योंकि आधुनिक संविधानवाद राष्ट्रवाद और प्रतिनिधिक लोकतन्त्र के दोहरे आधार से विकसित हुआ है।

यूनानी संविधानवाद–प्राचीन यूनान में नगर राज्य प्रचलित थे। **प्लेटो** और **अरस्तु** ने नैतिक दृष्टि से राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन किया था। प्लेटो ने 'अति मानव' की आवश्यकता पर जोर दिया जबकि अरस्तु ने व्यावहारिक राज्य पर अपने विचार प्रकट किये। चूँकि प्लेटो और अरस्तु दोनों ही नगर राज्य की परिधि से बाहर नहीं निकल पाये जिसका परिणाम यह हुआ कि यूनानी संविधानवाद इतिहास की बदलती हुई परिस्थितियों के साथ कदम मिलाकर नहीं चल सका।

रोमन संविधानवाद–रोमनों के अधीन 'महान साम्राज्य' की स्थापना हुई। उन्होंने अपने कानून का संहिताकरण किया और उत्तरदायी सरकार के लिए सिद्धान्तों का निर्धारण किया जो संविधानवाद के अत्यन्त लोकप्रिय सिद्धान्तों में शामिल किया जाने लगा।

मध्यकाल में संविधानवाद–मध्यकाल में प्रतिनिधि शासन का शुभारम्भ हुआ जो आधुनिक परोक्ष लोकतन्त्र का आधार है। इसी युग का परिषदीय आन्दोलन संविधानवाद के विकास के लिए महत्त्वपूर्ण रहा है।

पुनर्जागरण और संविधानवाद–इस काल में नैतिकता और राजनीति को पृथक् किया गया।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद संविधानवाद–प्रथम विश्वयुद्ध के बाद 'राष्ट्र-संघ' की स्थापना संविधानवाद के इतिहास में अभूतपूर्व व्यवस्था थी।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद संविधानवाद–द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद संविधानवाद का एक नया मॉडल अस्तित्व में आया जिसे दुनिया के सभी साम्यवादी देशों में देखा जा सकता है। तीसरी दुनिया के देशों में संविधान निर्माण के कई दिलचस्प प्रयोग किये गये ताकि वे संवैधानिक राज्य का रूप ले सकें। तीसरी दुनिया के अनेक देशों ने ब्रिटिश या अमरीकी शासन व्यवस्था को अपनाया।

1.9 स्वतंत्रता के विविध आयाम (Dimensions of Liberty)

नागरिक, राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता (Civil, Political and Economic Liberty)

लोकतंत्र के अंतर्गत स्वतंत्रता का सिद्धांत तीन महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में काम करता है। इस दृष्टि से स्वतंत्रता के तीन पक्ष स्वीकार किए जाते हैं--नागरिक स्वतंत्रता, राजनीतिक स्वतंत्रता और आर्थिक स्वतंत्रता। वैसे कुछ लोग इन क्षेत्रों में भी स्वतंत्रता को केवल 'प्रतिबंध के अभाव' के रूप में व्यक्त करके उसका सीमित अर्थ लगाते हैं, परंतु इस तरह का नकारात्मक दृष्टिकोण (Negative Approach) स्वतंत्रता के सही स्वरूप की व्याख्या नहीं कर पाता।

अर्नेस्ट बार्कर (1874-1960) की महत्त्वपूर्ण कृति 'प्रिंसिपल्स ऑफ सोशल एंड पोलिटिकल थ्योरी' (सामाजिक और राजनीतिक सिद्धांत-तत्व) (1951) के अनुसार, **नागरिक स्वतंत्रता में तीन बातें आती हैं** हालांकि इन्हें अलग-अलग ढंग से व्यक्त किया जाता है--**दैहिक स्वतंत्रता** (Physical Freedom), अर्थात् राज्य की किसी कार्रवाई के कारण व्यक्ति के जीवन और स्वास्थ्य को कोई क्षति नहीं पहुँचनी चाहिए या इसके लिए कोई खतरा पैदा नहीं होना चाहिए ताकि मनुष्य मुक्त विचरण कर सके; **बौद्धिक स्वतंत्रता** (Intellectual Freedom), अर्थात् मनुष्य अपने मत या विचार को व्यक्त करने में स्वतंत्र हो; और **व्यावहारिक स्वतंत्रता** (Practical Freedom), अर्थात् मनुष्य अन्य लोगों के साथ अनुबंध या संबंध स्थापित करते समय अपनी स्वतंत्र इच्छा से काम ले सके। इनमें पहली बात तो निर्विवाद है क्योंकि दैहिक स्वतंत्रता पर कोई अंकुश केवल सार्वजनिक सुरक्षा, कानून और व्यवस्था के हित में ही लगाया जाता है, और ये सब स्वतंत्रता की आवश्यक शर्तें हैं। दैहिक यंत्रणा या प्रतिबंध किसी अपराध के दंड के रूप में ही उचित माने जाएंगे, अन्यथा नहीं।

विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रश्न थोड़ा जटिल है। **जॉन स्टुअर्ट मिल** (1806-73) के अनुसार, यह स्वतंत्रता व्यक्ति और समाज दोनों के हित में होगी। समाज की प्रगति ज्ञान के विकास पर निर्भर है। ज्ञान का विकास वहीं हो पाता है जहाँ चर्चा की स्वतंत्रता का वातावरण मौजूद हो। सामाजिक नीति (Social Policy) में सूझ-बूझ तभी आ सकती है जब वर्तमान समस्याओं की आलोचना करने या अलोकप्रिय मत प्रस्तुत करने पर कोई पाबंदी न हो। किसी मत की अभिव्यक्ति को रोकने से न केवल उस व्यक्ति पर अत्याचार होगा जिसे चुप करा दिया गया है, बल्कि इसका मतलब होगा पूरी मानव जाति को उसके लाभ से वंचित करना--वर्तमान पीढ़ी को भी, आगामी पीढ़ियों को भी। यदि वह मत सही था तो हमने समाज को अपनी गलती सुधारने के अवसर से वंचित किया होगा। यदि वह मत गलत था तो भी हमने समाज को उतने ही बड़े लाभ से वंचित किया होगा क्योंकि झूठ के साथ टकराकर सच का रूप और भी निखर आता है। **वाल्टर बेजहॉट** (1826-77) ने भी यह दिखलाया है कि चर्चा की स्वतंत्रता और विरोधी मत के प्रति सहिष्णुता सारी सामाजिक प्रगति की कुंजी है।

इसमें संदेह नहीं कि विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता अपने-आपमें महत्त्वपूर्ण है। परंतु क्या यह स्वतंत्रता के नकारात्मक पक्ष से ही संतोष किया जा सकता है? क्या व्यापक अशिक्षा और अज्ञान के बीच सर्वसाधारण के लिए इस स्वतंत्रता का कोई अर्थ रह जाता है? यदि मनुष्य को सही राय बनाने के अवसर से ही वंचित रखा जाए तो अपनी राय को व्यक्त करने की स्वतंत्रता उसके किस काम आयेगी। देखा जाए तो विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को सार्थक करने के लिए दो शर्तें पूरी करना आवश्यक है--(क) जनसाधारण के लिए यथेष्ट शिक्षा की व्यवस्था हो ताकि उनमें विचार-शक्ति का विकास हो; और (ख) जनसंपर्क के साधन (Media of Mass Communication) मुट्ठीभर लोगों की मुट्ठी में बंद न हों, बल्कि उन्हें स्वायत्तता (Autonomy) प्राप्त होनी चाहिए ताकि वे स्वयं अपनी विश्वसनीयता (Reliability) स्थापित कर सकें। फिर, जनसंपर्क के साधनों की बहुलता भी जरूरी है ताकि नागरिकों को सूचना के अनेक स्रोतों में से सही समाचारों और विचारों का चयन तथा पुष्टि करने का अवसर मिल सके। इन दोनों बातों की तरफ ध्यान देने पर विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता मात्र नकारात्मक स्वतंत्रता (Negative Freedom) नहीं रह जाएगी, बल्कि सकारात्मक स्वतंत्रता (Positive Freedom) का रूप धारण कर लेगी।

जहाँ तक अनुबंध की स्वतंत्रता (Freedom of Contract) का सवाल है, वह भी कम पेचीदा नहीं। जहाँ समाज की वर्तमान विषमताएँ एक मनुष्य को दूसरे की दया पर छोड़ देती हों, वहाँ अनुबंध की स्वतंत्रता का क्या अर्थ रह जाता है? अत: आधुनिक चेतना (Modern Consciousness) इस स्वतंत्रता को भी नकारात्मक से सकारात्मक रूप देने की माँग करती है। **वाल्टर फ्रीडमैन** ने 'लीगल थ्योरी' (विधि-सिद्धांत) (1967) के अंतर्गत सही लिखा है कि पुराने जमाने में तो अनुबंध की स्वतंत्रता वैयक्तिक स्वतंत्रता का आवश्यक अंग मानी जाती थी, परंतु औद्योगिक विकास ने यह सिद्ध कर दिया है कि विशाल जनसमुदाय को औपचारिक स्वतंत्रता देकर किस हद तक वास्तविक स्वतंत्रता से वंचित रखा जाता है। अत: राज्य संरक्षणमूलक कानून (Protective Laws) बनाकर वैयक्तिक अनुबंध को कानूनी दायित्वों से बांध देता है। इतना ही नहीं, न्यायिक निर्णयों के अंतर्गत माल-निर्माताओं (Manufacturers) को उपभोक्ता (Consumer) के प्रति उत्तरदायी ठहराया जाता है, और मालिक (Employer) को कर्मचारी (Employee) के प्रति।

आज के युग में **राजनीतिक स्वतंत्रता** की सबसे सार्थक अभिव्यक्ति लोकतंत्रीय व्यवस्था में देखने को मिलती है। **विलियम ब्लैक्स्टन** (1723-80) के अनुसार, राजनीतिक स्वतंत्रता का अर्थ शासन पर अंकुश रखने की शक्ति है। परंतु यह बात वहीं लागू होती है जहाँ शासन किसी बाहरी शक्ति के हाथ में हो। पर जहाँ सिद्धांतत: जनता अपनी सरकार स्वयं चुनती हो, वहाँ इसका अर्थ बदल जाएगा। अत: **बार्कर** के अनुसार, **राजनीतिक स्वतंत्रता का अर्थ सरकार पर अंकुश रखने की शक्ति नहीं बल्कि सरकार बनाने और उस पर नियंत्रण रखने की क्षमता** है। सरकार बनाने का अर्थ है—सार्वजनीन मताधिकार (Universal Franchise) के आधार पर चुनाव में स्वतंत्रतापूर्वक हिस्सा लेना; सरकार पर नियंत्रण रखने का अर्थ है, मुक्त और निरंतर विचार-विमर्श, जिसमें सब लोग अपनी-अपनी क्षमतानुसार स्वतंत्र रूप से हिस्सा ले सकें।

यह दृष्टिकोण निस्संदेह राजनीतिक स्वतंत्रता को नकारात्मक स्वतंत्रता से सकारात्मक स्वतंत्रता के रूप में ढाल देता है। परंतु सिद्धांत के स्तर पर यह जितना सरल प्रतीत होता है—व्यवहार के स्तर पर उतना सरल नहीं। केवल सार्वजनीन वयस्क मताधिकार (Universal Adult Suffrage) का कानून बना देने से सबको राजनीतिक स्वतंत्रता नहीं मिल पाती। इसके लिए फिर दो शर्तें पूरी करना जरूरी है—(क) यथेष्ट शिक्षा और राष्ट्र का चरित्र-निर्माण, ताकि लोग सामाजिक नीतियों को समझ सकें और राष्ट्रहित को सर्वोपरि रखकर अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करें; अपने मताधिकार का प्रयोग केवल स्वार्थमूलक, तात्कालिक और गुटपरक हितों की प्रेरणा से न करें; और (ख) धन की शक्ति—विशेषत: काले धन (Black Money) की शक्ति सारी चुनाव-प्रक्रिया पर इतनी हावी न हो जाए कि वह चुनाव का निर्णायक तत्व बन जाए। यदि जनता के प्रतिनिधि निहित स्वार्थों की वित्तीय सहायता के बल पर चुने जाएँगे तो सरकार में निश्चय ही भ्रष्टाचार का बोलबाला रहेगा और जनहित आडंबर मात्र रह जाएगा।

काला धन (Black Money)

वह धन जो साधारणत: गैरकानूनी तरीकों से अर्जित किया जाता है, या जिस धन पर लगने वाले कर (Tax) से बचने के लिए उसे सरकार से छिपाकर रखा जाता है।

आर्थिक स्वतंत्रता की समस्या भी कम जटिल नहीं। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि **आर्थिक क्षेत्र में नकारात्मक स्वतंत्रता और सकारात्मक स्वतंत्रता एक-दूसरे का विपरीत पक्ष प्रस्तुत करती है। नकारात्मक संदर्भ में प्राय: आर्थिक स्वतंत्रता का यह अर्थ लगाया जाता है कि मनुष्य की आर्थिक गतिविधियाँ किसी प्रतिबंध से न बँधी हों।** इस तरह मालिक और मज़दूर दोनों को अनुबंध की पूर्ण स्वतंत्रता हो। दूसरे शब्दों में, यह संकल्पना वर्तमान आर्थिक विषमताओं पर कोई प्रश्नचिह्न नहीं लगाती, बल्कि मनुष्य की प्रतिभा और परिश्रम को बाजार में बिकने वाली वस्तु बनाकर माँग और पूर्ति (Demand and Supply) के क्रूर नियम का विषय बना देती है। **इसके विपरीत, आर्थिक स्वतंत्रता की सकारात्मक संकल्पना सर्वसाधारण की आर्थिक असमर्थता के निराकरण की माँग करती है।** अत: वह समाज के आर्थिक ढाँचे में ऐसे परिवर्तन की माँग करती है जिससे धनवान (Haves) और निर्धन (Have-nots) वर्गों में ऐसा अंतर न रहे कि एक वर्ग को दूसरे के शोषण करने की छूट

मिल जाए। संक्षेप में, आर्थिक स्वतंत्रता की सकारात्मक संकल्पना यह माँग करती है कि आर्थिक शक्ति का प्रयोग सबकी स्वतंत्रता को बढ़ावा देने के लिए होना चाहिए, सर्वसाधारण की स्वतंत्रता का दमन करने के लिए नहीं।

नकारात्मक और सकारात्मक स्वतंत्रता (Negative and Positive Liberty)

जब हम स्वतंत्रता की परिभाषा केवल 'प्रतिबंध के अभाव' (Absence of Restraint) के रूप में देते हैं तब हमारा ध्यान उसके नकारात्मक पक्ष पर केन्द्रित रहता है। दूसरे शब्दों में, हमारा अभिप्राय यह होता है कि यदि **कोई व्यक्ति कुछ करना चाहता हो और कर भी सकता हो, तो उसे वैसा करने से रोका न जाए। इस तरह की स्वतंत्रता को औपचारिक स्वतंत्रता (Formal Liberty) या नकारात्मक स्वतंत्रता (Negative Liberty) कहते हैं।** यह केवल अनुमति की सूचक है, और इससे ऐसा कतई कोई संकेत नहीं मिलता कि व्यक्ति जो कुछ करना चाहता है, उसमें उसे कोई सहायता भी दी जाएगी। व्यक्ति को नकारात्मक स्वतंत्रता प्रदान करते समय राज्य केवल अपने ऊपर संयम रखता है, सामाजिक व्यवस्था से कोई छेड़छाड़ नहीं करता। वह यह नहीं देखता कि इस स्वतंत्रता का लाभ कौन-कौन-से, और कितने लोग उठा पाएँगे?

जाहिर है, इस तरह की स्वतंत्रता सर्वसाधारण के लिए पर्याप्त नहीं है। **जब समाज भारी आर्थिक विषमताओं से ग्रस्त हो, तब नकारात्मक स्वतंत्रता इन विषमताओं के प्रति तटस्थता (Indifference) का दृष्टिकोण अपनाती है।** जो स्वतंत्रता बलवान और निर्बल, धनवान् और निर्धन—सबको खुला छोड़ देती है, उसकी आड़ में बलवान निर्बल को और धनवान निर्धन को अवश्य सताएगा। निर्बल और निर्धन को सच्ची स्वतंत्रता दिलाने के लिए बलवान और धनवान पर प्रतिबंध लगाना होगा; निर्बल को सुरक्षा प्रदान करनी होगी, निर्धन की आर्थिक स्थिति सुधारनी होगी। यहीं से सकारात्मक स्वतंत्रता की माँग शुरू होती है। **सकारात्मक या तात्त्विक स्वतंत्रता (Positive or Substantive Liberty) का अर्थ यह है कि कमजोर वर्गों की सामाजिक और आर्थिक असमर्थताओं को दूर करने के ठोस प्रयत्न किए जाएँ ताकि सबको अपने सुख के साधन जुटाने का उपयुक्त अवसर मिल सके।** इसके लिए सामाजिक-आर्थिक जीवन के विस्तृत विनियम (Regulation) की आवश्यकता हो सकती है। ये सारे विनियम और प्रतिबंध समाज के शक्तिशाली और प्रभुत्वशाली वर्गों (Dominant Classes) की स्वतंत्रता में कटौती कर सकते हैं, परंतु ये स्वतंत्रता के सिद्धांत को सार्थक रूप देने के लिए अनिवार्य होंगे।

साधारणत: राजनीतिक, नागरिक या कानूनी स्वतंत्रता अपने-अपने सीमित अर्थ में नकारात्मक स्वतंत्रता होती है। उदाहरण के लिए, वाणी की स्वतंत्रता (Freedom of Speech), उपासना की स्वतंत्रता (Freedom of Worship) इत्यादि केवल यह सूचित करती हैं कि व्यक्ति के किन-किन कार्यों पर राज्य की ओर से कोई प्रतिबंध नहीं होगा। परंतु सामाजिक-आर्थिक स्वतंत्रता सकारात्मक स्वतंत्रता की माँग करती है। उदाहरण के लिए, भूख-प्यास या लाचारी से स्वतंत्रता (Freedom from Hunger or Compulsion) सकारात्मक स्वतंत्रता की द्योतक है क्योंकि इसकी स्थापना के लिए राज्य को ठोस प्रयत्न करने होंगे। स्वतंत्रता का सकारात्मक पक्ष ही उसे सामाजिक संकल्पना में परिणत कर देता है। क्योंकि **स्वतंत्रता का यह सिद्धांत उन प्रतिबंधों और विवशताओं को हटाने की माँग करता है जो सामाजिक व्यवस्था से पैदा हुई हों, और जिन्हें हटाना व्यावहारिक भी हो।** बहुत-से मामलों में हम क्षमता के अभाव में विवशता अनुभव करते हैं, फिर भी उसकी शिकायत नहीं करते। हम पंख लगाकर आजाद पंछी की तरह आकाश में उड़ नहीं सकते, फिर भी यह शिकायत नहीं करते कि हम स्वतंत्र नहीं। वस्तुत: प्रकृति ने हमें जिन भी क्षमताओं से वंचित रखा है और जिन विवशताओं पर विजय प्राप्त करना संभव नहीं, उनकी शिकायत कोई नहीं करता। दूसरे शब्दों में, **शिकायत वहाँ की जाती है जहाँ हमारी विवशताएँ सामाजिक व्यवस्था का परिणाम हों, अर्थात् जहाँ सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन करके उन विवशताओं को दूर किया जा सके।**

देखा जाए तो शक्ति की विषमता (Inequality of Power) स्वतंत्रता के सिद्धांत को अपने तर्कसंगत परिणाम तक पहुँचने से रोकती है। यदि सब लोगों को औपचारिक दृष्टि से समान स्वतंत्रता प्राप्त हो तो भी शक्ति

की विषमता उसे निरर्थक बना देती है। **एल.टी. हॉबहाउस** ने अपनी महान् कृति 'एलीमेंट्स ऑफ़ सोशल जस्टिस' (सामाजिक न्याय के मूलतत्व)(1922) के अंतर्गत बिल्कुल सही लिखा है–"जब कमजोर पक्ष को यह अधिकार दिया जाता है कि यदि उसके पास भी वैसे ही साधन मौजूद हों तो उनका प्रयोग कर सकता है, तो ऐसी स्वतंत्रता से उसका कुछ नहीं बनेगा, क्योंकि इस तरह उसे यथार्थ और तात्कालिक संरक्षण तो प्राप्त होगा नहीं।"

1.10 सत्ता का अर्थ (The Meaning of Authority)

'सत्ता' को प्रशासन में प्रबन्धकीय कार्यों की कुन्जी माना गया है। क्योंकि परम्परागत संगठन विचारधारा संगठन को अधिकार सम्बन्धों का अन्तर्जाल मानती है। सत्ता को प्राय: शक्ति से सम्बन्धित किया गया है और उसे आदेश देने एवं उसके पालन करवाने के अधिकार की संज्ञा दी गयी है।

उच्च एवं प्रवर व्यक्ति की उस क्षमता को जिसके आधार पर वह निर्णयन के साथ-साथ अधीनस्थों के व्यवहार को भी प्रभावित कर सके, 'सत्ता' की संज्ञा दी जा सकती है। यह संगठन की ओर से किसी व्यक्ति को कुछ करने के लिए दी गयी आज्ञा भी है।

हेनरी फेयोल के अनुसार, "सत्ता आदेश देने का अधिकार है और उसके पालन करवाने की शक्ति है।"

ऐलन के अनुसार, "भारार्पित कार्यों के निष्पादन को सम्भव बनाने हेतु सौंपी गयी शक्तियों एवं अधिकार सत्ता कहलाते हैं।"

पेटरसन के अनुसार, "आदेश देने एवं उसके पालन की आज्ञा का अधिकार सत्ता कहलाता है।"

डेविस के अनुसार, "सत्ता निर्णय लेने एवं आदेश देने का अधिकार है।"

थियो हैमेन के अनुसार, "सत्ता, वह वैधानिक शक्ति है जिसके आधार पर अधीनस्थों को काम करने के लिए कहा जाता है तथा उन्हें बाध्य किया जा सकता है और आदेश के उल्लंघन पर आवश्यकतानुसार प्रबन्धक उनके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही कर सकता है। यहाँ तक कि उनको कार्य से भी पृथक् कर सकता है।"

उपर्युक्त परिभाषाएँ औपचारिक अधिकार-सत्ता के सिद्धांत पर आधारित हैं और मानकर चलती हैं कि सत्ता उच्च स्तर से पैदा होती हैं तथा प्रत्यायोजन (delegation) के जरिए नीचे पहुँचती हैं।

किन्तु **मेरी पार्कर फॉलेट, रॉबर्ट टेमन बोन, बर्नार्ड, साइमन** एवं अन्य मानव सम्बन्धी स्कूल विचारकों का कहना है कि जब तक अधीनस्थ उच्चाधिकारी के आदेश या विचार को स्वीकार नहीं करते तब तक उच्चाधिकारी का वह आदेश या विचार 'सत्ता' नहीं माना जा सकता। सत्ता तब अर्थपूर्ण बनती है जबकि व्यवहार में, अधीनस्थों द्वारा उसे स्वीकारा जाता है। इस दृष्टि से साइमन की निम्न परिभाषा महत्त्वपूर्ण है–

"अधिकार सत्ता, निर्णय लेने एवं अन्य व्यक्तियों की क्रियाओं को मार्गदर्शित करने की शक्ति है। यह दो व्यक्तियों के बीच उच्चाधिकारी एवं अधीनस्थ का सम्बन्ध है। उच्चाधिकारी निर्णय लेता है और इस आशा के साथ प्रेरित करता है कि अधीनस्थ द्वारा उसका पालन किया जाएगा। अधीनस्थ ऐसे ही निर्णयों की आशा करते हैं और उनके व्यवहार उनसे निर्धारित होते हैं।"

संक्षेप में, "अधिकार-सत्ता, आदेश देने, निर्णय लेने एवं उनके पालन करवाने की शक्ति, स्थिति या अधिकार है जो अधीनस्थों द्वारा स्वीकार कर लिए जाने पर अर्थपूर्ण बन जाता है और संगठनात्मक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए अधीनस्थों द्वारा जिसका पालन आवश्यक होता है।"

1.11 सत्ता और शक्ति (Authority and Power)

'सत्ता' और 'शक्ति' बहुत कुछ मिलते-जुलते शब्द लगते हैं तथापि प्रशासन की भाषा में ये दोनों शब्द अपना विशेष अर्थ रखते हैं और एक के लिए दूसरे का प्रयोग नहीं किया जा सकता। 'सत्ता' का रूप एक प्रकार से कानूनी

है, जबकि शक्ति (power) का रूप कानूनी होना आवश्यक नहीं है। जब शक्ति को कानून का रूप दे दिया जाता है तो वह सत्ता (Authority) बन जाती है।

कार्ल जे. फ्रेडरिक ने लिखा है कि "सत्ता शक्ति का एक प्रकार नहीं बल्कि यह एक ऐसी वस्तु है जो शक्ति के साथ चलती है। यह व्यक्तियों और वस्तुओं में एक गुण है जो उनकी शक्तियों में वृद्धि करता है, वह ऐसी वस्तु है जो शक्ति को उत्पन्न करती है परन्तु जो स्वयं शक्ति नहीं है।"

शक्ति का अस्तित्व सत्ता के अभाव में सम्भव तो है परन्तु उसका दीर्घकालीन अस्तित्व सत्ता के अभाव में सम्भव नहीं। शक्ति के अभाव में भी सत्ता विद्यमान रह सकती है। उदाहरणार्थ, एक डॉक्टर या प्रोफेसर के पास शक्ति नहीं है किन्तु ये सत्ता का इस कारण उपयोग करते हैं कि उनके पास श्रेष्ठ ज्ञान और अनुभव है। शक्ति असंस्थागत, परिस्थितिजन्य एवं अनिश्चित होती है जबकि सत्ता संस्थागत, स्पष्ट तथा निश्चित होती है। बायर्सटेड के अनुसार, "सत्ता शक्ति के प्रयोग का संस्थागत अधिकार है परन्तु स्वयं शक्ति नहीं है।" शक्ति का प्रत्यायोजन नहीं किया जा सकता जबकि सत्ता का प्रत्यायोजन होता है। शक्ति में स्वविवेक का अभाव होता है जबकि सत्ता में स्वविवेक निहित होता है।"

जब हम प्रशासन में संगठनों का अध्ययन करते हैं तो ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त हो जाते हैं जबकि पदसोपान के उच्च अधिकारी, जिनको औपचारिक रूप से अधिकार मिले हुए हैं, उनका प्रयोग नहीं करते। उनके स्थान पर अधीनस्थ इन शक्तियों का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार उच्च अधिकारी सत्ताधारी न होते हुए भी शक्तिवान हैं।

1.12 सत्ता के स्रोत (Sources of Authority)

अधिकार-सत्ता के स्रोत के सम्बन्ध में तीन विचारधाराएँ प्रचलित हैं–

(i) औपचारिक सत्ता विचारधारा (Formal Authority Theory)—**बर्नार्ड** के अनुसार, "अधिकार-सत्ता की वह अवधारणा, जिसमें अधिकारों का प्रेषण सामाजिक संस्थाओं से वैयक्तिक प्रबन्धकों को होता है, औपचारिक सत्ता कहलाती है।" यह विचारधारा मानती है कि अधिकार-सत्ता का स्रोत देश का सर्वोच्च कानून अर्थात् संविधान होता है और संविधान को गत्यात्मक बनाए रखने का अधिकार सामाजिक संस्थाओं में निहित होता है। इसलिए प्रजातांत्रिक राष्ट्रों में सर्वोच्च अधिकार-सत्ता देशवासियों में निवास करती है। इस विचारधारा के अनुसार, किसी विभाग में अधिकार-सत्ता का प्रेषण संविधान से प्रधानमंत्री, विभागीय मंत्री, विभागीय सचिव, निदेशक तथा उनसे उनके सहायक निदेशकों को होता है।

(ii) स्वीकृति विचारधारा (Acceptance Theory)—यह विचारधारा अधिकार-सत्ता का स्रोत अधीनस्थों को मानती है। इस विचारधारा की मान्यता है कि औपचारिक अधिकार-सत्ता तो नाममात्र की सत्ता है और वह उस समय ही वास्तविक तथा अर्थपूर्ण बन पाती है जिस समय अधीनस्थ उसे पालन हेतु स्वीकृति देते हैं। इसलिए अधिकार-सत्ता का वास्तविक स्रोत उन अधीनस्थों में निहित है जिन पर अधिकार-सत्ता का प्रयोग किया जाना है और जो कि एक ऐसे प्रयोग की स्वीकृति देते हैं।

व्यवहारवादी प्रबन्ध स्कूल में निष्ठा रखने वाले विचारक अधिकार-सत्ता की 'स्वीकृति विचारधारा' का समर्थन करते हैं और वर्तमान परिस्थितियों में औपचारिक सत्ता विचारधारा को प्रशासन के संचालन में बाधक मानते हैं क्योंकि उसमें अधिनायकवादिता है; स्वामी-सेवक की भावना निहित है किन्तु इस विचारधारा के आलोचकों का कहना है कि यह विचारधारा सत्ता को अनुज्ञा (sanction) से पृथक् करके देखती है। जबकि व्यवहार में अनुज्ञा रहित सत्ता निरर्थक प्रमाणित होती है। इसके अतिरिक्त अनुज्ञा एवं दण्ड भय से रहित सत्ता की विद्यमानता संगठन में उसी प्रकार अराजकता को जन्म दे सकती है जिस प्रकार कानून एवं पुलिस के अभाव में समाज और राष्ट्र अराजकता का शिकार हो सकता है।

(iii) सक्षमता विचारधारा (Competence Theory)—यह विचारधारा इस मान्यता पर आधारित है कि विश्वभर में योग्य एवं सक्षम व्यक्ति स्वत: नेतृत्व की बागडोर संभाल लेते हैं, भले ही उन्हें संगठनों में कोई विशिष्ट

स्थान या पद न दिया जाए। यह विचारधारा तकनीकी क्षमता एवं व्यक्तित्व की प्रभुता को अधिकार-सत्ता का स्रोत मानती है। उदाहरणार्थ, अर्थशास्त्री, डॉक्टर, इन्जीनियर, वकील, प्रोफेसर आदि अपने क्षेत्र में सक्षम होने के कारण उनकी अधिकार-सत्ता को स्वत: स्वीकार कर लिया जाता है।

1.13 सत्ता के कार्य (Functions of Authority)

सत्ता का महत्त्व एक साधन तथा सिद्धांत के रूप में होता है जिसके द्वारा कुछ लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके। कहा जाता है कि सत्ता द्वारा दूसरे व्यक्तियों के संचारित निर्णयों के अधीन व्यक्ति के निर्णयों को रखकर समूह में समन्वित व्यवहार कायम किया जाता है। जब एक समूह के कार्यों का समन्वय करने के लिए सत्ता का साधन के रूप में उपयोग किया जाता है तो सत्ता मुख्य रूप से तीन प्रकार के कार्य करती है। साइमन ने इन कार्यों का निम्न प्रकार से उल्लेख किया है–(*i*) यह उन लोगों को कुछ उत्तरदायित्व सौंपती है जो सत्ता का प्रयोग करते हैं। (*ii*) यह निर्णय लेने में विशेषज्ञता को काम में लाती है। (*iii*) यह क्रियाओं के बीच समन्वय स्थापित करती है।

सत्ता के कानूनी समर्थकों का कहना है कि सत्ता का एक प्रमुख कार्य यह है कि वह व्यक्तिगत कार्यों की समाज द्वारा स्थापित आदर्शों के साथ एकरूपता स्थापित करती है। सत्ता का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि इसके द्वारा जो निर्णय लिए जाते हैं उनमें उच्च स्तर की बुद्धि का प्रयोग किया जाता है और वे अत्यन्त प्रभावशाली होते हैं। सत्ता का तीसरा कार्य यह है कि इसके द्वारा संगठन में समन्वय स्थापित किया जाता है। सत्ता की तुलना एक मानव शरीर से करते हुए कुछ विचारक यह मानते हैं कि जिस तरह मस्तिष्क शरीर के अन्य भागों को निर्देशित करता है और बदले में उनके कार्यों की सूचनाएँ प्राप्त करता है, उसी प्रकार संगठन में एक सत्ताधारी व्यक्ति का यह प्रमुख कर्तव्य होता है कि अन्य सदस्यों को वह आवश्यक निर्देश और आदेश देता रहे तथा उन सदस्यों में संगठन की गतिविधियों का परिचय प्राप्त करता रहे।

1.14 सत्ता की अवधारणा : मैक्स वेबर के विचार (The Concept of Authority : Views of Max Weber)

नौकरशाही की अवधारणा का समाजशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन करने वाले विद्वानों में जर्मन समाजशास्त्री मैक्स वेबर का नाम उल्लेखनीय है। उसने नौकरशाही को प्रशासन की तर्कपूर्ण व्यवस्था माना है। उसके अनुसार संस्थागत मानव व्यवहार में तर्कपूर्णता लाने का सर्वोत्तम साधन नौकरशाही है। मैक्स वेबर ने अधिकार-सत्ता (Authority) के वर्गीकरण का प्रयास किया था। वेबर का नौकरशाही सिद्धांत **'सत्ता के सिद्धांत'** का ही एक अंग है। सत्ता अथवा प्रभुत्व का अर्थ है नियन्त्रण की अधिकारिक शक्ति। दूसरे शब्दों में कहें तो वेबर ने यह प्रश्न उठाया कि कैसे एक व्यक्ति दूसरों पर अपना प्रभुत्व जमाता है और इसी के उत्तर में यह भी कहा कि प्रभुत्व का प्रयोग यदि तर्कसंगत और वैध हो तो वह स्वीकार्य हो जाता है। मैक्स वेबर ने अधिकार सत्ता या प्रभुत्व के तीन प्रकार माने–

1. **पारम्परिक प्रभुत्व या सत्ता** (Traditional Authority)—जब आम जनता और अधीनस्थ आदतन किसी शासक अथवा वरिष्ठ अधिकारी के आदेशों का पालन करते हैं तो यह सत्ता का परम्परागत आधार होता है। उनके आदेश इसलिए वैध होते हैं क्योंकि वे किसी परम्परा (Custom) या प्रथा (Usage) पर आधारित होते हैं। ऐसी सत्ता की दो विशेषताएँ मानी जाती हैं–रीति-रिवाज (Custom) पर आधारित होना तथा व्यक्तिगत स्वेच्छाचारिता (Personal arbitrariness)। जो व्यक्ति आदेश का पालन करते हैं उन्हें 'अनुयायी' (followers) कहा जाता है। वे मालिक के आदेशों का पालन व्यक्तिगत वफादारी तथा उनकी सम्माननीय स्थिति होने के कारण करते हैं। सामन्तवादी व्यवस्था में सत्ता का यह रूप देखने को मिलता है। आज भी धर्मगुरुओं–पोप, इमामों और महन्तों को परम्परागत सत्ता का प्रतीक माना जाता है। राजतन्त्रात्मक व्यवस्था में भी ऐसी ही सत्ता का रूप पाया जाता है। इसके अन्तर्गत अधीनस्थ 'सेवक' समझे जाते हैं।

2. करिश्माती या श्रद्धा पर आधारित सत्ता (Charismatic Authority)—जब अधीनस्थ वरिष्ठ सत्ताधारी या आम जनता नेताओं के आदेशों को इस आधार पर न्यायसंगत मानते हैं कि उन पर सत्ताधारी का व्यक्तिगत जादुई प्रभाव है तब इसे करिश्मात्मक सत्ता कहा जाता है। आम जनता नेताओं के निर्देशों का इसलिए पालन करती है कि वह उनकी अभूतपूर्व योग्यताओं और दैवीय गुणों (करिश्मा) में विश्वास करती है न कि किसी पद या नियमों में। इसमें अधीनस्थ अनुयायी होते हैं और अपने प्रिय नेता के करिश्माती एवं आदर्शवादी व्यक्तित्व के कारण उसके आदेशों का पालन करते हैं। उदाहरणार्थ, तीसरी दुनिया के अनेक देशों में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद करिश्माती नेतृत्व का उदय हुआ। राष्ट्रीय आन्दोलनों के लम्बे कालों में ऐसे देवतुल्य नेता (जैसे महात्मा गांधी) जनमानस में समा गए थे। इस कारण स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ऐसे नेताओं के कार्यपालिका अध्यक्ष बनने पर उनको आदर व असाधारण प्रतिभा का प्रतीक ही नहीं वरन् राष्ट्र का पिता मान लिया गया। जोमों केन्याता, सुकार्णो, बोर्गिबा, नासर, नेहरू, ऐनक्रूबा, नेरेरे, शेख मुजीब, जिन्ना, यूनू, टीटो इत्यादि अपने अद्वितीय व्यक्तित्व के कारण लम्बी अवधि तक राजनीतिक व्यवस्थाओं पर छाए रहे और लोगों की श्रद्धा के पात्र रहे।

3. वैधानिक सत्ता (Legal Authority)—जब अधीनस्थ किसी आदेश को इस आधार पर स्वीकार करते हैं कि ऐसा करना तार्किक, कानूनी और संवैधानिक दृष्टि से औचित्यपूर्ण है तो इस स्थिति में सत्ता को वैधानिक (बौद्धिक-कानूनी) माना जाता है। यह सत्ता संवैधानिक नियमों के अन्तर्गत धारण किए गए पद की स्थिति से निःसृत होती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में जब राष्ट्रपति पद का कोई प्रत्याशी निर्वाचक मण्डल का बहुमत प्राप्त कर लेता है अथवा जब भारत में लोकसभा के बहुमत प्राप्त दल द्वारा किसी को अपना नेता निर्वाचित कर उसे प्रधानमंत्री पद पर प्रतिष्ठित कर दिया जाता है तब उनकी सत्ता का बौद्धिक-तार्किक या वैधानिक आधार ही होता है। इसमें सत्ता का प्रत्यायोजन तार्किक आधार पर किया जाता है और अधीनस्थ वैधानिक रूप से स्थापित निर्वैयक्तिक आदेशों के आधार पर आज्ञापालन करते हैं। मैक्स वेबर नौकरशाही को तार्किक-वैधानिक सत्ता का प्रतिरूप मानता है। विधिक सत्ता से पोषित एवं समर्थित नौकरशाही को वह संगठन का सबसे प्रभावशाली तत्व बतलाता है।

छात्र क्रियाकलाप

1. एडम स्मिथ ने अपनी कृति 'वेल्थ ऑफ नेशंस' में अर्थशास्त्र को क्या समृद्ध करने वाला शास्त्र बताया है?

2. आर्थिक असंतोष किसे जन्म देता है?

1.15 सारांश (Summary)

- संविधानवाद वह राजनीतिक व्यवस्था है जिसका संचालन विधियों और नियमों द्वारा होता है न कि व्यक्तियों द्वारा। यह लोकतांत्रिक भावना और व्यवस्था पर आधारित है जिसमें शक्तियों के केंद्रीयकरण और निरंकुश सभ्यता का कोई स्थान नहीं है।
- डायसी के अनुसार, "संविधान उन कानूनों के समूह को कहते हैं जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से राज्य की सर्वोच्च सत्ता की शक्ति के विवरण और प्रयोग को निश्चित करते हैं।"
- संविधान तथा संविधानवाद में मुख्य अंतर है, संविधान का औचित्य विधि के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है जबकि संविधानवाद में आदर्शों के औचित्य का प्रतिपादन मुख्यतः विचारधारा के आधार पर होता है।
- जे. आर. ल्यूकस ने लिखा है, "स्वतंत्रता का तात्विक अर्थ यह है कि विवेकशील कर्ता (Rational agent) को जो कुछ सर्वोत्तम प्रतीत हो, वही कुछ करने में वह समर्थ हो और उसके कार्यकलाप बाहर के किसी प्रतिबंध से न बंधे हों।"
- डेविस के अनुसार, "सत्ता निर्णय लेने एवं आदेश देने का अधिकार है।"

अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)

1. संविधान का अर्थ एवं परिभाषा बताएँ।
2. संविधान एवं संविधानवाद में अंतर स्पष्ट करें।
3. संविधानवाद की अवधारणा एवं विशेषताओं को बताएँ।
4. ब्रिटेन में संवैधानिक विकास का वर्णन करें।
5. स्वतंत्रता के विविध आयाम कौन-कौन से हैं?
6. स्वतंत्रता की मार्क्सवादी संकल्पना क्या है?
7. संयुक्त राज्य अमेरिका और संविधानवाद की विस्तृत विवेचना करें।
8. सत्ता (Authority) का क्या अर्थ है? स्वतंत्रता और सत्ता में भेद स्पष्ट करें।

संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)

1. तुलनात्मक राजनीति–चन्द्रदेव प्रसाद, ऐटलांटिक।
2. तुलनात्मक राजनीति–प्रो. रामानन्द गैरोला।
3. तुलनात्मक राजनीति–सी. वी. गेना, विकास पब्लिशिंग हाउस।

नोट

इकाई–II

राज्य के सिद्धांत
(Theory of State)

संरचना (Structure)

2.1 उद्देश्य (Objectives)
2.2 प्रस्तावना (Introduction)
2.3 उदारवाद का अर्थ (Meaning of Liberalism)
2.4 उदारवाद के प्रकार (Types of Liberalism)
2.5 प्रमुख उदारवादी विचारक (Major Liberal Thinkers)
2.6 नव-उदारवाद (Neo-Liberalism)
2.7 राज्य की उत्पत्ति समाज के वर्ग-विभाजन का परिणाम है (Emergence of State is the Consequence of Class Division of Society)
2.8 राज्य पराधीन वर्ग के शोषण का साधन है (State is a Means of Exploitation of the Dependent Class)
2.9 ऐतिहासिक भौतिकवाद (Historical Materialism)
2.10 भारत में सामाजिक वर्ग की विशेषताएँ (Characteristics of Social Class in India)
2.11 वर्गों का आर्थिक आधार (Economic Basis of Classes)
2.12 भारत में वर्ग विभाजन के आधार (Bases of Class Division in India)
2.13 भारतीय गाँवों में वर्ग व्यवस्था (Class System in Indian Villages)
2.14 मध्यम वर्ग का उद्भव (Origin of Middle Class)
2.15 सारांश (Summary)
- अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)
- संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)

2.1 उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- उदारवाद का अर्थ समझने में।

- आधुनिक राष्ट्र-राज्य का उदय और विकास की जानकारी प्राप्त करने में।
- वर्ग से संबंधित मुद्दों की जानकारी प्राप्त करने में।
- भारत में सामाजिक वर्गों की संरचना को समझने में।
- भारत में औद्योगिक वर्ग की संरचना को समझने में।

नोट

2.2 प्रस्तावना (Introduction)

उदारवाद के अंग्रेजी पर्याय 'लिब्रलिज्म' की व्युत्पत्ति लैटिन शब्द 'लिबरलिस' से हुई है जिसका अर्थ है 'स्वतन्त्रता' या 'स्वतन्त्र व्यक्ति से सम्बन्धित'। अतः उदारवाद की संकल्पना स्वतन्त्रता के विचार के साथ निकट से जुड़ी हुई है। मूलतः 'लिबरल' विशेषण ऐसे व्यक्ति या ऐसे सिद्धान्त के साथ लगाया जाता था जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता का समर्थन करे।

2.3 उदारवाद का अर्थ (Meaning of Liberalism)

यह स्पष्ट कर पाना कि उदारवाद क्या है, बहुत कठिन है क्योंकि यह कोई एक निश्चित विचारधारा नहीं है और न ही किसी विशिष्ट विचारक से यह बंधी हुई है। इतना ही नहीं यह किसी एक कालखण्ड से भी जुड़ी हुई नहीं है। वास्तव में यह एक व्यापक विचारधारा है। यह एक निश्चित जीवन दर्शन है जो पूर्णतः मानव प्रवृत्ति पर आधारित है। इसमें सामान्यतः वे सभी विचार सम्मिलित हैं जिन्होंने एक ओर प्राचीनवाद की शासन की निरंकुशता का, चाहे वह किसी राजा की हो अथवा किसी वर्ग की, मध्ययुग की सामन्तवादी शासन व्यवस्था का तथा चर्च के अधिनायकवादी विशेषाधिकारों का विरोध किया और दूसरी ओर व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का समर्थन किया, लोकतन्त्र के आदर्शों को स्थापित करने का पूरा प्रयास किया तथा सामाजिक हित को सर्वोपरि रखने का उपक्रम किया। ऐसी स्थिति में उदारवाद का निश्चित अर्थ प्रतिपादित करना कठिन प्रतीत होता है। **प्रो. हेरल्ड लास्की** ने ठीक ही लिखा है कि "उदारवाद की व्याख्या करना, उसकी परिभाषा देना सरल नहीं है क्योंकि यह सिद्धान्तों का समूह न होकर मस्तिष्क में स्थित विचार मात्र है।"

उदारवाद के अर्थ को समझने के लिए निम्नांकित वक्तव्यों को समझना आवश्यक है:

1. **यह अनुदारवाद का विलोम नहीं है**—यह सही है कि उदारवाद विशेष रूप से इंग्लैण्ड में प्रचलित अनुदारवादी दृष्टिकोण की विरोधी विचारधारा रही है जिसने सदा परिवर्तन का समर्थन किया। इंग्लैण्ड में स्थापित अनुदारवाद सुधार व परिवर्तनों का विरोधी था। वह राजाओं, सामन्तों व चर्च के अधिकारियों के विशेषाधिकारों की रक्षा का प्रतीक था; किन्तु उदारवाद ने सभी क्रान्तिकारी परिवर्तनों का पक्षपोषण किया। वह व्यक्तिक स्वतन्त्रता का प्रतीक बन गया। अमरीका व फ्रांस में हुई क्रान्तियों का वह पोषक था। अतः उदारवाद को अनुदारवाद की विपरीत विचारधारा समझा जाने लगा। वस्तुतः यह भ्रांतिपूर्ण है। उदारवाद ने आधुनिक युग के समाजवादी एवं साम्यवादी विचारों का भी विरोध किया है जबकि ये विचारधाराएँ भी क्रान्तिकारी परिवर्तनों में विश्वास रखती हैं।

2. **उदारवाद व्यक्तिवाद का पर्यायवाची नहीं है**—अधिकांश लोग यह मानते हैं कि व्यक्तिवाद उदारवाद का न केवल अभिन्न अंग है बल्कि उसकी आत्मा है। यथार्थ में उदारवाद को व्यक्तिवाद का पर्याय मानना भूल है क्योंकि दोनों में बहुत अधिक अन्तर भी है। व्यक्तिवादी विचारधारा व्यक्ति के जीवन में राज्य के हस्तक्षेप को सहन नहीं करती। जबकि आधुनिक युग में उदारवाद ने व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से आगे बढ़कर राज्य के सकारात्मक पक्ष को स्वीकार कर लिया है। राज्य जनहित के लिए व्यक्ति के जीवन में हस्तक्षेप करने का अधिकार रखता है।

3. **उदारवाद तथा लोकतन्त्र पर्यायवाची नहीं है**—कतिपय विद्वान लोकतन्त्र को उदारवाद का पर्यायवाची मान बैठे हैं जो तर्कसंगत नहीं है। यह सही है कि दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है किन्तु दोनों कदापि एक नहीं हैं। उदारवाद का आधार स्वतन्त्रता है और वह केन्द्रीयकृत शासन का विरोधी है। जबकि लोकतन्त्र का मूल आधार समानता है।

नोट

सारटोरी के शब्दों में, "उदारवाद का सम्बन्ध राजनीतिक पराधीनता, व्यक्तिगत पहल तथा राज्य के स्वरूप से है जबकि दूसरा (लोकतन्त्र) समानता, सामाजिक एकता तथा कल्याणकारी नीति से सम्बन्धित समस्याओं के प्रति संवेदनशील है।"

4. उदारवाद, लोकतन्त्र तथा व्यक्तिवाद का सम्मिश्रण है–सही मायने में उदारवाद में लोकतन्त्र तथा व्यक्तिवादी विचारों का सम्मिश्रण पाया जाता है। **मैकगवर्न** के शब्दों में, "एक राजनीतिक सिद्धान्त के रूप में उदारवाद दो विभिन्न तत्वों का मिश्रण है; इनमें से एक लोकतन्त्र है और दूसरा व्यक्तिवाद।" इस प्रकार उदारवाद लोकतन्त्रीय शासन प्रणाली को उचित मानता है, लोकतन्त्रीय आदर्श इसको मान्य है और दूसरी ओर यह व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए पूर्ण अवसर देना चाहता है। उदारवाद किसी प्रकार के अधिनायक तन्त्र को स्वीकार नहीं करता, चाहे फिर वह राजतन्त्र व तानाशाही जैसी प्रणाली हो, चाहे समाजवादी शासन प्रणाली जिसमें व्यक्ति के व्यक्तिगत को सामाजिक कल्याण के नाम पर बलिदान कर दिया जाता है।

5. उदारवाद सामाजिक कल्याण की उपेक्षा नहीं करता–व्यक्ति को साध्य मानने वाला उदारवाद सामाजिक हित की उपेक्षा नहीं करता। यद्यपि वह राज्य को साधन के रूप में स्वीकार करता है तथापि व्यक्ति स्वतन्त्रता को उस सीमा तक सीमित करने का आदेश देता है जहाँ तक सामूहिक हितों की प्राप्ति उचित है। वह व्यक्ति के व्यक्तित्व के समुचित विकास और समाज के कल्याण में उचित सामन्जस्य स्थापित करने के पक्ष में है। इस दृष्टि में **सारटोरी** लिखते हैं कि "साधारण शब्दों में उदारवाद व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, न्यायिक सुरक्षा तथा सांविधानिक राज्य का सिद्धान्त व व्यवहार है।"

संक्षेप में, उदारवाद राजनीति का वह सिद्धान्त है जो सामन्तवाद के पतन के बाद राजनीति को बाजार अर्थव्यवस्था (Market Economy) के अनुरूप मोड़ देने के लिए अस्तित्व में आया। प्रारम्भ में इसने व्यक्ति को राजनीति का केन्द्र बिन्दु मानते हुए व्यक्तिवाद को अपनाया परन्तु बाद में इसने राजनीति में समूहों (Groups) की महत्त्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार करते हुए बहुलवाद (Pluralism) को अपना लिया। प्रारम्भ में इसने मुक्त बाजार व्यवस्था को सार्वजनिक हित का उपयुक्त साधन मानते हुए राज्य के लिए अहस्तक्षेप नीति (*Laissez Faire*) का समर्थन किया, परन्तु बाद में इसने बाजार व्यवस्था को सार्वजनिक हित के अनुरूप नियमित करने की आवश्यकता स्वीकार करते हुए कल्याणकारी राज्य (Welfare state) का सिद्धान्त अपना लिया।

उदारवाद में दो प्रमुख मुद्दों पर बल दिया जाता है–एक तो इसमें निरंकुश सत्ता को अस्वीकार करके उसकी जगह मनुष्यों की स्वतन्त्रता पर आधारित व्यवस्था स्थापित करने का लक्ष्य सामने रखा जाता है; दूसरे इसमें व्यक्ति के व्यक्तित्व की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति की माँग की जाती है। आज उदारवाद व्यक्तिवाद, लोकतन्त्र तथा समाजवाद के मिश्रण के रूप में विकसित एक पूंजीवादी वर्ग की विचारधारा कही जा सकती है।

2.4 उदारवाद के प्रकार (Types of Liberalism)

उदारवादी विचारधारा के पिछले चार सौ वर्षों के विकास इतिहास को देखने से उसके दो प्रकार या रूप हमारे सामने आते हैं:

1. **नकारात्मक या परम्परागत उदारवाद**

नकारात्मक उदारवाद परम्परागत उदारवाद के नाम से भी जाना जाता है। यह सामन्तशाही के खिलाफ राजनीतिक स्वतन्त्रता, पोपशाही के खिलाफ धार्मिक स्वतन्त्रता की माँग करता है। इसके अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ बन्धनों का अभाव माना गया जिसे नकारात्मक स्वतन्त्रता भी कहते हैं। राज्य को सीमित और नकारात्मक भूमिका प्रदान की गई। व्यक्ति के अधिकारों तथा स्वतन्त्रता को प्राकृतिक मानते हुए राज्य के हाथों में राज्य सत्ता को जनता की अमानत समझा गया। आर्थिक क्षेत्र में **एडम स्मिथ, रिकार्डो** और **माल्थस** के 'लैसे फेयर' सिद्धान्त का समर्थन करते हुए आर्थिक क्षेत्रों में किसी भी प्रकार की राजनीतिक दखलन्दाजी का विरोध करते हुए आर्थिक स्वतन्त्रता की

सिफ़ारिश की गई। स्वतन्त्र समझौते, व्यापार प्रतियोगिता, स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था तथा मुक्त बाजार को आर्थिक स्वतन्त्रता की आवश्यकता बताते हुए आर्थिक मामलों में राज्य के हस्तक्षेप का विरोध किया गया। दूसरे शब्दों में, नकारात्मक उदारवाद आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिवाद को महत्त्व देता है। यह पूंजीवादी वर्ग का आर्थिक दर्शन है। यह राज्य तथा सरकार को आवश्यक बुराई मानता है तथा जो सरकार कम-से-कम शासन करे उसे सर्वोत्तम मानता है।

नोट

इंग्लैण्ड की 1688 की गौरवपूर्ण क्रान्ति को इतिहास की पहली उदारवादी क्रान्ति माना जाता है। इसने इस युग की उदारवादी उपलब्धियों को समेकित किया और सुनिश्चित सांविधानिक आधार प्रदान किया। 1689 में जिस उदारवाद को मान्यता दी गई उसका स्वरूप मूलत: नकारात्मक था, जिसका ध्येय व्यक्तियों और समूहों को शासन की सत्ता से–विशेषत: राजमुकुट के परमाधिकारों से मुक्ति दिलाना था। इसका मुख्य ध्येय राजनीतिक उद्देश्यों की सिद्धि करना था, आर्थिक उद्देश्यों की नहीं। इन राजनीतिक उद्देश्यों में संविधानवाद के मुख्य-मुख्य सिद्धान्त सम्मिलित थे: विरोध का अधिकार, विधि का शासन और शक्तियों का पृथक्करण। **जॉन लॉक** की कृति, 'शासन पर दो निबन्ध' और 'अमरीकी स्वाधीनता की घोषणा' उदारवाद के इस दौर के महान स्मारक हैं। आगे चलकर उपयोगितावादी विचारक **बेन्थम** और **जेम्स मिल** ने जिस अंग्रेजी उपयोगितावाद की नींव रखी, उसने राजनीतिक उदारवाद को दार्शनिक आधार प्रदान किया।

संक्षेप में, नकारात्मक उदारवाद की प्रमुख मान्यताएँ निम्नांकित हैं–

1. व्यक्ति को सभी क्षेत्रों में–राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, बौद्धिक–आदि में स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए।

2. स्वतन्त्रता का अर्थ–तमाम प्रकार की सत्ताओं से मुक्ति है।

3. कानूनों का आधार विवेक है न कि आदेश।

4. सरकार तथा राज्य आवश्यक बुराई है तथा जो सरकार कम-से-कम शासन करे वह सर्वोत्तम है।

5. राज्य को आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

6. आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिवाद या लैसे फेयर सिद्धान्त को मान्यता।

संक्षेप में, परम्परागत उदारवाद मुक्त व्यापार तथा समझौते पर आधारित पूंजीवादी अर्थव्यवस्था जिसमें राज्य का बिल्कुल हस्तक्षेप न हो, को मान्यता प्रदान करता है। वस्तुत: यह पूंजीवादी वर्ग का आर्थिक दर्शन है।

2. सकारात्मक उदारवाद या कल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त

19वीं शताब्दी में नकारात्मक उदारवाद पर आधारित स्वतन्त्र पूंजीवादी आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्था के गंभीर परिणाम दिखायी दिये। पूंजीवाद की प्रगति ने एक ऐसे वर्ग को जन्म दिया जिसके पास बेचने के लिए अपनी श्रम शक्ति के अलावा कुछ भी नहीं था। पूंजीवाद के विकास के कारण इस वर्ग पर शोषण एवं अत्याचार बढ़े और अनेक उदारवादी लेखकों ने इसकी आलोचना की। **कार्लायल, रस्किन, विलियम मॉरिस** जैसे साहित्यकारों ने, **सेंट साइमन, चार्ल्स फूरियर** जैसे पादरियों ने और **राबर्ट आवेन** जैसे पूंजीपतियों ने मज़दूरों पर हो रहे अत्याचारों की ओर आम जनता का ध्यान खींचा। मज़दूर वर्ग के आर्थिक शोषण की वजह से उदारवादी दर्शन चरमराने लगा। स्वतन्त्र प्रतियोगिता का सिद्धान्त मज़दूर वर्ग के लिए स्वतन्त्र शोषण का सिद्धान्त बन गया। ऐसे समय में **कार्ल मार्क्स** और **एंजिल्स** के दर्शन का उदय हुआ। उन्होंने मज़दूर वर्ग को संगठित होकर समाजवादी क्रान्ति के माध्यम से शोषण पर आधारित पूंजीवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंकने की अपील की।

अब बदले परिप्रेक्ष्य में पूंजीवादी वर्ग को मज़दूर वर्ग की क्रान्ति का मुकाबला करने के लिए एक नये दर्शन की आवश्यकता थी। अत: राज्य के कार्यों, स्वतन्त्रता, राज्य एवं व्यक्ति के सम्बन्ध आदि के बारे में विचार बदलने लगे। नकारात्मक राज्य तथा स्वतन्त्रता का दृष्टिकोण, सकारात्मक राज्य तथा स्वतन्त्रता में परिवर्तित होने लगा। अब पुलिस राज्य कल्याणकारी राज्य में बदलने लगा। राज्य एक आवश्यक बुराई न समझकर कल्याणकारी संस्था के रूप में अपरिहार्य समझा जाने लगा। राज्य को स्वतन्त्रता का दुश्मन नहीं मित्र माना जाने लगा।

20वीं शताब्दी में उदारवाद को दो चुनौतियों का सामना करना पड़ा। एक प्रजातन्त्र की चुनौती तथा दूसरी समाजवाद की चुनौती। प्रजातन्त्र की चुनौती का सामना राजनीतिक समानता की माँग को वयस्क मताधिकार देकर

नोट

सुलझाया गया तथा समाजवाद की आर्थिक समानता की माँग को राज्य के आर्थिक कार्यों में दखलन्दाजी, कल्याणकारी भूमिका, निर्धन मज़दूर वर्ग की आर्थिक स्थिति को सुधारने सम्बन्धी नीतियों के माध्यम से पूरा करने का प्रयत्न किया गया। राज्य की शक्ति का बढ़ाया जाना आर्थिक समानता लाने की आवश्यकता माना गया। 20वीं शताब्दी में भी यह प्रवृत्ति बढ़ती गयी और आर्थिक क्षेत्रों में राज्य के क्रियाकलाप बढ़ने लगे। अब उदारवाद पूंजीवादी राज्य की शक्ति को बढ़ाये जाने का अनवरत समर्थन करता गया। अब राज्य का कार्य मानव के व्यक्तित्व के विकास के रास्ते में आने वाली बाधाओं को दूर करना, समाज में विवाद निपटाना, अर्थव्यवस्था नियन्त्रित करना, पूंजीपतियों पर कर लगाकर गरीबों के कल्याण के लिए काम करना, समाज में वर्ग सामंजस्य स्थापित करते हुए शान्ति-व्यवस्था तथा तालमेल स्थापित करना माना गया। यह संशोधित उदारवाद या सकारात्मक उदारवाद कहलाया जो पूंजीवादी मार्ग की बदलती हुई स्थिति तथा आवश्यकताओं के कारण बदल रहा था। उदारवाद में यह परिवर्तन पूंजीवादी वर्ग की बदलती हुई स्थिति की आवश्यकता थी। अब उदारवाद को प्रजातन्त्र तथा समाजवाद के नारों में नया सहारा मिला। आज उदारवाद प्रजातन्त्र और समाजवाद की बैसाखियों के सहारे चलता दर्शन है। आज उदारवाद समाजवाद से घुलमिल रहा है और यह सिद्धान्त सकारात्मक उदारवाद के नाम से जाना जाता है। सकारात्मक उदारवाद का दर्शन **जे. एस. मिल, टी. एच. ग्रीन, आर्नोल्ड, हाबहाउस, रिचे, हाब्सन, लास्की, कीन्स** आदि के विचारों में मिलता है।

संक्षेप में, सकारात्मक उदारवाद की प्रमुख विशेषताएँ निम्नांकित हैं–

1. सकारात्मक उदारवाद ने राज्य को एक आवश्यक बुराई न मानते हुए एक नैतिक तथा कल्याणकारी संस्था के रूप में प्रतिष्ठित किया।

2. राज्य तथा स्वतन्त्रता में विरोध नहीं देखा गया अपितु राज्य को स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक परिस्थितियों का निर्माणक माना गया।

3. स्वतन्त्रता सकारात्मक है तथा इसे राज्य के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है।

4. राज्य समाज सुधारक तथा कल्याणकारी कार्यों द्वारा स्वतन्त्रता तथा व्यक्तित्व के विकास में सहायक बन सकता है।

5. राज्य द्वारा अर्थव्यवस्था का नियन्त्रण तथा नियोजन किया जाना चाहिए।

6. समाज में परिवर्तन क्रान्ति द्वारा नहीं बल्कि क्रमिक विकास के द्वारा ही आ सकता है।

7. सामाजिक परिवर्तन लाने का सर्वोत्तम साधन संसदीय प्रजातन्त्र है।

8. राज्य की शक्ति पर अंकुश रहना चाहिए तथा यह असीमित नहीं होनी चाहिए।

9. पूंजीपतियों को राज्य नियंत्रित कर सकता है तथा उन पर टैक्स लगाकर समाज कल्याण के कार्यों के लिए धन एकत्रित किया जाना चाहिए।

सकारात्मक उदारवाद का विकास अवरुद्ध नहीं हुआ है। नव-उदारवादियों में **शुम्पीटर, डहल, चैपमेन** और **रॉल्स** के नाम उल्लेखनीय हैं। मैकफर्सन ने भी उदारवाद को नई दिशा प्रदान की है।

2.5 प्रमुख उदारवादी विचारक (Major Liberal Thinkers)

उदारवादी चिन्तन की एक लम्बी परम्परा रही है। उदारवादी चिन्तन हमें विभिन्न काल खण्डों में **जॉन लाक, जे. एस. मिल, हर्बर्ट स्पेन्सर** तथा **टी. एच. ग्रीन** के दर्शन में बिखरा दिखलायी पड़ता है। आधुनिक युग में **हाबहाउस, लास्की, आइजिया बर्लिन, फ्रीडमैन** तथा **सी. बी. मैकफर्सन** के विचारों में उदारवाद के तत्वों की झलक मिलती है।

2.6 नव-उदारवाद (Neo-Liberalism)

नोट

- नव-उदारवाद सामान्यतया राज्य और विशेषकर उसकी हीगलीय संकल्पना व समष्टिवाद से संबंधित सिद्धान्तों में बौद्धिकवाद विरोधी प्रवृत्ति का द्योतक है।
- यह व्यक्ति के व्यक्तित्व और उसके सामाजिक समूहों पर भी अधिकाधिक बल देता है और इस प्रकार यह समझा जाता है कि राज्य समूहों का समूह, गिल्डों का गिल्ड, समुदायों का समुदाय, प्रशासन को मानवीय गतिविधियों का समन्वयक व परस्पर विरोधी संघों के बीच आग्रहों का समायोजन करने वाला यंत्र है।
- नव-उदारवाद का सर्वाधिक जोर इस बात पर है कि मानव को हर प्रकार के अत्याचार से मुक्त किया जाये चाहे वह वर्ग हो (जैसा साम्यवादी समाज में होता है) या भीड़ हो (जैसा लोकतन्त्र में होता है) या पार्टी हो (जैसा फासिस्ट शासन में होता है)।
- नव-उदारवाद मानव व्यक्तित्व की पूर्ण और मुक्त अभिव्यक्ति के मूल में, उस अभिव्यक्ति को अपने एवं समाज के लिए मूल्यवान बनाने में मनुष्यों की क्षमता में तथा उन संस्थाओं व नीतियों का समर्थन करने में आस्था रखता है जो मुक्त अभिव्यक्ति व उस स्वतन्त्रता में विश्वास की रक्षा करता एवं उसे प्रोत्साहित करता है।
- वितरणात्मक न्याय पर बल देने के कारण नव-उदारवाद की व्याख्या बुर्जुआ व्यवस्था के समर्थक के रूप में की जाती है जिसका तात्पर्य है कि व्यक्ति को आर्थिक स्वतन्त्रता दी जाये।
- नव-उदारवाद के समर्थकों में शुम्पीटर, राबर्ट डाहल, चैपमेन और जॉन राल्स के नाम उल्लेखनीय हैं।
- **चैपमेन** के अनुसार, न्याय केवल असमानता की अनुमति नहीं देता बल्कि उसे जरूरी समझता है क्योंकि वितरणात्मक न्याय की पहली आवश्यकता उन लाभों का वितरण करना है जो उपभोक्ताओं की सर्वोच्च सत्ता के सिद्धान्त के अनुसार लाभों को अधिकाधिक करते हैं। इसी प्रकार **जॉन राल्स** ने लिखा है कि, मानव जीवन के परिप्रेक्ष्यों को प्रभावित करने वाली संस्थागत विषमताएँ हर समाज में आवश्यक हैं।
- नव-उदारवाद का एक प्रमुख लक्षण मुक्त या खुले समाज की आवश्यकता पर बल देना है।

2.7 राज्य की उत्पत्ति समाज के वर्ग-विभाजन का परिणाम है (Emergence of State is the Consequence of Class Division of Society)

मार्क्स के सामाजिक विश्लेषण की मुख्य इकाई वर्ग (Class) है, राज्य नहीं। वर्ग क्या है? यह समाज के आर्थिक विभाजन (Economic Division) का संकेत देता है। इस तरह **मार्क्स ने दो प्रमुख वर्गों की पहचान की है–धनवान वर्ग** (Haves) **और निर्धन वर्ग** (Have-nots)। ये दोनों **परस्पर विरोधी वर्ग** (Antagonistic Classes) हैं। **इनका परस्पर संघर्ष** (Conflict) **ही ऐतिहासिक विकास की कुंजी है।**

सामाजिक विकास के शुरू-शुरू में न कोई वर्ग होता है, न राज्य होता है। **मार्क्स और एंगेल्स** ने इस अवस्था को **आदिम साम्यवाद** (Primitive Communism) की संज्ञा दी है। यह सामाजिक जीवन की आरंभिक अवस्था है। वस्तुत: यह राज्य-पूर्व समाज (Pre-State Society) की अवस्था है। इस समय समाज परस्पर-विरोधी वर्गों में विभाजित नहीं होता बल्कि कबीले के बड़े-बूढ़े सारे सदस्यों के हितों का संरक्षण और प्रबंध करते हैं। कबीले के लोग सम्मान की भावना से उनकी आज्ञाओं का पालन करते हैं, डर या आतंक से नहीं।

इस अवस्था में उत्पादन के साधन बहुत थोड़े और विकसित होते हैं। लोग प्राय: शिकार करके, मछलियाँ पकड़कर या कंदमूल चुन-चुनकर गुजारा करते हैं। उत्पादन के साधन सबके साझे होते हैं और उपभोग की वस्तुओं को भी मिल-बाँटकर खाया जाता है।

कालांतर में उत्पादन के साधन विकसित हो जाते हैं और एक छोटा-सा वर्ग इन साधनों पर अपना अधिकार स्थापित करके बाकी समाज को पराधीन बना देता है। इस तरह आदिम साम्यवादी प्रणाली छिन्न-भिन्न हो जाती है;

नोट

समाज परस्पर-विरोधी वर्गों में बँट जाता है और राज्य की उत्पत्ति का कारण उपस्थित हो जाता है। धनवान वर्ग अपने विशेषाधिकारों (Privileges) की रक्षा के लिए राज्य का आविष्कार करता है।

मार्क्स और एंगेल्स ने 'कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो' (साम्यवादी घोषणापत्र) (1848) के अंतर्गत लिखा है– **समाज का अब तक का इतिहास वर्ग संघर्षों का इतिहास मात्र है।** स्वतंत्रजन और दास, कुलीन और सामान्यजन, ज़मींदार और किसान, ठेकेदार और मिस्त्री–संक्षेप में, ज़ालिम और मज़लूम–निरंतर एक-दूसरे के दुश्मन रहे हैं; वे कभी चोरी-छिपे और कभी खुलेआम लगातार आपस में लड़ते रहे हैं और इस लड़ाई का अंत हर बार या तो समाज के क्रांतिकारी पुनर्निर्माण में हुआ, या फिर दोनों संघर्षरत वर्गों के विनाश में। सामाजिक इतिहास का प्रत्येक अध्याय साक्षी है कि राजनीतिक सत्ता प्रभुत्वशाली वर्ग (Dominant Class) के हाथों में रही है जिसने दूसरे वर्ग को पराधीन (Dependent) बनाकर उस पर निरंतर अत्याचार किए। इस तरह राज्य उत्पीड़न (Oppression) का साधन मात्र रहा है। मार्क्स के अनुसार वर्ग संघर्ष (Class Conflict) तब तक जारी रहेगा जब तक स्वयं कामगार वर्ग (Working Class) सत्ता की बागडोर नहीं सँभाल लेता। तब उत्पादन के प्रमुख साधनों पर सामाजिक स्वामित्व (Social Ownership) स्थापित हो जाएगा और सब लोग कामगार बन जाएँगे। तभी समाज शोषण, उत्पीड़न, वर्ग-भेद और वर्ग संघर्ष के अभिशाप से मुक्त हो सकेगा।

प्राचीनकाल की दास-प्रथा (Slavery) के अंतर्गत सेवक और स्वामी दो परस्पर-विरोधी वर्ग थे। मध्यकाल की सामंत प्रथा (Feudalism) के अंतर्गत किसान और ज़मींदार परस्पर-विरोधी वर्गों के रूप में दिखाई देते हैं। आधुनिक युग की पूंजीवादी व्यवस्था (Capitalism) के अंतर्गत कामगार (Workers) और पूंजीपति (Capitalists) फिर परस्पर-विरोधी वर्गों के रूप में प्रकट होते हैं। **मार्क्स** के अनुसार, आधुनिक युग में वर्ग संघर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है। उसका विचार है कि पूंजीवादी समाज में वर्ग-विभाजन अत्यंत स्पष्ट हो जाता है, वर्ग चेतना (Class Consciousness) पूर्ण-विकसित हो जाती है और वर्ग संघर्ष अत्यंत तीव्र हो जाता है। **मार्क्स** ने तर्क दिया है कि पूंजी पर आधारित उत्पादन प्रणाली में माल-निर्माताओं की निरंतर प्रतिस्पर्धा (Competition) के फलस्वरूप सारी पूंजी और ज़मीन धीरे-धीरे इने-गिने लोगों के हाथों में सिमटती चली जाएगी; मध्यवर्ग (Middle Class) अपने पैरों पर खड़ा न रह पाने के कारण कामगार वर्ग में मिल जाने को विवश हो जाएगा। परिणामत: पूंजीपति वर्ग छोटा होता चला जाएगा और कामगार वर्ग का आकार बढ़ता जाएगा। पूंजीपति अपने बढ़ते हुए लाभ का उपयोग स्वयं नहीं कर पाएँगे, अत: वे उसे फिर उद्योगों में लगा देंगे। इससे उत्पादन तो बढ़ेगा परंतु निर्धन कामगार वर्ग क्रय-शक्ति (Purchasing Power) के अभाव में 'बाजार' नहीं जुटा पाएगा। तब देश के बाहर की तलाश शुरू होगी। अत: परिवहन और संचार के उन्नत साधनों का विकास होगा जिससे विभिन्न देशों में परस्पर संबंध जुड़ेगा। सचेत कामगार वर्ग अपना संगठन सुदृढ़ करने के लिए और अपने आंदोलन के विस्तार के लिए इन साधनों का प्रयोग करने लगेगा।

इस तरह पूंजीपति या बुर्जुवा (Bourgeoisie) और कामगार या सर्वहारा (Proletariat) वर्गों के बीच सीधे संघर्ष की संभावना उज्ज्वल हो जाएगी। सर्वहारा वर्ग अपनी विशाल संख्या और सुदृढ़ संगठन के बल पर मुट्ठी भर पूंजीपतियों को धराशायी करने में निश्चय ही समर्थ और सफल होगा। इस तरह 'लुटेरों को लूट लिया जाएगा' (Expropriators will be expropriated)। सर्वहारा की विजय के बाद उत्पादन के प्रमुख साधनों को 'सामाजिक स्वामित्व' (Social Ownership) में रखकर पुराने पूंजीपतियों को कामगार बन जाने के लिए विवश किया जाएगा जिससे समाज के सभी सदस्य उत्पादन करने वाले बन जाएँगे; दूसरों के श्रम पर पलने वाला कोई नहीं होगा। इस तरह अंत में वर्गहीन समाज (Classless Society) का उदय होगा।

बुर्जुआ (Bourgeoisie)

मार्क्सवाद की शब्दावली में पूंजीपति-वर्ग (Capitalist Class) का पर्याय। पूंजीवाद (Capitalism) के अंतर्गत यह वर्ग सामाजिक उत्पादन के प्रमुख साधनों (भूमि, कल-कारखानों, कच्चे माल के स्रोतों, इत्यादि) पर अपना स्वामित्व और नियंत्रण स्थापित कर लेता है; और निजी लाभ (Private Profit) के लिए कामगारों (Workers) के विशाल वर्ग को मज़दूरी (Wage Labour) पर रखकर उनका शोषण (Exploitation) करता है।

नोट

सर्वहारा (Proletariat)

मार्क्सवाद के अनुसार, पूंजीवाद के अंतर्गत औद्योगिक कामगारों (Industrial Workers) का यह विशाल वर्ग जो जनसाधारण की श्रेणी में आता है। अत: यह कामगार-वर्ग (Working Class) का पर्याय है। इसके पास कोई निजी संपत्ति (Private Property) नहीं होती। यह केवल अपनी श्रम-शक्ति (Labour Power) के बल पर जीवन-निर्वाह करने के लिए विवश होता है।

मार्क्स ने लिखा है कि अब तक के इतिहास में जिस वर्ग ने शोषणकर्ताओं से सत्ता छीनी, कालांतर में वह स्वयं शोषणकर्ता सिद्ध हुआ। इसलिए अब तक जितनी क्रांतियाँ हुईं उनसे इतिहास अपने अंतिम लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाया, अर्थात् शोषण-मुक्त समाज का उदय नहीं हो पाया। परंतु पूंजीपति और सर्वहारा वर्गों के संघर्ष से जो क्रांति होगी, वह पिछली सब क्रांतियों से भिन्न होगी क्योंकि उसके फलस्वरूप शोषक वर्ग का अस्तित्व ही मिट जाएगा और वर्गहीन समाज की स्थापना का रास्ता खुल जाएगा। **मार्क्स** ने वर्गहीन समाज को साम्यवादी समाज (Communist Society) की संज्ञा दी है। चूंकि मार्क्सवादी संकल्पना के अनुसार, राज्य दूसरों के उत्पीड़न का साधन मात्र है इसलिए ***साम्यवादी क्रांति के फलस्वरूप राज्य भी लुप्त हो जाएगा*** (The state will 'wither away')। अत: साम्यवादी समाज वर्गहीन (Classless) तो होगा ही, राज्यहीन (Stateless) भी होगा। साम्यवाद (Communism) से पहले की सब अवस्थाओं में मनुष्य प्रकृति के निर्विकार नियमों से बँधा रहता है। अत: वह 'विवश' होता है। परंतु साम्यवाद की स्थापना हो जाने पर वह इन बंधनों से मुक्त होकर अपने जीवन और समाज को मनचाहा रूप देने के लिए स्वतंत्र हो जाता है। अत: साम्यवादी समाज की स्थापना ऐसे परिवर्तन का संकेत देगी जिसमें मनुष्य '**विवशता-लोक**' (Kingdom of Necessity) से निकलकर '**स्वतंत्रता-लोक**' (Kingdom of Freedom) में प्रवेश करेगा।

परंतु साम्यवाद (Communism) की स्थापना से पहले एक अंतरिम अवस्था को पार करना होगा जिसमें उत्पादन के सभी साधनों पर सामाजिक स्वामित्व स्थापित करके पूंजीवाद के अंतिम अवशेषों को हटाना होगा। **मार्क्स** ने इस अवस्था को समाजवाद (Socialism) की संज्ञा दी है। इसकी विशेषता '**सर्वहारा का अधिनायकतंत्र**' (Dictatorship of the Proletariat) होगी। इस अवस्था में राज्य का स्वरूप अपने पूर्ववर्ती राज्यों की तरह उत्पीड़नकारी होगा। परंतु पूर्ववर्ती राज्यों के विपरीत इसमें पुराने शोषक वर्ग (अर्थात् पूंजीपतियों) का उत्पीड़न किया जाएगा, निर्धन शोषित वर्ग का नहीं। ऐसा समाज बुर्जुआ संसदीय लोकतंत्र (Parliamentary Democracy) की तुलना में अधिक लोकतंत्रीय होगा क्योंकि सच्चा लोकतंत्र ऐसे समाज में नहीं रह सकता जो पूंजीवादी व्यवस्था की तरह दो परस्पर-विरोधी वर्गों में बँटा हो। समाजवाद की छत्रछाया में ही साम्यवाद का उदय होगा।

सर्वहारा का अधिनायकतंत्र

(Dictatorship of the Proletariat)

मार्क्सवाद के अनुसार, वह व्यवस्था जो समाजवादी क्रांति के बाद स्थापित की जाती है। इसमें *सर्वहारा वर्ग सामाजिक उत्पादन के साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व (Public Ownership) स्थापित करके* सारी सत्ता का सूत्र सँभाल लेता है और पूंजीवाद के अवशेषों को मिटाने के लिए बल-प्रयोग का सहारा लेता है।

समाजवाद और **साम्यवाद में** एक अंतर यह भी होगा कि साम्यवाद में तो प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करेगा और अपनी आवश्यकता के अनुसार प्राप्त करेगा (क्योंकि तब उत्पादन पूरे पैमाने पर होगा), परंतु समाजवाद के अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार काम करेगा और अपने काम के अनुसार प्राप्त करेगा।

नोट

2.8 राज्य पराधीन वर्ग के शोषण का साधन है (State is a Means of Exploitation of the Dependent Class)

राज्य के वर्ग-सिद्धांत (Class Theory of the State) के अनुसार, राजनीतिक शक्ति (Political Power) आर्थिक शक्ति (Economic Power) के हाथ की कठपुतली है। आर्थिक शक्ति से संपन्न वर्ग अर्थात् धनवान वर्ग ही राजनीतिक दृष्टि से 'प्रभुत्वशाली वर्ग' (Dominant Class) होता है, और निर्धन वर्ग 'पराधीन वर्ग' (Dependent Class) रहता है। इस तरह राज्य समाज की इच्छा का प्रतिनिधित्व नहीं करता, बल्कि वह ऐसा संगठन है जिसे समाज पर ऊपर से थोप दिया गया है। राज्य पूरे समाज के हितसाधन का स्रोत नहीं हो सकता क्योंकि वह धनवान वर्ग के हितसाधन का उपकरण है और उसी वर्ग के हितों को बढ़ावा देने के लिए निर्धन वर्ग का भरपूर शोषण (Exploitation) करता है। राज्य के वर्ग-सिद्धांत के प्रवर्तक **मार्क्स** और **एंगेल्स** ने 'कम्युनिस्ट मैनीफ़ेस्टो' (साम्यवादी घोषणापत्र) (1848) के अंतर्गत लिखा है--**"सही-सही कहा जाए तो राजनीतिक शक्ति एक वर्ग का उत्पीड़न करने के लिए दूसरे वर्ग की संगठित शक्ति मात्र है।"**

राज्य का वर्ग-सिद्धांत समाज और राज्य में स्पष्ट अंतर करते हुए यह मानता है कि समाज एक प्राकृतिक संस्था है, जो सदा से चली आ रही है, परंतु राज्य एक कृत्रिम संस्था है जिसका निर्माण बाद में हुआ है। उसका निर्माण संपूर्ण समाज ने सबके हितसाधन के लिए नहीं किया बल्कि धनवान वर्ग ने अपने स्वार्थ-साधन के लिए किया है। अत: किसी भी युग में किसी भी देश में राज्य अपने नागरिकों को जो अधिकार (Rights) प्रदान करता है, वे प्रभुत्वशाली वर्ग के अधिकार होते हैं चाहे उनमें जनसाधारण की स्वतंत्रता और समानता का कितना भी बड़ा दावा क्यों न किया गया हो।

यह सिद्धांत आर्थिक शक्ति को राजनीतिक शक्ति का आधार मानता है। इसके अनुसार, आर्थिक शक्ति की जड़ पर ही राजनीतिक शक्ति का पेड़ उगता है; आर्थिक शक्ति की नींव पर ही राजनीतिक शक्ति का ढांचा खड़ा किया जाता है। **आर्थिक शक्ति का अर्थ है--सामाजिक उत्पादन के साधनों** (Means of Social Production) **पर स्वामित्व। पूंजीवाद** (Capitalism) **के अंतर्गत सामाजिक उत्पादन के साधनों--**भूमि, भवन, खदानों, वन-संपदा, संयंत्र, पूंजी इत्यादि **को निजी संपत्ति** (Private Property) **के विषय माना जाता है।** ये साधन पूरे समाज के लिए उत्पादन के काम आते हैं और जब इने-गिने लोग इन पर अपना स्वामित्व स्थापित कर लेते हैं, तब ये 'निजी' संपत्ति का रूप धारण कर लेते हैं। **मार्क्सवाद** के अनुसार, इतिहास के प्रत्येक युग में सामाजिक उत्पादन के साधनों पर इने-गिने लोग अपना स्वामित्व स्थापित कर लेते हैं और वे शेष समाज को अपनी शर्तों पर श्रम करने को विवश कर देते हैं। पूंजीवाद के अंतर्गत राज्य केवल पूंजीपति-वर्ग के उद्देश्यों की पूर्ति करता है। 'कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो' (साम्यवादी घोषणापत्र) के शब्दों में, **"आधुनिक युग की कार्यपालिका संपूर्ण बुर्जुआ वर्ग के साझे मामलों का प्रबंध करने वाली समिति ही तो है।"**

धनवान वर्ग अपनी आर्थिक शक्ति को सुदृढ़ करने के लिए राजनीति (Politics), **कानून** (Law), **अधिकारीतंत्र** (Bureacracy), **न्यायालय** (Courts) **इत्यादि का आविष्कार करता है और इसे वैधता** (Legitimacy) **प्रदान करने के लिए इसके इर्द-गिर्द धर्म** (Religion), **नैतिकता** (Morality) **और विचारधारा** (Ideology) **का ताना-बाना बुन लेता है।** इस तरह **धनवान वर्ग स्वयं प्रभुत्वशाली वर्ग** (Dominant Class) **की भूमिका संभाल लेता है और निर्धन वर्ग को पराधीन वर्ग** (Dependent Class) **की स्थिति में धकेल देता है। मार्क्सवाद** के अनुसार, राज्य की नींव सच्ची नैतिकता या न्याय पर नहीं रखी जाती, बल्कि सामाजिक अन्याय पर रखी जाती है। राज्य परस्पर-विरोधी वर्गों के संघर्ष को दबा देता है। शासितों की सहमति की भ्रांति पैदा करने के लिए तथा अपने अस्तित्व को नैतिक दृष्टि से उचित ठहराने के लिए राज्य विचारधारात्मक शक्ति (Ideological Power) का प्रयोग करता है।

विचारधारात्मक शक्ति (Ideological Power)

किसी व्यक्ति या वर्ग की वह क्षमता जिसके बल पर वह किसी प्रचलित या प्रस्तावित व्यवस्था को **'सर्वोत्तम व्यवस्था'** (Best System) के रूप में प्रस्तुत करके या उसे लोगों की दृष्टि में उचित ठहराकर उसके लिए लोगों की सहमति (Consent) और समर्थन (Support) प्राप्त कर लेता है।

ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में राज्य की भूमिका का विस्तृत विश्लेषण **ऐतिहासिक भौतिकवाद** (Historical Materialism) के सिद्धांत में मिलता है जो कि **मार्क्स** और **एंगेल्स** की महत्त्वपूर्ण देन है।

नोट

2.9 ऐतिहासिक भौतिकवाद (Historical Materialism)

ऐतिहासिक भौतिकवाद इस मान्यता से शुरू होता है कि **इतिहास के किसी भी युग में समाज के आर्थिक संबंध समाज की प्रगति का रास्ता तैयार करते हैं और वे राजनीतिक, कानूनी, सामाजिक, बौद्धिक और नैतिक संबंधों का स्वरूप निर्धारित करने में सबसे बढ़कर प्रभाव डालते हैं।** समाज के आर्थिक संबंधों से तात्पर्य है–ऐसे संबंध जिनसे बँधकर स्त्री-पुरुष अपने जीवन-निर्वाह के साधन जुटाते हैं, अर्थात् अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपेक्षित वस्तुओं के उत्पादन (Production), विनिमय (Exchange) और वितरण (Distribution) की व्यवस्था करते हैं। दूसरे शब्दों में, **किसी राष्ट्र या समाज के विकास की प्रक्रिया में आर्थिक तत्व अर्थात् वस्तुओं के उत्पादन, विनिमय और वितरण प्रणाली की भूमिका सबसे प्रधान होती है।** इसका मतलब यह नहीं कि अन्य तत्व–कानून, धर्म, साहित्य, विज्ञान, कला, संस्कृति इत्यादि–समाज की प्रगति में कोई भूमिका नहीं निभाते; मतलब यह है कि **अन्य सब तत्वों की भूमिका आर्थिक तत्व के साथ जुड़ी रहती है, और उसके उपाश्रित के रूप में सक्रिय होती है।** 'ए कांट्रीब्यूशन टू द क्रिटीक ऑफ़ पॉलिटिकल इकॉनामी' (राज्य-अर्थशास्त्र मीमांसा) (1859) की प्रस्तावना में **मार्क्स** ने लिखा है कि हेगेल के विधि-दर्शन (Philosophy of Law) का पुनरीक्षण करने के बाद वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि **कानूनी संबंधों या शासन प्रणालियों के स्वरूप** को न तो अपने-आप समझा जा सकता है, न मानव-मन की तथाकथित प्रगति के संदर्भ में, बल्कि **उनकी जड़ें जीवन की भौतिक परिस्थितियों में ढूंढी जा सकती हैं।** संक्षेप में, मनुष्य सामाजिक स्तर पर जो उत्पादन करते हैं, उसमें वे एक-दूसरे के साथ निश्चित संबंधों के सूत्र में बँध जाते हैं। ये संबंध अनिवार्य होते हैं और इन पर उनका अपना कोई वश नहीं होता। जब उत्पादन की शक्तियों का विकास होता है तो उत्पादन प्रणाली बदल जाती है और उसके अनुरूप उत्पादन संबंधों का स्वरूप भी बदल जाता है। दूसरे शब्दों में, **भौतिक जीवन की उत्पादन प्रणाली** (Mode of Production) **मानव जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक प्रक्रियाओं के सामान्य स्वरूप को निर्धारित करती है।**

उत्पादन प्रणाली में जैसे-जैसे परिवर्तन होता है, वैसे-वैसे मनुष्यों के सारे सामाजिक संबंध भी बदल जाते हैं। **जब उत्पादन हाथ की चक्की से होता है तब सामंत** (Feudal Lord) **अस्तित्व में आता है; जब उत्पादन भाप की चक्की से होने लगता है तब पूंजीपति-उद्योगपति** (Capitalist-Industrialist) **का आविर्भाव** होता है। जब भौतिक उत्पादन प्रणाली के अनुरूप सामाजिक संबंध स्थापित हो जाते हैं, तब इन संबंधों के अनुरूप कायदे-कानूनों, सिद्धांतों, विचारों और आदर्शों का निर्माण होता है। 1848 में **मार्क्स** और **एंगेल्स** ने 'कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो' (साम्यवादी घोषणापत्र) में लिखा कि बुर्जुआ या मध्य वर्ग ने उत्पादन के साधनों में क्रांति लाकर समाज के संपूर्ण स्वरूप को ही बदल दिया है।

सामाजिक इतिहास को ध्यान में रखते हुए **मार्क्स** ने लिखा है कि तकनीकी विकास के फलस्वरूप सबसे पहले उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन होता है और फिर सामाजिक संबंधों में भी उसके अनुरूप परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। परंतु पुरानी व्यवस्था के अंतर्गत जिन सामाजिक और राजनीतिक आदर्शों का निर्माण हो चुका था, वे नई व्यवस्था के अनुकूल नहीं होते। पर चूँकि निहित स्वार्थ (Vested Interests) इन पर आंच नहीं आने देना चाहते, इसलिए जो सामाजिक वर्ग पुरानी व्यवस्था की बेड़ियों से जकड़ा हुआ था, उसमें चेतना का उदय होता है। वह इन बेड़ियों को अचानक झटककर उतार फेंकता है। इस तरह सामाजिक क्रांति से ही सामाजिक परिवर्तन का आविर्भाव होता है।

मार्क्स के भौतिकवाद (Historical Materialism) की व्याख्या के लिए **'आधार'** (Base) और **'अधिरचना'** (Superstructure) में अंतर करना जरूरी है। भवन-निर्माण से मिलते-जुलते इस रूपक के अंतर्गत उत्पादन प्रणाली (Mode of Production) या समाज की आर्थिक संरचना (Economic Structure) को समाज

नोट

का 'आधार' (Base/Substructure) या नींव (Foundation) मानते हैं। समाज के कानूनी और राजनीतिक ढांचे (Legal and Political Structure) तथा सामाजिक चेतना (Social Consciousness) की विविध अभिव्यक्तियों को 'अधिरचना' या 'ऊपरी ढांचे' की संज्ञा दी जाती है। अत: धर्म, नैतिक आदर्श, सामाजिक प्रथाएँ, साहित्य, कला और संस्कृति इत्यादि को भी 'अधिरचना' का हिस्सा मानते हैं। इस तर्क के अनुसार, सामाजिक विकास के दौरान उत्पादन प्रणाली में जो परिवर्तन होते हैं, उनके परिणामस्वरूप अधिरचना के सब हिस्सों में उनके अनुरूप परिवर्तन अपने-आप हो जाते हैं।

उत्पादन प्रणाली के विवरण से दो बातों का संकेत मिलता है--(क) उत्पादन के तरीके का तकनीकी स्वरूप क्या है, जैसे कि, क्या वह हस्तशिल्प, कृषकीय या औद्योगिक तरीके से होता है; और (ख) उत्पादन किस तरह की समाज-व्यवस्था के अंतर्गत होता है, अर्थात् क्या वह दास-प्रथा, सामंती, पूंजीवादी या समाजवादी व्यवस्था के अंतर्गत संपन्न होता है? (इस व्यवस्था से मुख्यत: यह संकेत मिलता है कि उत्पादन के साधनों का स्वामित्व किस वर्ग के हाथ में है?) स्वयं उत्पादन प्रणाली का निर्माण दो तत्वों के संयोग से होता है : उत्पादन की शक्तियाँ और उत्पादन के संबंध।

उत्पादन की शक्तियों (Forces of Production) से भी दो बातों का संकेत मिलता है--(क) उत्पादन के साधन (Means of Production), उपकरण, यंत्र इत्यादि क्या हैं; और (ख) श्रम-शक्ति (Labour Power), अर्थात् उत्पादन करने वाले मनुष्यों के ज्ञान, अनुभव, निपुणता और क्षमताओं का स्तर क्या है?

दूसरी ओर, **उत्पादन संबंधों** (Relations of Production) से यह संकेत मिलता है कि उत्पादन की प्रक्रिया में मनुष्य किन संबंधों से बँध जाते हैं--अर्थात् कौन-सा वर्ग उत्पादन के साधनों का स्वामी है और इसलिए प्रभुत्वशाली वर्ग (Dominant Class) है, और कौन-सा वर्ग इनसे वंचित होने के कारण पराधीन वर्ग (Dependent Class) की स्थिति में है? इस तरह, स्वामी और दास (Master and Slave), ज़मींदार और किसान (Lord and Serf), पूंजीपति और कामगार (Capitalist and Worker) के परस्पर संबंध उत्पादन संबंधों के उपयुक्त उदाहरण हैं। इतिहास के भिन्न-भिन्न युगों में प्रचलित उत्पादन संबंध भिन्न-भिन्न प्रकार के सामाजिक विन्यास (Social Formation) को जन्म देते हैं। इन्हें साधारणत: दास-प्रथा समाज (Slave-Owning Society), सामंती समाज (Feudal Society) और पूंजीवादी समाज (Capitalist Society) के रूप में पहचान सकते हैं।

ऐतिहासिक भौतिकवाद की मुख्य मान्यता यह है कि **उत्पादन की शक्तियों का विकास धीमे-धीमे होता है, परंतु जब उनका स्वरूप आमूल बदल जाता है, तब प्रचलित उत्पादन संबंध उन शक्तियों को संभालने योग्य नहीं रह जाते।** ऐसी हालत में उत्पादन की शक्तियों और **उत्पादन संबंधों में संघर्ष पैदा होता है**, और इस संघर्ष में उत्पादन की शक्तियाँ एक ही झटके में पुराने उत्पादन संबंधों के जाल को तोड़कर नए उत्पादन संबंधों को जन्म देती हैं। यही कारण है कि ऐतिहासिक विकास के क्रम में प्रत्येक सामाजिक परिवर्तन के लिए क्रांति अनिवार्य है। **मार्क्स** के शब्दों में, **क्रांति सामाजिक परिवर्तन का 'अनिवार्य माध्यम' है।** (Revolution is the indispensable midwife of social change).

मार्क्सवाद के अनुसार, ऐतिहासिक क्रम की प्रत्येक अवस्था--चाहे वह कितनी ही खराब क्यों न दिखाई दे--अपनी पिछली अवस्था से उत्तम होती है, क्योंकि वह विकास के लक्ष्य के निकट होती है। इसलिए मार्क्सवाद को **प्रगतिवादी** (Progressive) सिद्धांत कहा जाता है। मार्क्स यह भी मानता है कि 'प्रगति' ऐतिहासिक प्रक्रिया का अनिवार्य परिणाम है; उसे कोई रोक नहीं सकता। पर यदि उत्पीड़ित वर्ग (Oppressed Class) अपनी वर्ग चेतना से प्रेरित होकर सुदृढ़ संगठन बना ले तो वह वर्ग-संघर्ष में जल्दी विजयी हो सकता है। इस तरह प्रगति के वेग को बढ़ाया जा सकता है।

फ्रैड्रिक एंगेल्स की चर्चित कृति 'सोशलिज्म : युटोपियन एंड साइंटिफ़िक' (समाजवाद : स्वप्नदर्शी और वैज्ञानिक) (1892) के अनुसार, "ऐतिहासिक भौतिकवाद इतिहास की यात्रा के बारे में दृष्टिकोण है जिसके अंतर्गत मुख्य-मुख्य ऐतिहासिक घटनाओं के मूल कारण और उनकी प्रमुख प्रेरक-शक्ति का पता लगाने के लिए यह देखा जाता है कि समाज का ऐतिहासिक विकास कैसे हुआ है; उत्पादन और विनिमय प्रणाली में क्या-क्या परिवर्तन हुए

हैं; इसके परिणामस्वरूप समाज किन पृथक्-पृथक् वर्गों में विभाजित हुआ है; और इन वर्गों में एक-दूसरे के विरुद्ध कैसा संघर्ष चला है?"

ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार ऐतिहासिक विकास (Historical Development) की प्रक्रिया को लेखाचित्र के रूप में इस तरह दिखा सकते हैं--

नोट

ऐतिहासिक भौतिकवाद : ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया
(Historical Materialism : Process of Historical Development)

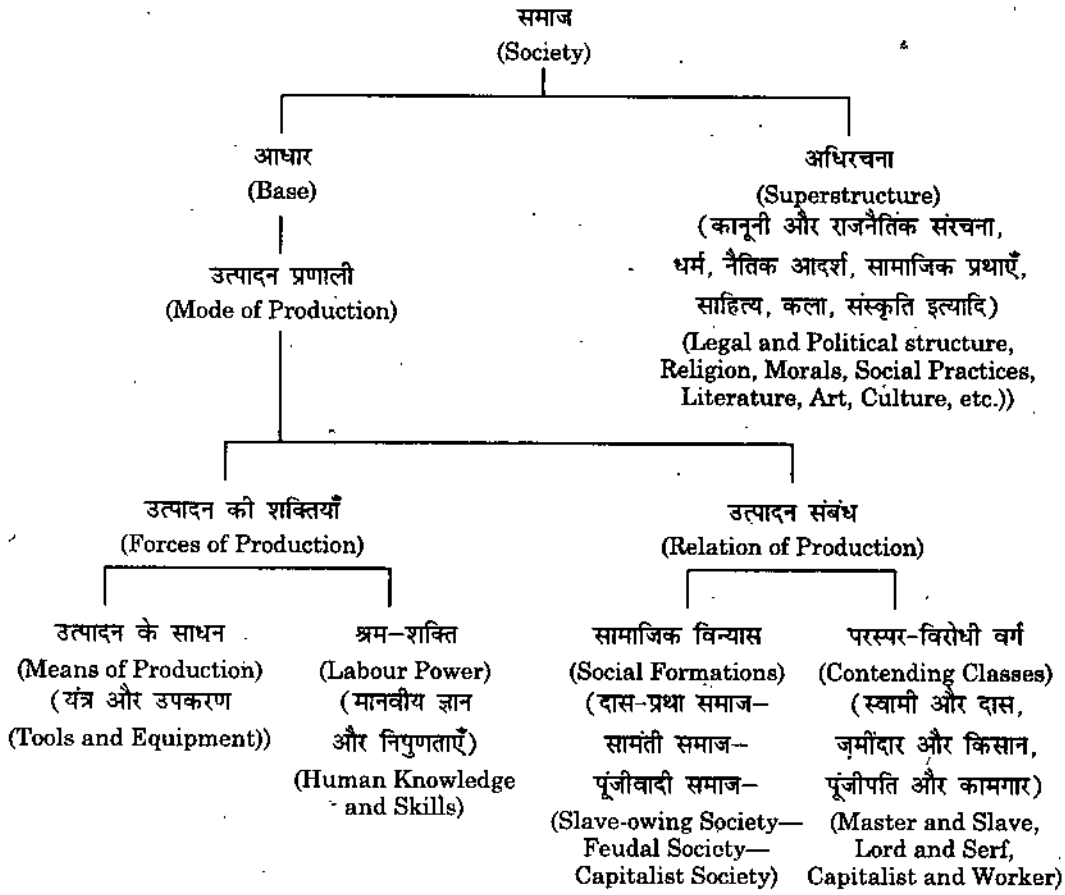

वर्ग से सम्बन्धित मुद्दे
(Issues Concerning Class)

वर्तमान भारत में जाति एवं वर्ग के आधार पर सामाजिक संस्तरण पाया जाता है। प्राचीन भारत में वर्ण और जाति ही संस्तरण के प्रमुख आधार थे। किन्तु आधुनिक युग में औद्योगीकरण, मशीनीकरण, नगरीकरण, पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति, नवीन शिक्षा एवं प्रजातन्त्रीय शासन व्यवस्था के सम्मिलित प्रभावों ने भारत में भी पश्चिमी देशों की भाँति वर्ग व्यवस्था को जन्म दिया है। वर्तमान भारत में जाति-प्रथा दिनोंदिन कमजोर होती जा रही है और उसके स्थान पर वर्ग-व्यवस्था का उदय एवं विकास हो रहा है। आज हमें प्रशासक वर्ग, कृषक वर्ग, मज़दूर वर्ग, पूंजीपति वर्ग, व्यापारी वर्ग, बुद्धिजीवी वर्ग, नौकरशाही वर्ग, अध्यापक वर्ग आदि के रूप में भारत में अनेक वर्ग दिखायी देते हैं। नवीन वर्ग व्यवस्था ने भारत की परम्परात्मक समाज व्यवस्था में नवीन परिवर्तन उत्पन्न किए हैं, नवीन मूल्यों और आदर्शों को जन्म दिया है।

नोट

वर्गों की उपस्थिति सार्वभौमिक है। विश्व में कोई भी समाज ऐसा नहीं है, जिसमें वर्ग न पाए जाते हों। आधुनिक समाजों में तो स्तरीकरण का यह प्रमुख आधार है। इसलिए ही **मार्क्स** कहते हैं कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, परन्तु अधिक स्पष्टतया आधारभूत रूप में वह एक 'वर्ग प्राणी' है। आदिकाल से ही आयु, लिंग, शिक्षा, आय, व्यवसाय एवं धर्म आदि के आधार पर वर्गों का निर्माण होता है और समाज का स्तरीकरण बालक, युवा, प्रौढ़ एवं वृद्ध स्त्री-पुरुष, शिक्षित-अशिक्षित, गरीब-अमीर, किसान, व्यापारी, शिक्षक, क्लर्क आदि वर्गों में किया जाता रहा है। वर्ग ऐसे व्यक्तियों का समूह है जिनकी समान सामाजिक प्रस्थिति (status) होती है। प्रत्येक समाज में अनेक प्रस्थितियाँ पायी जाती हैं, इसलिए उनके अनुसार अनेक वर्ग भी पाए जाते हैं। जब जन्म को छोड़कर अन्य किसी आधार पर समाज को विभिन्न समूहों में विभाजित किया जाता है तो ऐसे प्रत्येक समूह को सामाजिक वर्ग कहते हैं। **बॉटोमोर** लिखते हैं, "वर्ग तथ्यतः समूह होते हैं। वे अपेक्षाकृत उन्मुक्त होते हैं, बन्द नहीं। उनका आधार निर्विवाद रूप से आर्थिक है, लेकिन वे आर्थिक समूहों से अधिक हैं। वे औद्योगिक समाजों के लाक्षणिक समूह हैं।"

जन्म के अतिरिक्त किसी भी आधार पर समाज में समूहों का निर्माण वर्ग कहलाता है, किन्तु इस बात को लेकर मतभेद है कि क्या वर्गों का आधार आर्थिक ही है या सामाजिक-सांस्कृतिक भी। वर्ग को सामाजिक आधार मानने वाली कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं:

ऑगबर्न (Ogburn) के अनुसार, "एक सामाजिक वर्ग ऐसे व्यक्तियों का योग है, जिनकी एक दिए हुए समाज में अनिवार्य रूप से समान सामाजिक स्थिति होती है।" **मैकाइवर** एवं **पेज** के शब्दों में, "एक सामाजिक वर्ग समुदाय का वह भाग है जो सामाजिक स्थिति के आधार पर दूसरों से पृथक् किया जा सके।" **जिसबर्ट** (Gisbert) के अनुसार, "एक सामाजिक वर्ग व्यक्तियों का समूह अथवा एक विशेष श्रेणी है, जिसकी समाज में एक विशेष स्थिति होती है। यह विशेष स्थिति ही अन्य समूहों से उनके सम्बन्ध को निर्धारित करती है।" ये सभी परिभाषाएँ इस बात को स्पष्ट करती हैं कि समान सामाजिक प्रस्थिति वाले समूह ही समाज में वर्गों का निर्माण करते हैं। क्लर्क, अध्यापक, व्यापारी, किसान आदि की सामाजिक प्रस्थितियाँ समाज में भिन्न-भिन्न होने से ही ये अलग-अलग प्रकार के वर्ग बन गए हैं।

दूसरी परिभाषाएँ वे हैं जो वर्ग के आर्थिक आधार को स्वीकार करती हैं। **गुल्डनर** (Gouldner) लिखते हैं, "एक सामाजिक वर्ग उन व्यक्यिों अथवा परिवारों का योग है, जिनकी आर्थिक स्थिति लगभग समान होती है।" **मैक्स वेबर** कहते हैं, "हम एक समूह को तब वर्ग कह सकते हैं, जबकि उस समूह के लोगों को जीवन के कुछ अवसर समान रूप से प्राप्त हों यहाँ तक कि यह समूह वस्तुओं पर अधिकार या आमदनी की सुविधाओं से सम्बन्धित आर्थिक हितों द्वारा पूर्णतया निर्धारित तथा वस्तुओं या श्रमिक बाजारों की अवस्थाओं के अनुरूप हो।" इस प्रकार वेबर यह मानते हैं कि प्रत्येक वर्ग को एक-सी आर्थिक सुविधाओं के अवसर प्राप्त होते हैं, प्रत्येक वर्ग का एक आर्थिक हित होता है और उसे वस्तुओं पर अधिकार व आमदनी के सम्बन्ध में कुछ निश्चित अवसर प्राप्त होते हैं जो वस्तुओं एवं श्रमिकों के बाजार भाव के अनुसार बदलते रहते हैं।

मार्क्स कहते हैं कि जीविका-उपार्जन के विभिन्न साधनों के कारण मनुष्य पृथक्-पृथक् वर्गों में विभाजित हो जाते हैं, उनके अनुसार एक सामाजिक वर्ग को उसके उत्पादन के साधनों और सम्पत्ति के वितरण के साथ होने वाले सम्बन्धों के संदर्भ में ही परिभाषित किया जा सकता है।

वर्ग के सांस्कृतिक आधारों का उल्लेख करने वालों में गिन्सबर्ग, लेपियर एवं ओल्सन, आदि समाजशास्त्री प्रमुख हैं। **गिन्सबर्ग** (Ginsberg) के शब्दों में, "एक सामाजिक वर्ग ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो व्यवसाय, धन, शिक्षा, जीवनयापन की विधियों, विचारों, भावनाओं, मनोवृत्तियों और व्यवहारों में एक-दूसरे के समान होते हैं अथवा इनमें से कुछ आधारों पर एक-दूसरे से समानता अनुभव करते हुए अपने को एक समूह का सदस्य समझते हैं।" इस प्रकार वर्ग का सांस्कृतिक आधार मानने वाली परिभाषाओं में इस बात को स्पष्ट किया गया है कि एक वर्ग के लोगों की सांस्कृतिक विशेषताएँ समान होती हैं।

2.10 भारत में सामाजिक वर्ग की विशेषताएँ (Characteristics of Social Class in India)

नोट

वर्ग की धारणाओं को और अधिक स्पष्टत: समझने के लिए हम यहाँ वर्ग की विशेषताओं का उल्लेख करेंगे।

(1) समूहों का उतार-चढ़ाव (Hierarchy of Groups)–समाज में वर्गों की एक श्रेणी होती है जिसमें कुछ वर्ग ऊपर एवं कुछ वर्ग मध्यम एवं कुछ निम्नतम स्थान पर होते हैं। उच्च वर्ग के लोगों की सामाजिक प्रतिष्ठा एवं शक्ति अन्य वर्गों की तुलना में सर्वाधिक होती है और उसके सदस्यों की संख्या भी बहुत कम होती है। निम्न वर्गों के सदस्यों की संख्या अधिक होती है, इनकी सामाजिक प्रतिष्ठा एवं शक्ति भी कम होती है तथा आर्थिक स्थिति कमजोर होने के कारण वे कई सुविधाओं को प्राप्त नहीं कर पाते। इस प्रकार से वर्ग संरचना एक पिरामिड की भाँति होती है जिसके धरातल पर अधिक लोग होने से उसका हिस्सा बड़ा होता है और शिखर पर कम लोग होने से बहुत छोटा होता है। भारत में 21.8 प्रतिशत लोग गरीबी रेखा से नीचे जीवन व्यतीत करते हैं जबकि लगभग 5 प्रतिशत लोग ही ऐसे हैं तो विभिन्न प्रकार की सुविधाओं से सम्पन्न हैं।

(2) समान प्रस्थिति (Equal Status)–एक वर्ग के लोगों की सामाजिक प्रस्थिति एकसमान होती है। प्रस्थिति निर्धारण के कई आधार हैं। सम्पत्ति को आधार मानें तो उन लोगों की सामाजिक प्रस्थिति ऊंची होगी जिनके पास अधिक सम्पत्ति है। इसी प्रकार से शिक्षा को आधार मानें तो शिक्षितों एवं अशिक्षितों की सामाजिक प्रतिष्ठा एवं प्रस्थिति भिन्न-भिन्न होगी। फिर भी कोई एक ही आधार सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारण नहीं करता है, उसमें अन्य तत्व जैसे व्यवसाय, जाति की सदस्यता, व्यवसाय की प्रतिष्ठा आदि भी महत्त्वपूर्ण हैं।

(3) ऊँच-नीच की भावना (Feeling of Superiority-Inferiority)–एक वर्ग के लोग दूसरे वर्ग के प्रति उच्चता या हीनता की भावना रखते हैं तथा अपने वर्ग के प्रति उनमें 'हम' की भावना पायी जाती है। शासक एवं सम्पन्न वर्गों के लोग शासितों एवं गरीब वर्गों को अपने से हीन समझते हैं तथा निर्धन लोग धनी वर्ग को अपने से ऊँचा समझते हैं।

(4) वर्ग-चेतना (Class Consciousness)–प्रत्येक वर्ग के लोगों में वर्ग-चेतना पायी जाती है, प्रत्येक वर्ग की सामाजिक प्रतिष्ठा दूसरे से भिन्न होती है। उसमें उच्चता, निम्नता या समानता की भावना पायी जाती है। एक वर्ग के लोगों की जीवन-शैली, खान-पान, सुख-सुविधाएँ समान होने एवं बचपन से ही उसके सदस्यों का समाजीकरण उस वर्ग के अनुरूप होने से एक वर्ग के लोगों में अपने वर्ग के प्रति चेतना का निर्माण होता है। यह वर्ग-चेतना उनके व्यवहारों एवं वर्गों के पारस्परिक सम्बन्धों को भी तय करती है। वर्ग-चेतना के आधार पर ही एक वर्ग दूसरे वर्ग से प्रतिस्पर्द्धा करता है। वे अपने अधिकारों के प्रति भी सजग होते हैं। मज़दूर वर्ग के लोग अपना वेतन, महँगाई भत्ता, बोनस, मकान किराया, काम के घण्टे, भर्ती पद्धति आदि माँगों को लेकर एकजुट होकर हड़ताल एवं प्रदर्शन, आदि करते हैं और अपने हितों की रक्षा के लिए वे परस्पर सहयोग करते हैं।

(5) सीमित सामाजिक सम्बन्ध (Restricted Social Relations)–एक वर्ग के लोगों के सामाजिक सम्बन्ध प्राय: अपने ही वर्ग के लोगों तक सीमित होते हैं और अन्य वर्गों से एक निश्चित सामाजिक दूरी बनाए रखते हैं। वे अपने ही वर्ग में से संगी-साथी, जीवन-साथी आदि का चुनाव करते हैं। आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक समानता के कारण एक वर्ग के लोगों के सम्बन्ध अपने ही वर्ग में अधिक पाए जाते हैं।

(6) मुक्त-द्वार (Openness)–वर्ग व्यवस्था जाति की भाँति कठोर एवं बन्द न होकर एक मुक्त व्यवस्था है। इसका अर्थ यह है कि एक व्यक्ति एक वर्ग से दूसरे वर्ग में आ-जा सकता है। एक व्यक्ति परिश्रम करके धनी बन सकता है और उच्च वर्ग की सदस्यता ग्रहण कर सकता है और दूसरी ओर सम्पन्न व्यक्ति दिवाला निकलने पर गरीब वर्ग में सम्मिलित हो सकता है। अत: यह आवश्यक नहीं है कि एक व्यक्ति जीवन-पर्यन्त उसी वर्ग का सदस्य रहेगा जिस वर्ग में उसने जन्म लिया है।

नोट

(7) वर्ग की वस्तुपरक विशेषता (Objective Aspect of Class)–एक वर्ग को पहचानने एवं एक-दूसरे से भिन्न करने के लिए वर्ग की कुछ विशेषताओं को देखा जाता है–जैसे मकान का प्रकार, मोहल्ले की प्रतिष्ठा, शिक्षा, आय, रहन-सहन, बोलने का तरीका आदि। सम्पन्न एवं प्रतिष्ठित लोग पक्के एवं अच्छे मकानों व प्रतिष्ठित कोलोनी में रहते हैं, उनकी आय व शिक्षा ऊंची होती है तथा व्यवहार का एक प्रतिमान पाया जाता है। निम्न वर्ग के लोग झोपड़ियों, कच्चे मकानों व गन्दी बस्तियों में रहते हैं, उनकी आय एवं शिक्षा कम होती है। इस प्रकार इन बाह्य विशेषताओं को देखकर एक वर्ग की पहचान की जा सकती है।

(8) जन्म का महत्त्व नहीं (No Emphasis of Birth)–एक व्यक्ति सदैव उसी वर्ग का सदस्य होगा जिसमें उसका जन्म हुआ है, यह आवश्यक नहीं है। वर्ग की सदस्यता को तय करने में व्यक्ति की शिक्षा, योग्यता, सम्पत्ति तथा कुशलता भी महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं। वर्ग जन्म से सदा के लिए जाति की भाँति निर्धारित नहीं होते हैं।

(9) कम स्थिरता (Less Stablity)–वर्ग-व्यवस्था में अपेक्षाकृत कम स्थिरता पायी जाती है क्योंकि शिक्षा, व्यवसाय, धन एवं शक्ति आदि जिनके आधार पर वर्गों का निर्माण होता है, परिवर्तनशील हैं। एक वर्ग को त्याग कर दूसरे की सदस्यता ग्रहण की जा सकती है, अत: यह परिवर्तनशील व्यवस्था है। किन्तु वर्ग परिवर्तन में भी समय लगता है, कुछ ही घण्टों में यह कार्य नहीं होता है।

(10) उप-वर्ग (Sub-classes)–प्रत्येक सामाजिक वर्ग में भी कई उप-वर्ग पाए जाते हैं। उदाहरण के लिए, मध्यम वर्ग में भी सभी एकसमान नहीं हैं, उनमें भी उच्च मध्यम वर्ग, मध्यम वर्ग एवं निम्न मध्यम वर्ग, आदि उपखण्ड हैं। इसी प्रकार से सभी धनी वर्ग के लोग भी एकसमान नहीं हैं।

(11) जीवन-अवसर (Life Chances)–**मैक्स वेबर** का मत है कि एक वर्ग के लोगों को जीवन के कुछ विशिष्ट अवसर एवं सुविधाएँ समान रूप से प्राप्त होते हैं। मजदूरी करने के अवसर गरीब वर्ग को तथा नए उद्योग-धन्धे खोलने के एवं उच्च जीवन स्तर बनाए रखने के अवसर सम्पन्न लोगों को समान रूप से प्राप्त होते हैं।

(12) पूर्णतया अर्जित (Completely Achieved)–चूँकि वर्ग की सदस्यता जाति की भाँति जन्म से निर्धारित नहीं होती है, अत: यह अर्जित है। एक व्यक्ति अपने गुणों, शिक्षा एवं धन में वृद्धि करके उच्च वर्ग की सदस्यता ग्रहण कर सकता है।

(13) सामान्य जीवन (Common Mode of Life)–एक वर्ग के लोगों का जीवन जीने का तरीका लगभग समान होता है। उच्च वर्ग के लोग विशिष्ट वस्तुओं का उपयोग करने, अपव्यय करने एवं दिखावा करने में अधिक विश्वास करते हैं, मध्यम वर्ग के लोग रूढ़ियों एवं प्रभावों के पालन में अधिक विश्वास करते हैं। निम्न वर्ग का जीवन अभावग्रस्त होता है।

(14) वर्गों की अनिवार्यता (Essentiality of Classes)–चूँकि समाज में सभी व्यक्ति शिक्षा, व्यवसाय, धन, योग्यता आदि की दृष्टि से समान नहीं होते हैं, अत: व्यक्तियों में पायी जाने वाली इन भिन्नताओं के आधार पर समाज में स्वत: ही वर्ग की विशेषताएँ आवश्यक रूप से पैदा हो जाती हैं और एक विशेषता से सम्बन्धित समूह के लोग एक वर्ग का निर्माण करते हैं।

2.11 वर्गों का आर्थिक आधार (Economic Basis of Classes)

एक प्रश्न यह उठता है कि क्या वर्ग निर्धारण केवल आर्थिक आधार पर ही होता है? कुछ समाजशास्त्री, जिनमें **मार्क्स** प्रमुख हैं, वर्ग निर्धारण में आर्थिक पक्ष को ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनकी मान्यता है कि उत्पादन प्रणाली एवं उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व के आधार पर ही वर्ग निर्मित होते हैं। जिन लोगों का उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व होता है, वे पूंजीपति और जो लोग श्रम बेचकर जीवनयापन करते हैं, वे श्रमिक कहलाते हैं। **मार्क्स** ने तीसरे वर्ग–किसानों का भी उल्लेख किया है किन्तु आपने आर्थिक दृष्टि से केवल दो वर्गों–बुर्जुआ एवं प्रोलिटेरियट

को ही अधिक महत्त्व दिया है। आपका कहना है कि ये दो वर्ग प्रत्येक युग में रहे हैं। बुर्जुआ वर्ग जिसके हाथों में उत्पादन के साधन होते हैं, प्रोलिटेरियट का शोषण करता रहा है और इसी कारण वर्ग-संघर्ष पैदा होता है। इस वर्ग-संघर्ष का चरमोत्कर्ष परिणाम वर्गविहीन समाज का निर्माण है।

नोट

किन्तु हम वर्ग की परिभाषा के दौरान ही उल्लेख कर चुके हैं कि वर्ग केवल आर्थिक आधार पर ही नहीं वरन् सामाजिक-सांस्कृतिक आधार पर भी निर्मित होते हैं। **बीसेन्ज** एवं **बीसेन्ज** ने व्यक्ति के मकान का प्रकार, पड़ोस एवं आय के स्रोत को भी वर्ग निर्धारण में महत्त्वपूर्ण माना है। आधुनिक समाजों में विलासिता की वस्तुओं का उपयोग, रेडियो, फ्रिज, कार, टी.वी., टेलीफोन, बंगला आदि का स्वामित्व भी व्यक्ति की वर्ग स्थिति निर्धारित करते हैं। वर्ग निर्धारण का एक आधार व्यक्ति-परक मापदण्ड (Subjective Aspect) भी है अर्थात् जब व्यक्ति से पूछा जाय कि आप किस वर्ग के सदस्य हैं और वह अपने को जिस वर्ग में रखता है, उसके आधार पर ही वर्ग तय होता है। प्रत्येक वर्ग की एक सामाजिक प्रस्थिति, एक विशिष्ट संस्कृति, खान-पान, रहन-सहन एवं जीवन-शैली भी होती है जो दूसरे वर्गों से भिन्न होती है। **मैक्स वेबर** ने वर्ग निर्धारण में प्रस्थिति-समूह (Status Group) को महत्त्वपूर्ण माना है। वे कहते हैं किस प्रकार की जीवन-शैली एवं जीवन अवसर प्राप्त लोगों का एक समूह होता है और वही वर्ग कहलाता है। **हार्टन** एवं **हण्ट** वर्ग निर्धारण में धन, आय, व्यवसाय, शिक्षा तथा वर्ग-प्रस्थिति के प्रति स्वयं के अभिज्ञान को भी सम्मिलित करते हैं। **वारनर** ने आठ प्रकार के वर्गों का उल्लेख किया है। यदि हम वर्ग का आधार केवल आर्थिक या धन ही मानें तो समाज में दो या तीन ही वर्ग (अमीर, मध्यम एवं गरीब) बनते हैं। परन्तु हम देखते हैं कि समाज में अनेक प्रकार के वर्ग हैं जिनका आधार धन के साथ-साथ संस्कृति, जीवन-शैली, शिक्षा, व्यवसाय, आदि भी हैं। यदि मात्र धन ही वर्ग निर्धारण का आधार होता तो एक निपट एवं धनी गंवार, व्यक्ति एवं वेश्या की सामाजिक प्रस्थिति, डॉक्टर, इंजीनियर, प्रोफेसर आदि से ऊँची होती। स्पष्ट है कि वर्ग निर्धारण में आर्थिक आधार महत्त्वपूर्ण होते हुए भी सब कुछ नहीं है। हम यहां समाज में वर्ग विभाजन के विभिन्न आधारों का उल्लेख करेंगे जिससे उपर्युक्त बात और अधिक स्पष्ट हो जाएगी।

2.12 भारत में वर्ग विभाजन के आधार (Bases of Class Division in India)

रॉबर्ट बीरस्टीड ने वर्ग विभाजन के सात आधारों का उल्लेख किया है जो भारत में भी लागू होते हैं, वे इस प्रकार है:

(1) सम्पत्ति, धन और आय (Property, Wealth and Income)—वर्ग निर्धारण के आधारों में सम्पत्ति, धन और आय (Property, Wealth and Income) प्रमुख हैं। अधिक आय के द्वारा ही सम्पत्ति एवं धन का संकलन किया जाता है और धन के सहारे ही सुख-सुविधाओं की वस्तुएँ खरीदी जाती हैं, उच्च शिक्षा प्राप्त की जाती है और जीवन-स्तर ऊँचा उठाया जा सकता है।

(2) परिवार एवं नातेदारी (Family and Kinship)—भारत ही नहीं वरन् अन्य देशों में भी व्यक्ति की वर्ग स्थिति निर्धारित करने में व्यक्ति की पारिवारिक स्थिति एवं उसके नातेदारों की सामाजिक प्रस्थिति भी महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। टाटा, बिड़ला, डालमिया एवं नेहरू खानदान में पैदा हुए लोगों को स्वत: ही उच्च वर्ग में सम्मिलित कर लिया जाता है तथा इन परिवारों के विवाह सम्बन्धियों की स्थिति भी उच्च समझी जाती है। भारत जैसे देश में जहां प्रदत्त प्रस्थिति का अधिक महत्त्व है, परिवार एवं नातेदारी के सम्बन्ध व्यक्ति की वर्ग सदस्यता तय करने में निर्णायक भूमिका निभाते हैं। सामन्त व्यवस्था में एक राजा के पुत्र की वर्ग स्थिति इसलिए ही ऊँची होती है कि उसका सम्बन्ध राजघराने से है।

(3) निवास की स्थिति (Location of Residence)—व्यक्ति का निवास-स्थान कहाँ है और उसके पड़ोसी कौन हैं, यह भी वर्ग स्थिति को तय करता है। शहरों में विकसित कॉलोनियों में रहने वाले लोगों की प्रतिष्ठा गन्दी बस्तियों (Slums) में रहने वाले लोगों से ऊँची होती है। प्राचीन भारत में राजा एवं उससे सम्बन्धित व्यक्ति शहर के केन्द्र में रहते थे तथा निम्न एवं पिछड़े वर्ग के लोगों का निवास गाँवों के बाहर कच्ची झोपड़ियों में हुआ करता था और अभी अनेक गाँवों की यही स्थिति है।

नोट

(4) निवास-स्थान की अवधि (Duration of Residence)–एक व्यक्ति की वर्ग स्थिति तय करने में यह बात भी देखी जाती है कि उसका सम्बन्ध किसी ऐसे पुराने परिवार से है या नहीं जो भूतकाल में प्रतिष्ठित रहा है और कहीं वह घुमक्कड़ परिवार का सदस्य तो नहीं है। भारत में एक व्यक्ति के गतिशील न होने का एक कारण यह भी है कि वह अपने पूर्वजों के निवास-स्थान को छोड़ना नहीं चाहता, उसके साथ उसके भावात्मक सम्बन्ध होते हैं तथा नवीन स्थान पर जाने में उसकी वर्ग स्थिति खतरे में पड़ जाती है। जो लोग सदा इधर-उधर घूमते हैं, उनकी वर्ग स्थिति भी ऊँची नहीं होती है।

(5) व्यवसाय की प्रकृति (Nature of Occupation)–व्यवसाय की प्रकृति भी व्यक्ति की वर्ग स्थिति को निर्धारित करती है। प्राध्यापक, चिकित्सक, प्रशासक, इंजीनियर, राजनीतिज्ञ, कूटनीतिज्ञ आदि की पारिवारिक एवं आर्थिक स्थिति चाहे कैसी भी हो, फिर भी इन्हें समाज में साधारणत: उच्च वर्ग की सदस्यता प्राप्त होती है। दूसरी ओर तस्करों, शराब के ठेकेदारों एवं वेश्याओं-के पास धन अधिक होने पर भी उनकी सामाजिक वर्ग स्थिति ऊँची नहीं होती। भारत जैसे धर्म-प्रधान देश में पठन-पाठन एवं पूजन करने वाले पुरोहितों के व्यवसाय को श्रेष्ठ माना गया है जबकि पश्चिमी समाजों में उद्योग, व्यापार, शिक्षा एवं विज्ञान से सम्बन्धित लोगों की वर्ग स्थिति ऊंची मानी जाती है।

(6) शिक्षा (Education)–शिक्षा लगभग सभी समाजों में व्यक्ति की वर्ग स्थिति निर्धारण में एक महत्त्वपूर्ण कारक रही है। शिक्षा, प्रशिक्षण, तकनीकी डिप्लोमा, औद्योगिक ज्ञान, कला एवं विज्ञान में दक्ष होने पर व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ जाती है। भारत जैसे देशों में आर्थिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त व्यक्ति की वर्ग स्थिति ऊँची होती है। औद्योगीकरण एवं विज्ञान के प्रसार के साथ-साथ वैज्ञानिक एवं औद्योगिक शिक्षा प्राप्त व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा भी बढ़ी है और उन्हें उच्च वर्ग की सदस्यता प्राप्त होने लगी है।

(7) धर्म (Religion)–सभी समाजों में और विशेषत: परम्परागत समाजों में व्यक्ति की वर्ग स्थिति के निर्धारण में उसकी धार्मिक स्थिति भी महत्त्वपूर्ण रही है। धार्मिक कर्मकाण्डों को कराने वाले पुरोहितों को समाज में उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। भारत में प्राचीन समय से ही ऋषि-मुनियों और योगियों को सम्मान एवं आदर की दृष्टि से देखा जाता है।

2.13 भारतीय गाँवों में वर्ग व्यवस्था (Class System in Indian Villages)

(1) मालिक, ज़मींदार एवं साहूकार वर्ग–ग्रामीण वर्ग व्यवस्था में सर्वोच्च समूह मालिक, ज़मींदार एवं साहूकार का है। इन लोगों के पास गाँव की अधिकांश भूमि होती है और ये अधिकांशत: उच्च जातियों–ब्राह्मण, ठाकुर, वैश्य आदि लोग होते हैं। उच्च जाति की सदस्यता, भूस्वामित्व एवं व्यावसायिक पवित्रता के कारण इनकी सामाजिक प्रतिष्ठा भी ऊँची होती है। इस वर्ग के लोगों का जीवन-स्तर ऊँचा होता है। ये अधिक शिक्षित, सुविधा-सम्पन्न एवं शक्तिशाली होते हैं। ये लोग दूसरे लोगों को अपनी भूमि किराए पर देते हैं अथवा मजदूरों द्वारा उस पर खेती करवाते हैं। ये लोग साहूकारी का कार्य भी करते हैं एवं आवश्यकता पड़ने पर किसानों को ऋण भी देते हैं। यह वर्ग गाँव में सबसे छोटा किन्तु प्रभावशाली होता है।

(2) किसान वर्ग–गांव में दूसरा वर्ग किसानों का है जो भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों के स्वामी होते हैं और उन पर स्वयं ही कृषि करते हैं। कई बार परिवार में सदस्यों की संख्या बढ़ जाती है तो भूस्वामियों से किराए पर भूमि लेकर जोतते हैं अथवा कृषि मजदूरी द्वारा जीवनयापन करते हैं। यह वर्ग ज़मींदारों के बीच का है, इनका जीवन-स्तर भूस्वामियों से नीचा किन्तु मजदूरों से ऊँचा होता है।

(3) मजदूर अथवा भूमिहीन श्रमिक वर्ग–इस वर्ग का स्थान गाँव में सबसे नीचा है। ये लोग दूसरों के खेतों पर मजदूरी करके अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। एक ओर इस वर्ग की संख्या गाँव में सर्वाधिक है तो दूसरी ओर इनकी आय सबसे कम है।

किन्तु यह वर्ग संरचना भी वर्तमान में ज़मींदारी उन्मूलन, भूमि सुधार कानूनों, सामुदायिक विकास योजना एवं पंचायती राज व्यवस्था के प्रभावों के कारण परिवर्तनों के दौर में है और परम्परात्मक स्वरूप के स्थान पर अब नवीन स्वरूप प्रकट हो रहे हैं।

नोट

2.14 मध्यम वर्ग का उद्‌भव (Origin of Middle Class)

ब्रिटिश शासनकाल में भारत में जिन सामाजिक वर्गों का उदय हुआ, वे इस प्रकार हैं–कृषि के क्षेत्र में प्रमुखतः ये वर्ग थे–(1) ब्रिटिश सरकार द्वारा बनाया गया ज़मींदारी वर्ग, (2) अन्यत्रवासी भू-स्वामी, (3) ज़मींदार व अन्यत्रवासी भू-स्वामियों के मातहत पट्टेदार, (4) काश्तकार मालिकों का वर्ग जिसकी उच्चतम, मध्यम और निम्न तीन श्रेणियां थीं, (5) खेतिहर मजदूर, (6) व्यापारियों का नया वर्ग, (7) सूदखोर महाजनों का नया वर्ग। नगरों में ये वर्ग प्रमुखतः निम्नलिखित थे–(1) वाणिज्यिक और वित्तीय पूंजीपतियों और उद्योगपतियों का वर्ग, (2) औद्योगिक, आवागमन के साधन सम्बन्धी, खनिज विषयक और ऐसे अन्य कार्यों में लगे हुए आधुनिक मजदूर वर्ग, (3) आधुनिक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में बँधा छोटे व्यापारियों व दुकानदारों का वर्ग, (4) पेशेवर वर्ग, टेक्नीशियन, डॉक्टर, वकील, प्रोफेसर, पत्रकार, मैनेजर, किरानी और अन्य लोगों का पेशेवर वर्ग जिसमें बुद्धिवादी व शिक्षित वर्ग के लोग हैं।

आधुनिक वकील, डॉक्टर, नई शिक्षण संस्थाओं से सम्बन्धित शिक्षक व प्रोफेसर आधुनिक वाणिज्यिक और औद्योगिक प्रतिष्ठानों में काम करने वाले मैनेजर और किरानी राज्य के प्रशासन तन्त्र में काम करने वाले पदाधिकारी, इंजीनियर रसायनविद्, टेक्नोलॉजिस्ट, कृषि अर्थविद् पत्रकार और अन्य लोगों के नए पेशेवर वर्ग भी ब्रिटिशकाल में उदित हुए। नए आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक संगठनों के लिए आधुनिक कानून, टेक्नोलॉजी, औषधि विज्ञान, अर्थशास्त्री, प्रशासन विज्ञान और अन्य विषयों में प्रवीण शिक्षित भारतीयों की आवश्यकता थी। व्यापारिक प्रतिष्ठानों तथा प्रशासनिक व्यवस्था की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए ब्रिटिश सरकार को भारत में तेजी के साथ नई शिक्षण संस्थाओं को खोलना पड़ा। नए राज्य और समाज की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए कानून, वाणिज्य और अन्य विषयों के स्कूल तथा कॉलेज खोले गए। इस प्रकार जैसे-जैसे नए समाज का विकास होता गया, वैसे-वैसे आधुनिक पेशेवर वर्गों का जन्म व विकास हुआ। ये वर्ग आधुनिक उद्योग, कृषि, वाणिज्य, वित्त, प्रशासन, प्रेस और नए सामाजिक जीवन के अन्य अंगों-उपांगों से जुड़े हुए थे। पूर्व ब्रिटिश काल में इनका अस्तित्व नहीं था क्योंकि उस समय इस प्रकार की सामाजिक, आर्थिक और वर्गीय व्यवस्था नहीं थी।

आधुनिक पेशेवर वर्ग ब्रिटिश शासन काल में आधुनिक पश्चिमी शिक्षा और संस्कृति के प्रसार और नए समाज की आवश्यकताओं के आधार पर विकसित हुए थे। आर्थिक दृष्टि से उनका ज्ञान और उनकी तकनीकी कार्यकुशलता उन लोगों के लिए थी जो इन्हें पैसा दे सकते थे। सामाजिक दृष्टि से ये नए वर्ग नव विकसित पूंजीवादी समाज के अभिन्न अंग थे। इनके पास आधुनिक पश्चिमी विज्ञान और कला का ज्ञान था। वकीलों ने ब्रिटिश सरकार द्वारा बनाए एवं लागू किए कानूनों का अध्ययन किया। डॉक्टरों ने आधुनिक औषधि-विज्ञान का चिंतन मनन किया तथा इंजीनियर आधुनिक टेक्नोलॉजीकल विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने लगे। शिक्षकों ने आधुनिक सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, प्राकृतिक आदि विषयों का ज्ञान अर्जित किया। पत्रकारों और लेखकों ने पुस्तकों की रचना की और अखबारों का सम्पादन किया। मैनेजरों और अफसरों ने राजनीतिक एवं आर्थिक दृष्टि से एकीकृत भारत के आर्थिक और प्रशासनिक राजतन्त्र को संचालित किया और सम्पूर्ण राष्ट्र की समस्याओं को सुलझाने में योग दिया। यहाँ हमने जिन वर्गों का उल्लेख किया उनके अतिरिक्त नागरिक क्षेत्रों में प्रत्येक नगर और महानगर में छोटे दुकानदारों और व्यापारियों का भी एक बहुत बड़ा वर्ग था जो आधुनिक नगरों और महानगरों के विकास का परिणाम था।

19वीं सदी के प्रथम कुछ दशकों में शिक्षित भारतीयों की संख्या बहुत ही कम थी। जब अंग्रेजों ने काफी मात्रा में स्कूल और कॉलेज खोले और ईसाई मिशनरियों ने भी इस कार्य में योग दिया तभी 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में शिक्षित भारतीयों के बहुत बड़े वर्ग का जन्म हुआ जिसके परिणामस्वरूप बुद्धिवादियों का काफी बड़ा वर्ग निर्मित

हुआ। प्रगतिशील बुद्धिवादी वर्ग ने आधुनिक पश्चिमी प्रजातांत्रिक संस्कृति को अपने में आत्मसात् किया और भारतीय राष्ट्र की जटिल समस्याओं को समझा।

नोट

वास्तव में अंग्रेजी शासन द्वारा प्रारम्भ की गई शिक्षा पद्धति के परिणामस्वरूप भारत में इस शिक्षित मध्यम वर्ग का जन्म हुआ था। वकील, डॉक्टर, टेक्नीशियन, प्रोफेसर, पत्रकार, सरकारी नौकर, किरानी, विद्यार्थी इत्यादि इस वर्ग के सदस्य थे। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में और इसके बाद आधुनिक शिक्षण संस्थाओं की संख्या में तेजी के साथ वृद्धि हुई जिसने शिक्षित मध्यम वर्ग की संख्या को लगातार बढ़ाने में योग दिया।

छात्र क्रियाकलाप

1. ऐतिहासिक भौतिकवाद की भूमिका स्पष्ट करें।

2. भारत में वर्ग विभाजन के आधार की भूमिका क्या है?

3. भारतीय गाँवों में वर्ग व्यवस्था से क्या अभिप्राय है?

2.15 सारांश (Summary)

- उदारवाद राजनीति का वह सिद्धांत है जो सामंतवाद के पतन के बाद राजनीति को बाजार अर्थव्यवस्था के अनुरूप मोड़ देने के लिए अस्तित्व में आया। उदारवाद में दो मुख्य मुद्दों पर बल दिया जाता है, एक तो

इसमें निरंकुश सत्ता को अस्वीकार करके उसकी जगह मनुष्य की स्वतंत्रता पर आधारित व्यवस्था स्थापित करना तथा दूसरा, व्यक्ति के व्यक्तित्व की स्वतंत्र अभिव्यक्ति की मांग की जाती है।

नोट

- आधुनिक युग में हाबहाउस, लास्की, फ्रीडमैन तथा मैकफर्सन के विचारों में उदारवाद के तत्वों की झलक मिलती है।
- नव-उदारवाद का प्रमुख लक्षण एक मुक्त या खुले समाज की आवश्यकता पर बल देना है। इसके समर्थक चैपमैन, रॉल्स, शुम्पीटर आदि हैं।
- राज्य के मूलतत्व हैं--जनसंख्या, भू-भाग, सरकार, प्रभुसत्ता।
- मार्क्स के अनुसार, "राज्य की उत्पत्ति समाज के वर्ग विभाजन का परिणाम है।
- मेकाइवर एवं पेज के अनुसार, "एक सामाजिक वर्ग समुदाय का वह भाग है जो सामाजिक स्थिति के आधार पर दूसरे से पृथक किया जा सके।"
- भारत में वर्ग विभाजन के आधार हैं--संपत्ति, परिवार, नातेदारी, धन, आय, निवास की स्थिति, व्यवसाय की प्रकृति, शिक्षा, धर्म आदि।

अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)

1. उदारवाद का अर्थ तथा इसके लक्षणों का वर्णन करें।
2. उदारवाद के प्रकारों को बताएँ।
3. राज्य क्या है? राज्य के मूल तत्व क्या-क्या हैं?
4. आधुनिक राज्य का उदय और विकास कैसे हुआ?
5. नव-उदारवाद पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।
6. मार्क्सवादी संकल्पना में राज्य का स्वरूप कैसा होना चाहिए?
7. भारत में सामाजिक वर्ग की विशेषताएँ कौन-कौन-सी हैं?
8. भारत में औद्योगिक वर्ग की संरचना कैसी है?

संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)

1. तुलनात्मक राजनीति--प्रो. रामानन्द गैरोला।
2. तुलनात्मक राजनीति--सी. वी. गेना, विकास पब्लिशिंग हाउस।
3. तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीति विश्लेषण--डॉ. डी. एस. यादव।

नोट

इकाई–III

वर्ग एवं वर्ग सिद्धांत : कार्ल मार्क्स
(Class and Class Theory : Karl Marx)

संरचना (Structure)

3.1 उद्देश्य (Objectives)
3.2 प्रस्तावना (Introduction)
3.3 वैज्ञानिक समाजवाद के जनक : कार्ल मार्क्स (Father of Scientific Socialism : Karl Marx)
3.4 वर्ग एवं वर्ग सिद्धांत से संबंधित महत्त्वपूर्ण अवधारणाएँ (Important Concepts Related to Class and Class-Theory)
3.5 राज्य की उत्पत्ति का कारण : वर्ग विभेद (Reason of Origin of State : Class-Difference)
3.6 सारांश (Summary)
- अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)
- संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)

3.1 उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- वर्ग सिद्धांत के बारे में मार्क्स के विचार जानने में।
- राज्य सिद्धांत के बारे में मार्क्स के विचार जानने में।
- वैज्ञानिक समाजवाद का राजनीतिक चिंतन समझने में।

3.2 प्रस्तावना (Introduction)

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में कार्ल मार्क्स को "वैज्ञानिक समाजवाद" के जनक के रूप में स्मरण किया जाता है। उसके दर्शन ने समूचे संसार में हलचल मचा दी, बुद्धिजीवी और शासक वर्ग को ही नहीं, आम जन-समुदाय को भी झकझोर दिया। 20वीं शताब्दी में उसके विचारों ने दुनिया को जितना आलोड़ित किया, उतना सम्भवत: और किसी विचारक ने नहीं किया। इस दृष्टि से उसकी तुलना महात्मा बुद्ध, ईसा और मुहम्मद से की जा सकती है। पश्चिमी दुनिया में ईसाइयत और इस्लाम के बाद "साम्यवाद" जैसा कोई जन आन्दोलन नहीं हुआ। उन्हीं के नाम से प्रचलित "मार्क्सवाद" आज 21वीं शताब्दी में इस्लाम और ईसाइयत की भाँति भयावह थपेड़ों के बावजूद भी जीवित है।

नोट

3.3 वैज्ञानिक समाजवाद के जनक : कार्ल मार्क्स (Father of Scientific Socialism : Karl Marx)

कार्ल मार्क्स आधुनिक युग का ऐसा दार्शनिक है जिसने न केवल समाजवादी विचारधारा का प्रतिपादन किया अपितु सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने के वैज्ञानिक नियमों की खोज भी की। मार्क्स का अमर ग्रन्थ "कैपीटल" तथा "कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो" समस्त समाजवादी विचारों की खान माने जाते हैं। मार्क्सवादी समाजवाद को प्राय: "सर्वहारा समाजवाद" अथवा "वैज्ञानिक समाजवाद" (Scientific Socialism) के नाम से पुकारा जाता है। यह सच है कि मार्क्स के विचारों को एकदम मौलिक नहीं कहा जा सकता, किन्तु मैक्सी के अनुसार, इससे हम उसे द्वितीय श्रेणी का दार्शनिक नहीं कह सकते और न ही इससे उसका महत्व ही कम हो जाता है। मार्क्स से पूर्व अनेक अंग्रेज तथा फ्रेंच विचारक हुए जिनके द्वारा समाजवादी विचार व्यक्त किए जा चुके थे। इनमें मुख्य थे–राबर्ट ओवेन, सेण्ट साइमन, प्रूधो, चार्ल्स फूरियर, लुई ब्ला आदि। राबर्ट ओवेन का विचार था कि नई औद्योगिक व्यवस्था प्रतिस्पर्द्धात्मक होने के बजाय सहयोगात्मक होना चाहिए। सेण्ट साइमन वर्ग संघर्ष सिद्धान्त का समर्थक था। प्रूधो ने यह प्रतिपादित किया कि सारी सम्पत्ति चोरी है। कार्ल मार्क्स ने इन सब विचारकों को काल्पनिक समाजवादी (Utopian Socialist) कह कर पुकारा है। वस्तुत: ये विचारक आर्थिक विषमता के स्थान पर समाज में धन के न्यायोचित वितरण पर बल देते थे, किन्तु इन्होंने यह नहीं बताया था कि यह विषमता किन कारणों से उत्पन्न होती है और उसका उत्पादन की विधियों के साथ क्या सम्बन्ध है? उन्होंने समाज की प्रगति और विकास के नियमों को समझने का प्रयत्न नहीं किया था। समाज के परिवर्तन का तरीका क्या है, और उसका प्रयोग करके समाजवादी व्यवस्था को कैसे स्थापित किया जा सकता है आदि प्रश्नों का उत्तर स्वप्नलोकीय समाजवादियों ने नहीं खोजा। दूसरे शब्दों में उनका समाजवाद सम्बन्धी चिन्तन एक "आदर्शपरक चिंतन" था। **वेपर** ने इस सम्बन्ध में ठीक लिखा है कि "उन्होंने सुन्दर गुलाबों के सपने तो अवश्य देखे किन्तु गुलाब के पौधे उगाने के लिए जमीन तैयार नहीं की।"

ऐसे स्वप्नलोकीय (यूटोपियन) समाजवाद को वास्तविकता के धरातल पर उतारने का महान् कार्य कार्ल मार्क्स ने किया। उसके हाथों में समाजवाद काल्पनिक आदर्श से व्यावहारिक आदर्श बन गया। मार्क्स ने एक वैज्ञानिक की तरह ऐतिहासिक तथ्यों का विश्लेषण किया और सामाजिक प्रगति के लिए उत्तरदाई तत्वों को खोज निकाला। उसने पूंजीवाद के दोषों का वर्णन करने के साथ-साथ पूंजीवाद का अन्त कर वर्ग विहीन समाज की स्थापना करने के लिए एक विधिवत् प्रक्रिया का निरूपण भी किया। अकाट्य तर्क देते हुए मार्क्स ने यह प्रमाणित किया कि पूंजीवाद स्वयं अपने विकास की प्रक्रिया में समाजवाद के लिए भौतिक पूर्वाधार बनाता है और उस सामाजिक शक्ति को जन्म देता है जो पूंजीवाद को दफन करेगी और अधिक भावुक तथा काल्पनिक पृष्ठभूमि से निकालकर उसे वैज्ञानिक रूप प्रदान किया। केवल इतना ही नहीं, वरन् समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के उद्देश्य से उसके द्वारा "विश्व के मजदूरो एक हो जाओ" इन शब्दों में श्रमिक वर्ग का क्रान्ति के लिए आह्वान किया और इस दृष्टि से 1864 में "प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद" की स्थापना एक महत्त्वपूर्ण कदम था। उसने सर्वहारा वर्ग को तर्कसंगत सिद्धान्त देकर महान् शक्ति और कार्य गति प्रदान की। **जोड़** के शब्दों में, "मार्क्स प्रथम समाजवादी लेखक है जिसके विचारों को वैज्ञानिक कहा जा सकता है। उसने अपने वाँछित समाज का चित्रण ही नहीं किया है, वरन् उन परिस्थितियों का विस्तृत वर्णन भी किया है जिसके माध्यम से इस लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।"

3.4 वर्ग एवं वर्ग सिद्धांत से संबंधित महत्त्वपूर्ण अवधारणाएँ (Important Concepts Related to Class and Class-Theory)

इसके अन्तर्गत प्रमुख अवधारणाएँ निम्नलिखित हैं–

1. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism)

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त मार्क्स के सम्पूर्ण चिंतन का मूलाधार है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में मार्क्स ने द्वन्द्ववाद का विचार हीगल की द्वन्दात्मक पद्धति (Dialectic Process) से ग्रहण किया और भौतिकवाद

नोट

का दृष्टिकोण **फायरबाख** से। इन दोनों के सम्मिश्रण ने द्वन्द्वात्मक के सिद्धान्त को एकदम नई और मौलिक दिशा प्रदान की। इस नवीन सिद्धान्त की उपयोगिता इस तथ्य से आंकी जा सकती है कि मार्क्स ने इसे साम्यवादियों के लिए एक दिशा निर्देशन यन्त्र की उपमा दी जिसका प्रयोग करके साम्यवादी अपनी क्रान्तिकारी गतिविधियों के संचालन की दिशा निर्धारित करते हैं। इसकी सहायता से हर साम्यवादी "न सिर्फ सही दृष्टिकोण अपना सकता है, बल्कि सामाजिक घटनाओं के आन्तरिक सम्बन्धों को समझ सकता है, उनकी गति को पहचान सकता है और यह जान सकता है कि वर्तमान में उनका विकास किस दिशा में हो रहा है बल्कि वह यह भी जान सकता है कि भविष्य में उनका विकास किस दिशा में होगा।"

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में दो शब्द हैं–इनमें प्रथम शब्द "उस प्रक्रिया को स्पष्ट करता है जिसके अनुसार सृष्टि का विकास हो रहा है और दूसरा शब्द "भौतिकवाद" सृष्टि के मूल तत्व को सूचित करता है।

द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया–मार्क्स का द्वन्द्ववाद हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति पर आधारित है, परन्तु हीगल के द्वन्द्ववादी को मार्क्स ने बिल्कुल उल्टा कर दिया। स्वयं मार्क्स ने कहा है, "मेरी द्वन्द्ववादी पद्धति हीगलवादी पद्धति से न केवल भिन्न है, बल्कि ठीक उसकी उल्टी है। हीगल के लिए मानव मस्तिष्क की जीवन प्रक्रिया अर्थात् चिंतन की प्रक्रिया जिसे "विचार" के नाम से उसने स्वतन्त्र कर्ता बना डाला है, वास्तविक संसार की सृजनकर्ता है और वास्तविक संसार "विचार" का बाहरी, इन्द्रियगम्य रूप मात्र है। इसके विपरीत, मेरे लिए विचार इसके सिवा और कुछ भी नहीं कि भौतिक संसार मानव मस्तिष्क में प्रतिबिम्बित होता है और चिन्तन के रूपों में बदल जाता है।

हीगल के यहाँ द्वन्द्ववाद सिर के बल खड़ा है। यदि आप उसके रहस्यमय आवरण के भीतर छिपे तर्कबुद्धिपरक सारतत्व का पता लगाना चाहते हैं, तो आपको उसे उलटकर फिर पैरों के बल सीधा खड़ा करना होगा।

हीगल यह मानकर चलता है कि समाज की प्रगति प्रत्यक्ष न होकर एक टेढ़े-मेढ़े तरीके से हुई जिसके तीन अंग हैं–वाद (Thesis), प्रतिवाद (Anti Thesis) और सम्वाद (Synthesis), मार्क्स की द्वन्द्वात्मक पद्धति का आधार हीगल का यही द्वन्द्ववादी दर्शन है।

मार्क्स के अनुसार, "वाद" समाज की एक साधारण स्थिति है जिसमें कोई अन्तर्विरोध नहीं पाया जाता। थोड़े समय बाद "वाद" से असन्तुष्ट होकर उसकी प्रतिक्रिया के स्वरूप "प्रतिवाद" उत्पन्न हो जाता है। यह निषेधात्मक स्थिति वाद की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील मानी जाती है। "वाद" और "प्रतिवाद" में अन्तर्विरोध के फलस्वरूप एक समझौता हो जाता है जिससे एक नए विचार की उत्पत्ति होती है। इसे हीगल **"संवाद"** या **"संश्लेषण"** (Synthesis) का नाम देता है। यही "संश्लेषण" आगे चलकर एक वाद हो जाता है जिसका फिर **प्रतिवाद** उत्पन्न होकर 'संश्लेषण' के द्वारा फिर एक नया विचार उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। इस प्रक्रिया में पहले किसी वस्तु का **"निषेध"** (Negative) होता है और उसके पश्चात् 'निषेध का निषेध' (Negation of Negation) होता है जिसके द्वारा एक उच्चतर वस्तु अस्तित्व में आती है।

हीगल के द्वन्द्ववाद के परिप्रेक्ष्य में मार्क्स के द्वन्द्ववाद को समझा जा सकता है। मार्क्स तथा उसके अनुयायियों ने द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को गेहूं के पौधे के उदाहरण से समझाया है। गेहूं का दाना वाद है, भूमि में इसे बो देने पर यह गलकर या नष्ट होकर अंकुरित हो जाता है और पौधे का रूप ग्रहण कर लेता है। यह पौधा विकास चरण का "प्रतिवाद" है। दूसरा चरण पौधे में बाली का आना, इसके पकने पर गेहूं के दाने का बनना तथा पौधे का सूख कर नष्ट होना है। तीसरा चरण "संवाद" है। द्वन्द्वात्मक को एंगेल्स ने गणित में भी लागू किया। उसके अनुसार "अ" एक अंक है–'अ' उसका प्रतिवाद है। "अ" के निषेध अर्थात्–अ × अ = $अ^2$ हो जाता है। $अ^2$ संवाद है। संवाद–वाद और प्रतिवाद की तुलना में मात्रात्मक या गुणात्मक रूप अधिक होता है। आर्थिक जीवन की विभिन्न अवस्थाओं के सन्दर्भ में इस द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को समझाया जा सकता है–पूंजीवाद "वाद" है; सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद की अवस्था "प्रतिवाद" है और साम्यवाद की अवस्था "संवाद" है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि द्वन्द्वात्मक विरोधी तत्वों में निहित संघर्ष के माध्यम से संचालित होता है। यह संघर्ष अन्ततः उन पारस्परिक विरोधी तत्वों में समन्वय स्थापित कर देता है जिससे उच्च स्थिति में उन दोनों तत्वों के गुण विद्यमान होते हैं। कालान्तर में यह समन्वय पुनः अपने विरोधी विचार को जन्म देकर संघर्ष की स्थिति पैदा करता

है और एक बार फिर दोनों के समन्वय से विचार परिमार्जन के उच्च स्तर को प्राप्त करता है। संघर्ष और समन्वय की यह प्रक्रिया, जिसे हम द्वन्द्वात्मक पद्धति के नाम से जानते हैं, उस समय तक चलती रहती है जब तक विचार का आदर्श रूप प्राप्त नहीं हो जाता और वह अपने आन्तरिक विरोधों से मुक्त नहीं हो जाता।

नोट

भौतिकवाद–मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक पद्धति हीगल से ग्रहण की है, परन्तु मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद हीगल से बहुत अधिक भिन्न है। हीगल और मार्क्स की द्वन्द्वात्मक पद्धति में प्रमुख अन्तर यह है कि हीगल एक आदर्शवादी था। उसके द्वन्द्ववाद का आधार "विचार" या "आध्यात्मिकता" था परन्तु मार्क्स के अनुसार "विचार" नहीं "भौतिक पदार्थ" ही इस जगत् का आधार है। हीगल की दृष्टि में इतिहास "विश्वात्मा" की क्रमिक अभिव्यक्ति है और वह भी एक दैवी आयोजन के द्वारा जो सम्पूर्ण विश्व में परिव्याप्त है। परन्तु मार्क्स ने हीगल के "विश्वात्मा" के विचार को "काल्पनिक" कहकर छोड़ दिया है और उसके स्थान पर विशुद्ध भौतिक तत्व की महत्ता स्वीकार की। कैपीटल की भूमिका में मार्क्स ने लिखा "मेरी द्वन्द्वात्मक पद्धति हीगलवादी पद्धति से न केवल भिन्न हैं, बल्कि ठीक उसकी उल्टी है। हीगल के लिए मानव मस्तिष्क की जीवन प्रक्रिया अर्थात् चिंतन प्रक्रिया जिसे "विचार" के नाम से उसने एक स्वतन्त्रकर्ता बना डाला है, वास्तविक संसार का सृजनकर्ता है और वास्तविक संसार "विचार" का बाहरी इन्द्रियगम्य रूप मात्र है। इसके विपरीत मेरे लिए विचार इसके सिवा और कुछ नहीं हैं कि भौतिक संसार मानव मस्तिष्क में प्रतिबम्बित होता है और चिंतन के रूप में बदल जाता है।" इस प्रकार हीगल के लिए मूल वस्तु "विचार" है। मार्क्स के लिए मूल वस्तु "पदार्थ" है। हीगल ने कहा–विचार द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया से विकसित होते हैं और उनके विकास के साथ-साथ यह संसार बदलता है। मार्क्स ने कहा–नहीं, मुख्य वस्तु पदार्थ है और पदार्थ में परिवर्तन द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया द्वारा होते हैं।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद–द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद प्रगतिवादी है तथा उसकी प्रकृति भौतिक है, आत्मिक नहीं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की मूल धारणा है कि विश्व का आधार भौतिक तत्व या पदार्थ है। वह अपने आन्तरिक स्वभाव के द्वारा मूलत: विकसित होता है तथा समय-समय पर नाना प्रकार के रूप धारण करता है। यह विकास भौतिक पदार्थ में निहित आन्तरिक विरोध के कारण संचालित होता है और इसमें, जैसा कि हीगल ने कहा है, वाद, प्रतिवाद और संवाद की त्रयी को लेकर आगे चलता है तथा भौतिक विकास का पथ प्रशस्त करता जाता है। मार्क्स ने इसे मानव इतिहास का अटल तथा अपरिवर्तनीय नियम (Inexorable law of human history) कहा है।

मार्क्स के अनुसार, विश्व एक भौतिक जगत है। इसमें घटनाएँ तथा वस्तुएँ एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। चूँकि भौतिक जगत् में परिवर्तन निरन्तर होते रहते हैं, अत: सामाजिक जीवन में भी परिवर्तन होते रहते हैं। इन परिवर्तनों का कारण कोई दैवी सत्ता या ईश्वरीय नियम नहीं है प्रत्युत भौतिक परिस्थितियों का होना है। इन भौतिक परिस्थितियों से मार्क्स का अभिप्राय आर्थिक सम्बन्धों से है। मार्क्स के अनुसार पदार्थ अर्थात् भौतिक जगत् द्वन्द्वात्मक पद्धति के माध्यम से अपनी पूर्णता की यात्रा पर अग्रसर है और उसके विभिन्न रूप उसकी इस यात्रा के विभिन्न पड़ाव हैं।

"राजनीतिक अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास" की भूमिका में मार्क्स लिखते हैं–"अपने जीवन के सामाजिक उत्पादन में मनुष्य निश्चित सम्बन्धों–उत्पादन के सम्बन्धों में बंधते हैं, जो अपरिहार्य एवं उनकी इच्छा से स्वतन्त्र होते हैं। उत्पादन के ये सम्बन्ध उत्पादन की भौतिक शक्तियों के विकास की एक निश्चित मंजिल के अनुरूप होते हैं। इन उत्पादन सम्बन्धों का कुल योग ही समाज का आर्थिक ढाँचा खड़ा हो जाता है–वह असली आधार है, जिस पर कानूनी और राजनीतिक ढाँचा खड़ा हो जाता है और जिसके अनुकूल ही सामाजिक चेतना के निश्चित रूप होते हैं। भौतिक जीवन की उत्पादन पद्धति मनुष्यों की चेतना, उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती, बल्कि उल्टे, उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना को निर्धारित करता है।"

"अपने विकास की एक खास मंजिल पर पहुँचकर समाज की भौतिक उत्पादक शक्तियाँ तत्कालीन उत्पादन सम्बन्धों से या जो उसी चीज की कानूनी अभिव्यक्ति है–उन सम्पत्ति सम्बन्धों से टकराती है, जिनके अन्तर्गत वे उस समय तक काम करती रहती हैं। ये सम्बन्ध उत्पादक शक्तियों के विकास का रूप न रहकर उनके लिए बेड़ियाँ बन जाते हैं तब सामाजिक क्रान्ति का युग शुरू होता है। आर्थिक आधार के बदलने के साथ समस्त वृहदाकार ऊपरी ढाँचा भी कमोवेश तेजी से बदल जाता है। ऐसे रूपान्तरणों पर विचार करते हुए एक भेद हमेशा ध्यान में रखना

नोट

चाहिए। एक ओर तो उत्पादन की परिस्थितियों का भौतिक रूपान्तरण, जो प्राकृतिक विज्ञान की अचूकता के साथ निर्धारित किया जाना चाहिए; दूसरी ओर वे कानूनी, राजनीतिक, धार्मिक, सौन्दर्यबोधी या दार्शनिक, संक्षेप में विचारधारात्मक हैं, जिनके दायरे में मनुष्य इस टक्कर के प्रति सचेत होते हैं और उससे निपटते हैं। जैसे किसी व्यक्ति के बारे में हमारी राय इस बात पर निर्भर नहीं होती कि वह अपने बारे में क्या सोचता है, उसी तरह हम ऐसे रूपान्तरण के युग के बारे में स्वयं इस युग की चेतना के आधार पर निर्णय नहीं कर सकते। इसके विपरीत, भौतिक जीवन के अन्तर्विरोधों के आधार पर ही, समाज की उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों की मौजूदा टक्कर के आधार पर इस चेतना की व्याख्या की जानी चाहिए।"

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की विशेषताएँ–मार्क्स के द्वन्द्ववाद सिद्धान्त की निम्न विशेषताएँ बताई जा सकती हैं–

1. **आंगिक एकता**–द्वन्द्ववाद के अनुसार विश्व एक भौतिक जगत् है जिसमें वस्तुएँ तथा घटनाएँ एक-दूसरे से पूर्णत: सम्बद्ध हैं। प्रकृति के सभी पदार्थों में परस्पर निर्भरता (interdependence) तथा आंगिक एकता पाई जाती हैं। प्रकृति एक सम्पूर्णता (Totality) है, इसका हर पहलू एक-दूसरे पर निर्भर है तथा एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं।

2. **गतिशीलता**–प्रकृति में पाया जाने वाला प्रत्येक पदार्थ गतिशील है लगातार गतिशीलता से उसमें परिवर्तन होता रहता है जिसके फलस्वरूप कुछ चीजें पैदा तथा विकसित होती रहती हैं। अत: यह भौतिकवादी विश्व निरन्तर परिवर्तनशील है, विकासशील है।

3. **परिवर्तनशीलता**–आर्थिक शक्तियाँ सामाजिक विकास की प्रेरक शक्तियाँ हैं। चूँकि भौतिक जगत निरन्तर परिवर्तनशील है, अत: सामाजिक जीवन भी, उसी के अनुरूप परिवर्तनशील है। यह प्रक्रिया द्वन्द्ववाद के माध्यम से चलती रहती है।

4. **परिमाणात्मक, गुणात्मक परिवर्तन**–प्रकृति में परिवर्तन एवं विकास साधारण रीति से केवल परिमाणात्मक (Quantitative) ही नहीं होते बल्कि गुणात्मक (Qualitative) भी होते हैं। गुणात्मक परिवर्तन झटके के साथ क्रान्तिकारी रीति से होते हैं जब पुरानी चीज नष्ट होकर नई चीज में बदल जाती है। पुरानी चीज में परिमाणात्मक परिवर्तन एक बिन्दु पर आकर गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है। जैसे पानी गर्म हो रहा है, एक विशेष बिन्दु पर आकर वह भाप बन जाएगा तथा उसमें गुणात्मक परिवर्तन हो जाएगा।

5. **क्रान्तिकारी प्रक्रिया**–गुणात्मक परिवर्तन के आने को क्रान्तिकारी प्रक्रिया माना जाता है। वस्तुओं में गुणात्मक परिवर्तन धीरे-धीरे न होकर शीघ्रता के साथ अचानक होते हैं।

6. **नकारात्मक, सकारात्मक संघर्ष**–प्रकृति की हर चीज में अन्तर्विरोध होता है तथा नकारात्मक एवं सकारात्मक पहलू होते हैं जिनका आपसी संघर्ष विकास की प्रक्रिया (Process of Development) है। विकास का आधार संघर्ष है, सामंजस्य या मेलमिलाप नहीं। केवल संघर्ष के माध्यम से विरोधी पक्षों में आपसी टकराव से ही विकास होता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का महत्त्व–द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर मार्क्स उस नए समाज की स्थापना का तर्कपूर्ण औचित्य सिद्ध करना चाहता था जिसके भविष्य में निर्माण की वह कल्पना करता था। गुणात्मक परिवर्तन के आधार पर पूंजीवाद के नष्ट होने पर समाजवादी मार्ग की वह पुष्टि करता है। गुणात्मक परिवर्तन के आधार पर वह बतलाता है कि शोषण जब तक विशेष मंजिल तक पहुँचेगा, श्रमिक वर्ग की संख्या और शक्ति बढ़ेगी तो श्रमिक वर्ग क्रान्ति करेगा न कि धीरे-धीरे पूंजीवाद का अन्त करेगा। इस प्रकार वह सुधारवाद के स्थान पर क्रान्ति की अनिवार्यता सिद्ध करता है। उसका इस सिद्धान्त के आधार पर यह भी कहना है कि प्रत्येक पदार्थ में जिस तरह अन्तर्निहित विरोध होते हैं, इन विरोधी शक्तियों के मध्य वर्ग-संघर्ष चलता रहता है। इस प्रकार पूंजीवाद में ही विनाश के बीज विद्यमान रहते हैं।

2. ऐतिहासिक भौतिकवाद (Historical Materialism)

मानवीय विकास को समझने के लिए द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त को ऐतिहासिक विकास पर लागू करने के मार्क्स के प्रयास को हम "इतिहास की भौतिक व्याख्या" के सिद्धान्त के नाम से पुकारते हैं। इतिहास या समाज का विकास द्वन्द्व प्रणाली से होता है और भौतिक पदार्थ उस विकास को चलायमान करते हैं, यह इतिहास की भौतिक व्याख्या के सिद्धान्त की प्रमुख मान्यता है। इस सिद्धान्त को "आर्थिक नियतिवाद" (Economic Determinism), "ऐतिहासिक भौतिकवाद", अथवा "इतिहास की आर्थिक व्याख्या" जैसे अनेक नामों से पुकारा गया है।

इस सिद्धान्त द्वारा मार्क्स ने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि सामाजिक विकास कोई सीधी सरल रेखा के समान नहीं है और न ही उसका कोई ईश्वरीय प्रेरक कारण है। समाज की प्रगति द्वन्द्वात्मक प्रणाली द्वारा होती है और विकास की प्रक्रिया एवं उसकी अन्तिम दिशा को निर्धारित करने वाले आर्थिक तत्व होते हैं। **मार्क्स** के शब्दों में, "इतिहास का निर्धारण अपने अन्तिम रूप में आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार होता है।"

वेपर के अनुसार, इस सिद्धान्त का प्रारम्भ इस साधारण सत्य से होता है कि "लोग भोजन, वस्त्र, आवास और जीवन की अन्य आवश्यकताओं के बिना नहीं रह सकते पर प्रकृति यह सब उन्हें स्वयं बनाकर उनके हवाले नहीं करती। उन्हें प्राप्त करने के लिए मनुष्य को श्रम करना पड़ता है। अतः श्रम सामाजिक जीवन का आधार है और मनुष्य के लिए एक प्राकृतिक आवश्यकता है। श्रम और उत्पादक कार्यकलाप के बिना मानव जीवन ही असम्भव हो जाएगा। अतः भौतिक सम्पदा का उत्पादन सामाजिक विकास का मुख्य उत्पादक उपादान है।" दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक भौतिकवाद की मुख्य विशेषता यह मान्यता है कि उत्पादन पद्धति समाज के विकास में निर्णायक भूमिका का निर्वाह करती है।

मार्क्स से पूर्व समाज के विकास के इतिहास की व्याख्या करते हुए कतिपय विद्वानों ने कहा है कि इतिहास का निर्माण बड़े-बड़े राजाओं, बादशाहों, युद्धों तथा सेनापतियों द्वारा हुआ है। कार्लायल जैसे विचारकों का मानना था कि इतिहास का निर्माण जूलियस सीजर, नेपोलियन, क्रामवैल जैसे महान् नायक करते हैं। हीगल का मानना था कि महान् विचारों ने मानव समाज का विकास किया है।

मार्क्स ऐसे विद्वानों और इतिहासकारों से सहमत नहीं हैं जिन्होंने इतिहास को कुछ विशेष और महान् व्यक्तियों के कार्यों का परिणाम मात्र समझा। मार्क्स के अभिमत में इतिहास की सभी घटनाएँ आर्थिक अवस्था में होने वाले परिवर्तनों का परिणाम मात्र है और किसी भी राजनीतिक संगठन अथवा उसकी न्याय व्यवस्था का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसके आर्थिक ढाँचे का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। मानवीय क्रियाएँ नैतिकता, धर्म या राष्ट्रीयता से नहीं वरन् केवल आर्थिक तत्वों से प्रभावित होती है।

मार्क्स के अनुसार, मनुष्य सामाजिक स्तर पर जो उत्पादन करते हैं, उसमें वे एक-दूसरे के साथ निश्चित सम्बन्धों के सूत्र में बंध जाते हैं। ये सम्बन्ध अनिवार्य होते हैं और इन पर उनका अपना कोई वश नहीं होता। इन उत्पादन सम्बन्धों का स्वरूप उनकी भौतिक उत्पादन शक्ति के विकास की निश्चित अवस्था के अनुरूप होता है। इन उत्पादन सम्बन्धों के कुल योग से समाज की आर्थिक संरचना अस्तित्व में आती है, और वही कानूनी तथा राजनीतिक अधि-रचनाओं (Super Structures) की असली आधारशिला का काम देती है। दूसरे शब्दों में, भौतिक जीवन की उत्पादन प्रणाली (Mode of Production) जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक प्रक्रियाओं के सामान्य स्वरूप को निर्धारित करती है।

उत्पादन प्रणाली में जैसे-जैसे परिवर्तन होता है, वैसे-वैसे मनुष्यों के सारे सामाजिक सम्बन्ध भी बदल जाते हैं। जब उत्पादन हाथ की चक्की से होता है तब सामन्त अस्तित्व में आता है, जब उत्पादन भाप की चक्की से होने लगता है तब पूंजीपति, उद्योगपति का आविर्भाव होता है। जब भौतिक उत्पादन प्रणाली के अनुरूप सामाजिक सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं, तब इन सम्बन्धों के अनुरूप सिद्धान्तों, विचारों और आदर्शों की उद्भावना की जाती है। 1848

नोट

में मार्क्स और एंगेल्स ने "साम्यवादी घोषणापत्र" में लिखा है कि बुर्जुआ या मध्य वर्ग ने उत्पादन के साधनों में क्रान्ति लाकर समाज के सम्पूर्ण स्वरूप को बदल दिया है।

सामाजिक चेतना को ध्यान में रखते हुए मार्क्स कहता है कि तकनीकी विकास के फलस्वरूप उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन होता है और सामाजिक सम्बन्धों में भी उसके अनुरूप परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। पर पुरानी व्यवस्था के अन्तर्गत कुछ सामाजिक और राजनीतिक आदर्शों का निर्माण हो चुका होता है जो नई व्यवस्था के अनुकूल नहीं होते। पर चूँकि निहित स्वार्थ (Vested Interest) इन पर आँच नहीं आने देना चाहते, इसलिए जो सामाजिक वर्ग पुरानी व्यवस्था की बेड़ियों से जकड़ा हुआ था, उसमें चेतना का उदय होता है। वह इन बेड़ियों को अचानक झटककर उतार फेंकता है। इस तरह सामाजिक क्रान्ति से ही सामाजिक परिवर्तन का आविर्भाव होता है।

इस प्रकार मार्क्स उत्पादन पद्धति को सामाजिक व्यवस्था का आधार सिद्ध करते हुए उस परिवर्तन प्रक्रिया का वर्णन करता है जो उत्पादन के साधनों में परिवर्तन के साथ सामाजिक विकास के नए चरणों को जन्म देता है। मार्क्स के अनुसार, ऐतिहासिक क्रम की प्रत्येक अवस्था चाहे वह कितनी ही खराब क्यों न दिखाई दे–अपनी पिछली अवस्था में उत्तम होती है क्योंकि वह विकास की चरम परिणति के अधिक निकट होती है।

उत्पादन के साधनों के आधार पर बदलने वाले समाज के इतिहास को मार्क्स ने निम्नलिखित पाँच युगों में बाँटा है–

1. आदिम साम्यवादी युग–मार्क्स के अनुसार प्रारम्भिक आर्थिक व्यवस्था एक साम्यवादी व्यवस्था थी। मनुष्य कन्दमूल, फल व शिकार से अपना पेट भरता था। शिकार द्वारा पेट भरने की इस स्थिति ने सामूहिक जीवन को जन्म दिया। लोग मिलकर शिकार करते थे और मिलकर ही उसे खाते थे। उस समय पूर्ण समानता और पूर्ण स्वतंत्रता थी। न कोई लुटेरा था और न कोई शोषक। उन दिनों परिवार का जन्म नहीं हुआ था और सम्पूर्ण कबीला ही एक परिवार होता था जिसमें बगैर किसी रिश्ते के सभी स्त्री पुरुष में समानता और स्वतन्त्रता के आधार पर सम्बन्ध हुआ करते थे। इस समाज में मानव द्वारा मानव का शोषण नहीं होता था।

आगे चलकर प्रकृति से मानव के अन्तर्द्वन्द्व ने औजारों को जन्म दिया। नए-नए औजारों का आविष्कार हुआ और मनुष्य ने आग जलाना, जानवर पालना, बर्तन बनाना, पौधे उगाना सीखा। पौधे उगाना खेती करने की तरफ पहला कदम था। इसके परिणामस्वरूप एक तरफ तो अलग-अलग कबीलों के अलग-अलग पेशे हो गए दूसरी तरफ कबीले-कबीले में आपस में लड़ाई शुरू हो गई। एक तो नए कामों में पहले से ज्यादा मेहनत करनी पड़ती थी, उस पर लड़ाई की मांग पूरी करने के लिए अपनी जरूरत से ज्यादा उत्पादन करना पड़ता था। अब पहले से अधिक काम की जरूरत पड़ने लगी। कबीलों में आपस में लड़ाइयाँ भी होती रहती थीं। इन लड़ाइयों ने काम करने वालों की कमी को पूरा किया। अब हारे हुए लोगों को गुलाम बनाकर उनसे काम लिया जाने लगा। इस प्रकार सामाजिक कार्य के बँटवारे ने समाज को ही बांट दिया। समाज दो वर्गों में बँट गया–मालिक और दास। अब समाज में एक ऐसा वर्ग पैदा हो गया जो दूसरों की मेहनत पर जिन्दा रहता था।

2. दास युग–जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि प्रारम्भ में साम्यवादी व्यवस्था थी। इसके पश्चात् व्यवस्था बदली और दास युग का प्रारम्भ हुआ। कृषि व्यवस्था के साथ वैयक्तिक सम्पत्ति का श्रीगणेश हुआ। साथ ही श्रम का विभाजन प्रारम्भ हुआ। श्रम विभाजन ने परजीवियों को जन्म दिया। कुछ लोग जबरदस्ती लोगों को दास बनाकर शारीरिक श्रम के कार्य उनसे लेने लगे व अपना समय आमोद-प्रमोद, विद्या, कला तथा राजनीति आदि में बिताने लगे। आदिम वर्गहीन समाज अब स्वतन्त्र नागरिकों और दासों के दो वर्गों में विभक्त हो गया। दास युग में मालिक का दास पर वैसा ही हक होता था जैसा मकान, जमीन या जानवर पर। दास युग में आदमी पशुओं की तरह बिका करते थे। दास की पत्नी व बच्चे भी मालिक की वस्तु कहलाते थे। दास युग में मालिकों की संख्या कम थी और दासों की ज्यादा। इसलिए मालिकों को डर रहता था कि कभी दास विद्रोह करके उनको नष्ट न कर दें। अतः उन्होंने दासों की शारीरिक शक्ति को नियंत्रित रखने के लिए राज्यसत्ता (कानून, पुलिस, जेल) को जन्म दिया। यूरोपीय इतिहास का अध्ययन करने पर इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था हमें प्राचीन यूनान के नगर राज्यों में देखने को मिलती है।

3. सामन्ती युग—इस युग में दास मालिकों की गुलामी से तो आजाद हो गए, लेकिन वे जमीन के गुलाम बन गए। सामन्तवादी युग में राजा और उसके सैनिक सामन्त भूमि के मालिक होते थे, क्योंकि इनका अधिकांश समय युद्धों में बीतता था, अतः उत्पादन का कार्य किसानों द्वारा किया जाता था। किसान दास तो न थे, किन्तु पूर्ण स्वतन्त्रत भी नहीं थे। उन्हें इसी शर्त पर दास स्थिति से मुक्त किया गया कि वे स्वामी की जमीन जोतेंगे और इसके बदले उन्हें फसल का एक हिस्सा या जमीन का टुकड़ा दे दिया जाएगा। उन्हें मालिक की जमीन छोड़कर जाने का अधिकार नहीं होगा। इस तरह से उसे जमीन का टुकड़ा देकर सामन्त अधिकांश समय अपनी जमीन पर काम करवा कर उसका शोषण करने लगे।

सामन्तवाद में समाज सामन्त और किसान दो विरोधी वर्गों में बँट गया। अब सामन्त किसानों का शोषण करने लगे। लेकिन सामन्ती व्यवस्था में किसान को खेती करने के बाद काफी समय मिल जाता था। ऐसी स्थिति में करघे व दस्तकारी की चीजों का आविष्कार हुआ, जिनकी मदद से किसान अपनी जरूरतों की दूसरी चीजें बनाने लगा। पहले इससे वह अपनी जरूरतों को पूरा करता था, बाद में इनका आदान-प्रदान भी शुरू हो गया और अब वस्तुएँ आवश्यकता पूर्ति के लिए नहीं बल्कि व्यापार के लिए होने लगीं। इस प्रक्रिया ने एक ऐसे वर्ग को जन्म दिया जो एक व्यक्ति से चीजें खरीदकर दूसरे व्यक्ति को दे देता था। यह वर्ग व्यापारी वर्ग कहलाया। धीरे-धीरे इस वर्ग के पास पैसा इकट्ठा होता गया और वह प्रतिदिन विकसित होते हुए कल-करघे का मालिक भी बन गया। मशीन का आविष्कार होने पर सामन्ती समाज पूंजीवादी समाज में बदल गया।

4. पूंजीवाद युग—उत्पादन के नये साधन (मशीन) ने उत्पादन के नये रिश्तों को जन्म दिया और सामन्तवाद के स्थान पर पूंजीवादी युग प्रारम्भ हुआ। पूंजीवाद को अपना वास्तविक स्वरूप औद्योगिक क्रान्ति के होने पर प्राप्त हुआ। वास्तव में औद्योगिक क्रान्ति उत्पादन प्रणाली में ही एक महान परिवर्तन का नाम है। पूंजीवाद में उत्पादन साधन महँगी मशीनें, कल कारखाने आदि थे। सर्वसाधारण को न तो ये साधन सुलभ थे और न वे अपने पुराने हस्तकौशल वाले रोजगारों को ही चला सकते थे। मजबूर होकर उन्हें अपने श्रम को बेचना पड़ा। इस युग में मजदूर भी अन्य सामान की भाँति खरीदे और बेचे जाने लगे। पूंजीवाद ने दासता को मिटाने के बजाय इसे दूसरे रूप में स्थायी बनाया और वेतनभोगी "वेतन पाने वाला दास" बन जाता है।

इस प्रकार की अर्थव्यवस्था के विकास के बीच मध्य वर्ग का उदय होता है जो पूंजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग के मध्य रहकर इन दोनों, परस्पर विरोधी वर्गों में सीधे संघर्ष नहीं होने देता? पर समय बीतने पर यह मध्यम वर्ग भी सर्वहारा वर्ग की भाँति बन जाता है। फलतः पूंजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग के पास एक-दूसरे के विरुद्ध घोर युद्ध करने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं रह जाता है। इस युद्ध का अन्त तभी होता है जब पूंजीपति वर्ग का पूर्णरूपेण नाश हो जाता है और उत्पादन के साधनों पर राज्य का एकाधिकार हो जाता है।

मार्क्स के अनुसार, पूंजीवाद अपने अन्दर ही अपने पतन के बीज छिपाये हैं। मार्क्स का कहना था कि समाजवाद का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए जो भौतिक परिस्थितियाँ आवश्यक होती हैं वे पूंजीवादी समाज के ही गर्भ में छिपी रहती हैं। स्वभावतः पूंजीवाद में अव्यवस्था रहती है। पूँजीवाद का परिणाम होता है—माँग से अधिक पूर्ति, जरूरत से अधिक उत्पादन, बाजार का माल से पट जाना, व्यापारिक संकट, बेरोजगारी, कम रोजगार और गलत रोजगार। इनके पश्चात् निजी पूंजी के स्थान पर धीरे-धीरे संयुक्त कम्पनियाँ और ट्रस्ट कायम हो जाते हैं और बाद में "एकाधिकार पूंजी" और "वित्त पूंजी" का बोलबाला हो जाता है। यह स्थिति पूंजीवाद की चरम सीमा है और यहीं से पूंजीवाद का पतन होने लगता है। पूंजीवाद के पतन के बाद "सर्वहारा के अधिनायकत्व" की स्थापना होती है।

5. साम्यवादी युग—पूंजीवादी व्यवस्था सर्वहारा के शोषण पर आधारित है और जब यह शोषण चरम सीमा पर पहुँच जाता है और मजदूर को अपना अस्तित्व ही खतरे में नजर आता है तो वह इसके खिलाफ झंडा उठाकर बगावत कर देता है और पूंजीपति वर्ग को उसके शासन से उखाड़ फेंकता है। इसी को क्रांति कहते हैं। इस क्रांति के फलस्वरूप एक "वर्ग विहीन एवं राज्य विहीन" समाज की स्थापना होगी। किन्तु इस अवस्था से पूर्व एक संक्रमण कालीन युग आयेगा जिसमें कि "सर्वहारा का अधिनायकवाद" स्थापित होगा तथा उत्पादन के साधनों का

नोट

समाजीकरण किया जायेगा। इस अवस्था की समाप्ति के बाद एक ऐसे समाज की स्थापना होगी जिसमें वर्ग नहीं होंगे, व्यक्ति व्यक्ति शोषण नहीं करेगा और राज्य का लोप हो जायेगा। मार्क्स ने साम्यवादी युग के दो लक्षण बतलाये हैं : (1) यह समाज अन्ततोगत्वा राज्य-विहीन एवं वर्ग-विहीन (Stateless and Classless Society) होगा। (2) इस समाज के अन्दर वितरण का सिद्धान्त होगा–"प्रत्येक अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करे और उसे अपनी आवश्यकता के अनुसार प्राप्त हो।"

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के निष्कर्ष–मार्क्स द्वारा दी गई इतिहास की आर्थिक या भौतिकवादी व्याख्या से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं:

1. इतिहास का अध्ययन मानव समाज के विकास के नियम जानने के लिए किया जाता है।

2. प्रकृति के विकास के नियमों की तरह की समाज के विकास के भी कुछ नियम हैं।

3. सामाजिक जीवन के परिवर्तन ईश्वर की इच्छा अथवा महापुरुषों के विचारों और कार्यों के परिणाम नहीं होते और न ही वे संयोगवश होते हैं बल्कि आर्थिक शक्तियों में परिवर्तन के कारण होते हैं।

4. किसी राष्ट्र या समाज के विकास की प्रक्रिया में आर्थिक तत्व अर्थात् वस्तुओं के उत्पादन विनिमय और वितरण प्रणाली की भूमिका सबसे प्रधान होती है।

5. प्रत्येक युग की समस्त सामाजिक व्यवस्था पर उसी वर्ग का आधिपत्य होता है जिसे उत्पादन के साधनों पर स्वामित्त्व प्राप्त थे।

6. जब उत्पादकीय शक्तियों में परिवर्तन होता है तब उत्पादकीय सम्बन्धों में भी परिवर्तन आ जाता है।

7. वर्ग संघर्ष सामाजिक विकास की कुंजी है और दास युग से लेकर सर्वहारा के अधिनायकवाद तक वर्ग संघर्ष ने सामाजिक व्यवस्थाओं को परिवर्तित करने का कार्य किया है, लेकिन साम्यवादी युग की स्थापना से वर्ग-विहीन समाज की स्थापना होगी और वर्ग संघर्ष की यह प्रक्रिया समाप्त हो जाएगी।

8. उत्पादन सम्बन्धों में आर्थिक अवस्थाओं के आधार पर समाज के इतिहास को पाँच मुख्य युगों में बाँटा गया है।

9. इतिहास की आर्थिक व्याख्या के माध्यम से मार्क्स पूंजीवाद के अन्त और साम्यवाद के आगमन की अनिवार्यता व्यक्त करता है।

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या का महत्व–मार्क्स द्वारा प्रतिपादित इतिहास की आर्थिक (भौतिकवादी) व्याख्या की कितनी ही कमियाँ निकाली जाएँ, परन्तु यह तो सत्य है कि मार्क्स ने सामाजिक संस्थाओं में आर्थिक कारकों पर बल देकर सामाजिक विज्ञान की महान सेवा की है। इतिहास को बदलने में आर्थिक शक्तियाँ एकमात्र कारण चाहे न रही हों, परन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इतिहास को बदलने में आर्थिक शक्तियों का योग सर्वाधिक है। इसके अतिरिक्त मार्क्स द्वारा इतिहास की भौतिक व्याख्या के कारण अब इतिहास के अध्ययन की पद्धति और दृष्टिकोण विशाल हो गया है। यह इस दृष्टि से भी उपयोगी सिद्धान्त है क्योंकि यह प्रतिपादित करता है कि आर्थिक परिस्थितियों की उपेक्षा करके इतिहास का वास्तविक या वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया जा सकता है।

3. वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त (Theory of Class Struggle)

वेपर के अनुसार, मार्क्स के चिन्तन में वर्ग संघर्ष की धारणा का विशिष्ट महत्व है। उसका वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त उसकी इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या और अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त पर आधारित है। सेबाइन के अनुसार मार्क्स वर्ग संघर्ष को सामाजिक परिवर्तन का माध्यम मानता है और आदिकाल से अब तक समस्त परिवर्तनों को उसी का प्रतिफल मानता है। "अभी तक आविर्भूत समस्त समाज का इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास रहा है।" (The history of all within the existing society is the history of class struggle).

वास्तव में वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त ऐतिहासिक भौतिकवाद की ही उपज है। मार्क्स ने आर्थिक नियतिवाद की सबसे महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति इस बात में देखी कि समाज में सदैव ही विरोधी आर्थिक वर्गों का अस्तित्व रहा है।

नोट

यह वर्ग संघर्ष हमेशा समाज में विद्यमान दो परस्पर विरोधी हितों वाले वर्गों में चलता है। इन वर्गों का आधार आर्थिक है। इनमें से एक वर्ग आर्थिक सत्ता प्राप्त वर्ग है जिसके पास उत्पादन के साधनों का स्वामित्व है और दूसरा जो केवल शारीरिक श्रम करता है अर्थात् आर्थिक सत्ता से विहीन अपना श्रम बेचकर जीवन निर्वाह करने वाला वर्ग है। मार्क्स का कथन है कि हर युग में इन दोनों वर्गों का किसी-न-किसी रूप में अस्तित्व रहा है। पहला वर्ग सदा ही दूसरे वर्ग का शोषण करता है। समाज के शोषक और शोषित ये दो वर्ग सदा ही आपस में संघर्ष करते रहे हैं। इन दो वर्गों में समझौता कभी भी सम्भव नहीं है।

वर्ग से तात्पर्य—वर्ग व्यक्तियों के उस समूह को कहते हैं जो उत्पादन की किसी विशेष प्रक्रिया से सम्बन्धित हों और जिनके कारण हित एक हों। इतिहास की आर्थिक व्याख्या पर बल देने के कारण मार्क्स इसका लक्षण आर्थिक तत्वों पर बल देते हुए करता है और कहता है कि जिस समूह के आर्थिक हित एक समान होते हैं, उसको वर्ग कहते हैं, जैसे मिल मालिक, जमींदार, व्यापारी, किसान, मजदूर आदि।

संघर्ष से तात्पर्य—संघर्ष का अर्थ केवल लड़ाई नहीं है, किन्तु इसका व्यापक अर्थ असन्तोष, रोष और आंशिक असहयोग है। इस प्रकार मार्क्स के अनुसार संघर्ष का अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि समाज में निरन्तर युद्ध की सी स्थिति बनी रहे अपितु इसका केवल इतना अर्थ है कि समाज में एक वर्ग ऐसा अवश्य होता है जिसकी आवश्यकताएँ पूरी न होने से वह सर्वदा असन्तुष्ट रहता है। इस असन्तोष को वह वर्ग समय-समय पर कई रूपों में—असहयोग, हड़ताल आदि द्वारा व्यक्त करता है और जब यह असन्तोष असहनीय हो जाता है तो द्वन्द्ववाद के आधार पर यह संघर्ष क्रान्ति का रूप ले लेता है जिसमें शोषित वर्ग की विजय और शोषक वर्ग का पतन अवश्यम्भावी है।

वर्ग संघर्ष और पूंजीवाद—मार्क्स के अनुसार, समाज का विकास वर्गों के आपसी तालमेल, सहयोग और शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के आधार पर नहीं होता है बल्कि वर्गों के आपसी संघर्ष के परिणामस्वरूप होता है। समाज में तमाम परिवर्तन वर्ग संघर्ष के आधार पर ही होते हैं तथा इससे समाज का विकास होता है। दास युग में मालिक और दास, सामन्ती युग में सामन्त और किसान के वर्ग होते थे और आज के पूंजीवादी युग में आजीविका कमाने के साधनों के आधार पर समाज को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(1) पूंजीपति या बुर्जुआ तथा (2) श्रमजीवी या सर्वहारा।

मार्क्स के अनुसार, पूंजीपति और श्रमिक, दोनों को एक-दूसरे की जरूरत होते हुए भी इनके हितों में परस्पर विरोध हैं। पूंजीपति कम-से-कम मजदूरी देना चाहता है जिससे उसे अधिकाधिक लाभ हो और मजदूर अधिक से अधिक मजदूरी लेना चाहता है, अतः हितों के विरोध के कारण इन दोनों में संघर्ष आरम्भ हो जाता है। यही वर्ग संघर्ष की बुनियादी है और इसी कारण वर्ग संघर्ष हमेशा से चला आ रहा है।

आधुनिक पूंजीवादी युग को मार्क्स ने वर्ग संघर्ष के चरमोत्कर्ष की अवस्था माना है। उसका अनुमान है कि पूंजी पर आधारित उत्पादन प्रणाली में उत्पादनकर्ताओं की निरन्तर प्रतिस्पर्द्धा के फलस्वरूप सारी पूंजी और जमीन धीरे-धीरे इने-गिने लोगों के हाथों में सिमटती चली जाएगी। मध्यवर्ग अपने पैरों पर खड़ा न रह पाने के कारण श्रमिक वर्ग में मिल जाने को विवश हो जाएगा। परिणामतः पूंजीपति वर्ग छोटा होता चला जाएगा और श्रमिक वर्ग का आकार बढ़ता जाएगा। पूंजीपति अपने बढ़ते हुए लाभ का उपयोग स्वयं नहीं कर पाएंगे, अतः वे फिर उसे उद्योगों में लगा देंगे। इससे उत्पादन तो बढ़ेगा परन्तु निर्धन श्रमिक वर्ग क्रय-शक्ति के अभाव में बाजार नहीं जुटा पाएगा। तब देश के बाहर बाजार की तलाश शुरू होगी। अतः परिवहन और संचार के उन्नत साधनों द्वारा विभिन्न देशों से सम्बन्ध जुड़ेगा। सचेत श्रमिक वर्ग या सर्वहारा वर्ग अपना संगठन सुदृढ़ करने के लिए और अपने आन्दोलन को व्यापक बनाने के लिए इन साधनों का प्रयोग करने लगेगा। इस तरह पूंजीपति और सर्वहारा वर्गों के बीच सीधे संघर्ष की सम्भावना उज्ज्वल हो जाएगी। सर्वहारा वर्ग अपनी विशाल संख्या और सुदृढ़ संगठन के बल पर मुट्ठी भर पूंजीपतियों को धराशायी करने में निश्चय ही समर्थ और सफल होगा। फलतः "स्वत्वहरण करने वालों का स्वत्वहरण कर लिया जाएगा"; सर्वहारा की विजय के बाद उत्पादन के प्रमुख साधनों को 'सामाजिक स्वामित्व' में रखकर पुराने पूंजीपतियों को श्रमिक बन जाने के लिए विवश किया जाएगा, जिससे समाज के सभी सदस्य उत्पादन करने वाले होंगे; दूसरों के श्रम पर पलने वाला कोई नहीं होगा। इस तरह अन्त में वर्गहीन समाज की स्थापना हो जाएगी।

नोट

पूंजीवादी समाज का सबसे अधिक उत्पीड़ित वर्ग होने के साथ-साथ सर्वहारा सर्वाधिक क्रान्तिकारी वर्ग भी होता है। बुर्जुआ वर्ग से अपने संघर्ष में वह विकास के विभिन्न चरणों से गुजरता है और उसका संघर्ष अलग-अलग स्वत: स्फूर्त न रहकर वर्ग संघर्ष बन जाता है। "प्रत्येक वर्ग संघर्ष एक राजनीतिक संघर्ष होता है।"

वर्ग संघर्ष की भावना किस प्रकार से पूंजीवाद के अन्त तक मार्ग प्रशस्त करती है, इसे स्पष्ट करते हुए **कोकर** ने लिखा है कि–"पूंजीवादी व्यवस्था मजदूरों की संख्या बढ़ाती है उन्हें वह संगठित समुदायों में एकत्रित कर देती है, उनमें वर्गचेतना का प्रादुर्भाव करती है और उनमें परस्पर सम्पर्क तथा सहयोग स्थापित करने के लिए विश्वव्यापी पैमाने पर साधन प्रदान करती है। उनकी क्रय-शक्ति को कम करती है और उनका अधिकाधिक शोषण करके उन्हें संगठित प्रतिरोध करने के लिए प्रेरित करती है।"

मार्क्स कहता है कि अब तक के इतिहास में जिस वर्ग ने शोषणकर्ताओं से सत्ता छीनी, कालान्तर में वह स्वयं शोषणकर्ता सिद्ध हुआ। इसलिए अब तक जितनी क्रान्तियाँ हुईं, उनसे इतिहास अपने चरम लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाया। परन्तु पूंजीपति और सर्वहारा वर्गों के संघर्ष से जो क्रान्ति होगी, वह पिछली सब क्रान्तियों से भिन्न होगी क्योंकि उसके फलस्वरूप शोषक वर्ग का अस्तित्व ही मिट जाएगा और वर्गहीन समाज की स्थापना होगी।

वर्ग संघर्ष सिद्धान्त के निष्कर्ष–मार्क्स का कहना है कि पूंजीवाद अपनी कब्र आप खोदता है। पूंजीवाद के विनाश के कारणों पर प्रकाश डालते हुए मार्क्स ने कहा है "इस संघर्ष में उसका विनाश और सर्वहारा वर्ग की विजय दोनों ही अवश्यम्भावी है।" उसके वर्ग संघर्ष सिद्धान्त से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं:

1. उत्पादन सम्बन्धों के आधार पर समाज में वर्ग विभाजन स्पष्ट होता है।
2. समाज का विकास वर्गों के आपसी संघर्ष के फलस्वरूप होता है, आपसी सहयोग के द्वारा नहीं।
3. समाज में मुख्यत: दो वर्ग होते हैं जिनके हित परस्पर विरोधी होते हैं।
4. जब तक वर्ग में चेतना तथा वर्ग संगठन न हो तब तक वर्ग संघर्ष तेज होकर क्रान्ति की दिशा में नहीं बढ़ता।
5. वर्ग संघर्ष क्रान्ति को जन्म देता है जिसके फलस्वरूप एक वर्ग की सत्ता दूसरे वर्ग के हाथों में आ जाती है।

वर्ग संघर्ष सिद्धान्त का महत्त्व–मार्क्स पहला व्यक्ति था जिसने इतिहास की वर्ग हितों के आधार पर व्याख्या की है। पूंजीवाद के सम्बन्ध में मार्क्स की कई भविष्यवाणियाँ गलत सिद्ध हुई हैं, परन्तु पूंजीवाद के विकास की धारा लगभग वही है जैसी कि मार्क्स व एंगेल्स ने बताई थी। मार्क्स का वर्ग संघर्ष सिद्धान्त श्रमजीवी वर्ग के लिए महान् प्रेरणा का स्रोत है क्योंकि उसके द्वारा श्रमजीवी वर्ग की विजय अवश्यम्भावी बताई गई। प्रभाव की दृष्टि से यदि इस सिद्धान्त का हम मूल्यांकन करें तो हमें यह ज्ञात होगा कि वर्ग संघर्ष के शस्त्र को अपनाकर विश्व मानवता के बहुत बड़े भाग ने प्रत्यक्ष रूप से पूंजीवादी बुराइयों से मुक्ति प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की है। यही नहीं, पूंजीवादी देशों में भी श्रमिकों की दशा सुधारने और उन्हें सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने के जितने भी उपक्रम हुए हैं उनको प्रेरित करने में वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त ने अप्रत्यक्ष रूप से महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है।

3.5 राज्य की उत्पत्ति का कारण : वर्ग विभेद (Reason of Origin of State : Class-Difference)

प्लेटो और अरस्तु की भाँति राज्य को एक लोक कल्याणकारी संगठन मानने के स्थान पर मार्क्स राज्य को एक वर्ग संगठन मानता है। उसकी उत्पत्ति वर्ग संघर्ष से हुई है। यह एक दमनकारी समुदाय है जो वर्ग-विभेदों को बनाए रखता है। राज्य तब तक बना रहेगा जब तक समाज में वर्ग रहेंगे। मार्क्स का आदर्श वर्ग विहीन समाज है जिसमें "राज्य" विलुप्त हो जाएगा और साम्यवादी समाज की स्थापना होगी। "राज्य वर्ग समाज की उपज है, उसका उदय वर्गों के उदय के साथ हुआ और वर्गों के अन्त के साथ ही उसका लोप भी हो जाएगा, यह धीरे-धीरे मुरझा जाएगा।"

नोट

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मार्क्स की विचारधारा सामान्य मत के सर्वथा विपरीत है। प्लेटो, अरस्तू और अनेक विचारकों का मत है कि राज्य एक स्वाभाविक और नैतिक संस्था है जो मानव जीवन के साथ जुड़ी हुई है। लेकिन मार्क्स राज्य को एक वर्गीय संस्था मानता है। आदिम साम्यवादी व्यवस्था में समाज के सदस्यों के बीच हितों का कोई संघर्ष नहीं था, इसलिए सम्पूर्ण समाज मिलकर अपने मामलों का प्रबन्ध स्वयं कर लेता था और राज्य का कोई अस्तित्व नहीं था। लेकिन दास युग में स्थिति बदल गई। इस युग में स्वामियों के हाथ में 'भूमि' सम्पत्ति और उत्पादन के समस्त साधन थे और ये दासों का शोषण करते थे। स्वामी वर्ग के सदस्यों की संख्या बहुत कम थी और बहुसंख्यक समाज के विरुद्ध अपनी स्थिति बनाए रखने के लिए उन्हें शक्ति का आश्रय लेना पड़ा। इनके द्वारा सेना, पुलिस, न्यायालय और कारागार आदि की व्यवस्था की गई। इन संस्थाओं पर उन लोगों का अधिकार था जो शासक वर्ग के समर्थक थे। यहीं से राज्य संस्था का जन्म हुआ। एंगेल्स लिखते हैं, "राज्य, शासन के रूप में सबसे शक्तिशाली उच्च आर्थिक वर्ग का राज्य है जो राज्य के माध्यम से, राजनीतिक रूप से भी उच्च वर्ग बन जाता है और इस प्रकार यह शोषित वर्ग के शोषण का नया हथियार है। पुराने समय का राज्य गुलामों पर शासन करने के लिए गुलामों के मालिकों का राज्य था, सामन्तवादी राज्य किसान तथा भूमिहीनों पर शासन करने के लिए पूंजीपतियों का शासन है।" एंगेल्स राज्य की उत्पत्ति वर्गों की उत्पत्ति के साथ ही मानते हैं तथा राज्य को एक आर्थिक वर्ग के हाथ में दूसरे आर्थिक वर्ग पर शोषण करने का हथियार बताते हैं। मार्क्स लिखते हैं, "राज्य सम्पत्तिशाली वर्ग का संगठन है जो सम्पत्तिहीन वर्ग से इनकी सुरक्षा करता है।"

राज्य वर्ग शोषण का यन्त्र—राज्य के उद्देश्य एवं स्वरूप के बारे में मार्क्स का विचार अन्य दार्शनिकों से काफी भिन्न है। अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में उन्होंने हीगल के राज्य सम्बन्धी विचारों की कटु आलोचना की। हीगल यह मानते थे कि राज्य नैतिकता है तथा समाज के सारे द्वन्द्व खत्म कर देता है। मार्क्स ने इस विचार की कटु आलोचना करते हुए कहा है कि राज्य व्यक्तिगत हितों से ऊपर रहकर सामन्त हित का प्रतिनिधित्व नहीं करता बल्कि सम्पत्ति का सेवक है। मार्क्स ने यह भी माना है कि राजनीतिक मुक्ति मानव की मुक्ति नहीं है, राज्य स्वतंत्र हो सकता है, बिना मनुष्य के स्वतंत्र हुए। इस प्रकार उन्होंने अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में स्पष्ट किया कि राज्य पूरे समाज का एक पहलू है, समाज के नीचे है तथा राज्य निजी सम्पत्ति के हितों से जुड़ा हुआ है।

मार्क्स ने राज्य के बारे में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह कही है कि "राज्य बिखरे हुए नागरिक समाज को संगठित नहीं करता, यह एक राजनीतिक अन्धविश्वास है कि राज्य सामाजिक जीवन को व्यवस्थित करता है। जबकि वास्तविकता यह है कि सामाजिक जीवन राज्य को संगठित रखता है। अतः इस विचार के अनुसार राज्य समाज से बाहर नहीं बल्कि समाज की उपज है।"

मार्क्स के अनुसार राज्य शासक वर्ग के हितों को सुरक्षित बनाए रखने का तथा अन्य वर्गों के शोषण करने का साधन या उपकरण मात्र है। वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था में राज्य पूंजीपतियों का संगठन है, इसका उद्देश्य मजदूर वर्ग का शोषण करना है, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह अपनी सारी सम्पत्ति एवं हितों की रक्षा की दृष्टि से कानूनों का निर्माण करता है। कानून भंग करने वालों को पकड़ने तथा दण्ड देने के लिए पुलिस तथा न्यायालयों की व्यवस्था करता है। एंगेल्स के शब्दों में, "आधुनिक राज्य—उसका स्वरूप कुछ भी हो—मूलतः एक पूंजीवादी मशीन है पूंजीपतियों का राज्य है, समस्त राष्ट्रीय पूंजी का आदर्श मूर्तरूप है। जितना अधिक वह उत्पादक शक्तियों को अपने हाथों में लेता है, उतना ही वास्तव में राष्ट्रीय पूंजीपति बनता जाता है और उतने ही अधिक नागरिकों का वह शोषण करता है।" साम्यवादी घोषणा पत्र में राज्य को "पूंजीपतियों की कार्यकारी समिति" कहा गया है। "आधुनिक राज्य की कार्यपालिका सभी पूंजीवादियों के सामान्य मामलों के प्रबन्ध के लिए एक समिति मात्र है।" (The executive of the modern state is just a committee for the oppression of one class by another) एंगेल्स के शब्दों में, "राज्य एक वर्ग के द्वारा दूसरे वर्ग के दमन के लिए एक यन्त्र है" (Nothing more than a machine for the oppression of one class by another)

अन्तरिम काल में सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद—मार्क्स के अनुसार, पूंजीवाद का अन्त अनिवार्य है। क्रान्ति के द्वारा पूंजीवादी वर्ग को नष्ट कर दिया जाएगा और सर्वहारा (श्रमजीवी) का अधिनायकत्व स्थापित हो

नोट

जाएगा। वर्गहीन समाज की स्थापना में कुछ समय लगेगा और अन्तरिम काल (Transitional Period) में सर्वहारा का शासन होगा। "पूंजीवाद के अन्त के बाद भी राज्य कुछ समय तक अस्तित्व में रहेगा और इस काल में सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद स्थापित होगा।"

'गोथा कार्यक्रम की आलोचना' में मार्क्स एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण प्रस्थापना निरूपित करते हैं–पूंजीवादी और कम्युनिस्ट समाज के बीच एक से दूसरे क्रान्तिकारी रूपान्तरण का काल होता है। इसका समवर्ती एक राजनीतिक संक्रमण काल भी है, जिसमें राज्य सर्वहारा वर्ग के क्रान्तिकारी अधिनायकवाद के सिवा और कुछ नहीं हो सकता है।"

इस संक्रमण काल में राज्य की शक्ति का प्रयोग सर्वहारा वर्ग के द्वारा पूंजीपतियों के प्रतिरोध को कुचलने तथा पूंजीवाद के अवशेषों को समाप्त करने के लिए किया जाएगा। मार्क्स यह देखते हैं कि समाजवादी क्रान्ति के दौरान कितने विराट और कितने जटिल कार्यभार पूरे करने होंगे–शोसक वर्ग के प्रतिरोधों का दमन करना, मेहनतकश जनसाधारण के व्यापकतम समूहों को सर्वहारा के पक्ष में लाना, समाज की अर्थव्यवस्था, राजनीति, संस्कृति और सामाजिक सम्बन्धों में आमूल क्रान्तिकारी पुनर्गठन करना। इन सबको ध्यान में रखते हुए मार्क्स यहाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष का क्लासिकीय सूत्र पेश करते हैं–एक पूरे संक्रमण काल की ऐतिहासिक आवश्यकता है और इस काल का **राज्य सर्वहारा अधिनायकत्व** ही होना चाहिए। इस संक्रमण काल में हैलोवेल द्वारा प्रस्तुत रूपरेखा के अनुसार साम्यवाद का निम्नलिखित कार्यक्रम रहेगा–

1. हर प्रकार की जमींदारी का उन्मूलन और भूमि से प्राप्त होने वाले समस्त राजस्व का सार्वजनिक लाभ के कार्यों में खर्च किया जाना।

2. आय के साथ तेजी से बढ़ने वाला आयकर।

3. सब प्रकार के उत्तराधिकार की समाप्ति।

4. देश छोड़कर अन्य देशों में बसने वालों की और विद्रोहियों की सम्पत्ति की जब्ती।

5. सरकारी पूंजी और पूर्ण एकाधिकार से सम्पन्न राष्ट्रीय बैंक द्वारा राज्य के हाथ में उद्योग का केंद्रीयकरण।

6. संचार और परिवहन के साधनों का राज्य के हाथों में केन्द्रीयकरण।

7. राज्य स्वामित्व वाले कारखानों और उत्पादन के साधनों का विस्तार। एक सामान्य योजना के अनुसार बंजर भूमि को खेती योग्य बनाना और जमीन को अधिक उपजाऊ बनाने के उपाय करना।

8. हर एक के लिए काम करना समान रूप से अनिवार्य किया जाना, विशेषकर कृषि के लिए औद्योगिक सेवाएँ कायम करना।

9. खेती और उद्योग का उचित समायोजन और नगरों तथा गाँवों में आबादी का अधिक न्यायपूर्ण वितरण।

10. निःशुल्क सार्वजनिक स्कूली शिक्षा और बच्चों से मजदूरी कराने पर रोक।

मार्क्स इस 'सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व' को ही लोकतन्त्र मानता था। सर्वहारा वर्ग को अपने आपको दलित वर्ग के नाते संगठित करना है और उसे 'शासक वर्ग की स्थिति तक' उठाना है। इसके लिए सर्वहारा को राजनीतिक दल के रूप में गठित होकर, राजनीतिक नियन्त्रण अपने हाथ में लेना होगा।

राज्य संस्था का विलोप–सर्वहारा के अधिनायकवाद की संक्रमणकालीन अवस्था के बाद मार्क्स एक ऐसी आदर्श वर्गहीन व्यवस्था की कल्पना करता है, जिसमें राज्य का विलोप हो जाएगा। यह अवस्था वर्गहीन समाज की होगी जिसमें राज्य की कोई अवस्था नहीं होगी। कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र में स्पष्ट कहा गया है–"विकास क्रम में वर्गों के भेद मिट जायेंगे और सारा उत्पादन पूरे राष्ट्र के एक विशाल संघ के हाथ में संकेन्द्रित हो जायेगा, तब सार्वजनिक सत्ता अपना राजनीतिक स्वरूप खो देगी।" **एंजिल्स** के शब्दों में, "राज्य का अंत' नहीं किया जाता उसका 'लोप' हो जाता है।"

मार्क्स की मान्यता के अनुसार, जब तक समाज में वर्ग बने रहेंगे तब तक एक विशेष वर्ग की सत्ता के समर्थक राज्य की भी सत्ता बनी रहेगी। किन्तु सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता के चरण में पूंजीपतियों के वर्ग का

नोट

उन्मूलन हो जायेगा, इसके बाद समाज में वर्ग भेद की सत्ता स्वतः समाप्त हो जाएगी और तब व्यक्तियों को समानता की स्थिति प्राप्त हो जाएगी। जब समाज में कोई विशेष वर्ग नहीं रहेंगे तो उनकी सत्ता बनाए रखने वाले राज्य की भी कोई उपयोगिता नहीं रहेगी तथा राज्य धीरे-धीरे स्वतः लोप हो जाएगा। इस अवस्था में मनुष्य पहली बार पूर्ण स्वतंत्रता का उपभोग करेगा तथा उत्पादन के साधनों पर सम्पूर्ण समाज का अधिकार होगा। सब लोग अपनी योग्यता के अनुसार काम करेंगे तथा अपनी आवश्यकता के अनुसार प्राप्त करेंगे। जो व्यक्ति काम करने योग्य नहीं होंगे, उनके लिए सामाजिक सहायता और सामाजिक बीमे की व्यवस्था होगी। इस प्रकार मार्क्स जिस तरह की साम्यवादी सामाजिक, आर्थिक संरचना की कल्पना करता है, उसमें व्यक्ति और समाज के पूरी तरह स्वतंत्र होने, उनकी हर तरह की तरक्की की सहूलियतें होने की कल्पना की गई है। उत्पादन के साधनों पर कतिपय पूंजीपतियों का नहीं, बल्कि पूरे समाज का मालिकाना हक होता है। मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की गुंजाइश नहीं होती। भूख, गरीबी, बेकारी नहीं होती। **मार्क्स** के शब्दों में, "पुराने बुर्जुआ समाज तथा उसके वर्गों और वर्ग विरोधों के स्थान पर हम एक समाज की स्थापना करेंगे जिसमें प्रत्येक का स्वतंत्र विकास सभी के स्वतंत्र विकास की आवश्यक शर्त होगी।"

छात्र क्रियाकलाप

1. मार्क्स की द्वन्द्वात्मक पद्धति हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति से भिन्न कैसे हैं?

2. वेबर के ऐतिहासिक भौतिकवाद को स्पष्ट करें।

3.6 सारांश (Summary)

- कार्ल मार्क्स को वैज्ञानिक समाजवाद का जनक माना जाता है। इन्होंने न केवल समाजवादी विचारधारा का प्रतिपादन किया अपितु सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने के वैज्ञानिक नियमों की खोज भी की।
- उत्पादन के आधार पर बदलने वाले समाज के इतिहास को मार्क्स ने पाँच युगों में बाँटा है, ये हैं–(*i*) आदिम साम्यवादी युग (*ii*) दास युग (*iii*) सामन्ती युग (*iv*) पूँजीवादी युग (*v*) साम्यवादी युग।
- मार्क्स के प्रमुख सिद्धांत हैं–(*i*) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (*ii*) इतिहास की आर्थिक या भौतिकवादी व्याख्या (*iii*) वर्ग संघर्ष का सिद्धांत (*iv*) अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत।

नोट

- वर्ग व्यक्तियों के उपसमूह को कहते हैं जो उत्पादन की किसी विशेष प्रक्रिया से संबंधित हों और जिनके कारण हित एक हों। इतिहास की आर्थिक व्याख्या पर बल देने के कारण मार्क्स इसका लक्षण आर्थिक तत्वों पर बल देते हुए करता है और कहता है कि जिस समूह के आर्थिक हित एक समान होते हैं उसको वर्ग कहते हैं, जैसे मिल मालिक, जमींदार, व्यापारी, किसान, मजदूर आदि।
- आज के पूँजीवादी युग में आजीविका कमाने के साधनों के आधार पर समाज को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–पूँजीपति या बुर्जुआ तथा श्रमजीवी या सर्वहारा।
- "राज्य वर्ग समाज की उपज है, उसका उदय वर्गों के उदय के साथ हुआ और वर्गों के अंत के साथ ही उसका लोप भी हो जाएगा, यह धीरे-धीरे मुरझा जायेगा।"

अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)

1. वैज्ञानिक भौतिकवाद से आप क्या समझते हैं?
2. वर्ग संघर्ष से आप क्या समझते हैं?
3. मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य सिद्धांत से क्या तात्पर्य है?
4. मार्क्स का राज्य सिद्धांत क्या है?

संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)

1. तुलनात्मक राजनीति–चन्द्रदेव प्रसाद, ऐटलांटिक।
2. तुलनात्मक राजनीति–प्रो. रामानन्द गैरोला।
3. तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीति विश्लेषण–डॉ. डी. एस. यादव।

नोट

इकाई–IV

राजनीतिक अभिजन
(Political Elite)

संरचना (Structure)

4.1 उद्देश्य (Objectives)

4.2 प्रस्तावना (Introduction)

4.3 अभिजन का अर्थ (Meaning of Elite)

4.4 अभिजन की विशेषताएँ (Characteristics of Elite)

4.5 अभिजन की धारणा और लोकतन्त्र (Concept of Elite and Democracy)

4.6 अभिजन : लक्ष्य, कार्य एवं पद्धतियाँ (Elite : Goal, Works and Systems)

4.7 सारांश (Summary)

- अभ्यास प्रश्न (Excercise Questions)
- संदर्भ ग्रंथ (Reference books)

4.1 उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- अभिजन का अर्थ जानने में।
- अभिजन की धारणा और लोकतंत्र एक–दूसरे के अनुकूल हैं या प्रतिकूल को समझने में।
- मार्क्स की धारणा अभिजन सिद्धांत के बारे में क्या है? यह जानने में।

4.2 प्रस्तावना (Introduction)

'अभिजन' (Elite) शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम 17वीं सदी में विशेष श्रेष्ठता वाली वस्तुओं का वर्णन करने के लिए किया गया और बाद में इस शब्द का प्रयोग **उच्च सामाजिक समुदायों** जैसे शक्तिशाली सैनिक इकाइयों और उच्च श्रेणी के सामन्त वर्ग के लिए किया जाने लगा। ऑक्सफोर्ड इंगलिश शब्दकोश में इस शब्द का प्रथम प्रयोग 1823 ई. में हुआ। लेकिन इस शब्द का ब्रिटेन और अमरीका में अधिक प्रयोग 1930 ई. के बाद ही किया गया, जबकि **विल्फ्रेड परेटो** द्वारा प्रतिपादित समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों में अभिजन के विचार का अधिक से अधिक प्रसार

हुआ। पैरेटो के बाद **मोस्का, मेरी कोलाबिन्सका, एच.डी. लासवेल, सी. राइट मिल्स, टी.बी. बोटोमोर, कार्ल मैनहीम** और **शुम्पीटर** आदि के द्वारा अभिजन की धारणा पर विचार व्यक्त किये गये।

4.3 अभिजन का अर्थ (Meaning of Elite)

अभिजन की धारणा विभिन्न व्यक्तियों की क्षमताओं में असमानता पर आधारित है और **पैरेटो** के अनुसार, **"वे व्यक्ति जो अपने कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत सबसे अधिक उच्च श्रेणी पर हैं, वे ही अभिजन हैं।** पैरेटो प्राकृतिक मानवीय असमानताओं के आधार पर मानव समाज को दो वर्गों में बाँटता है–(1) **अभिजन**, तथा (2) **अभिजनेतर**। अभिजन को उसने पुनः दो भागों में विभाजित किया है–(*i*) **शासक अभिजन** (Governing Elite) और (*ii*) **अशासक अभिजन** (Non-Governing Elite)। यह विभाजन उसने बुद्धि, संगीत आदि विषयों के प्रति अभिरुचि, चरित्र, सामाजिक एवं राजनीतिक प्रभाव की शक्ति आदि विषयों पर किया है। पैरेटो कट्टर अभिजनवादी (Elitist) था और वह अभिजन वर्ग का अस्तित्व सामाजिक सन्तुलन को बनाये रखने के लिए आवश्यक मानता था। पैरेटो के समस्त विचार का केन्द्र बिन्दु **'शासक अभिजन'** ही है।

मोस्का ने अभिजन तथा अभिजनेतर जनता के मध्य सुव्यवस्थित सम्बन्ध स्थापित करते हुए एक नवीन राजनीतिक धारणा के प्रतिपादन का प्रयत्न किया। उसने समाज के दो वर्ग बतायें–**शासक वर्ग** (Ruling Class) और **शासित वर्ग**। शासक वर्ग संख्या में कम, अपेक्षाकृत श्रेष्ठ, संगठित तथा अपने गुणों के कारण समाज द्वारा सम्मानित होता है। यह स्वयं अनेक सामाजिक समूहों से निर्मित होता है। उसने अपने शासक वर्ग को **'शासक अभिजन'** या **'राजनीतिक वर्ग'** कहा है। इसके अन्तर्गत वे व्यक्ति होते हैं जो राजनीतिक आदेश के पद को धारण करते हैं या जो प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक निर्णयों को प्रभावित करते हैं। इस विशिष्ट वर्ग की सदस्यता समय-समय पर बदलती रहती है। समाज के निम्न वर्गों से नवीन व्यक्ति इसमें सम्मिलित होते रहते हैं और कभी-कभी विद्यमान विशिष्ट वर्ग के स्थान पर क्रांति के माध्यम से पूर्णतया एक नवीन विशिष्ट वर्ग आ जाता है। मोस्का ने शासक वर्ग से अधिक व्यापक उपशासक वर्गों के साथ सम्बन्धों पर प्रकाश डाला है जिसमें नवीन मध्यम वर्ग के सभी सदस्य सरकारी कर्मचारी, वैज्ञानिक, अभियन्ता और बुद्धिजीवी आदि आ जाते हैं। इस दृष्टि से, **मोस्का की 'शासक अभिजन' की धारणा पैरेटो की तुलना में व्यापक लेकिन साथ ही कुछ अस्पष्ट भी है।**

अभिजन के सम्बन्ध में आगे जो अध्ययन किये गये, उनमें **एच. डी. लासवेल** का अध्ययन निश्चित रूप से बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। लासवेल, पैरेटो और मोस्का विशेष रूप से मोस्का का अनुगमन करता है। **लासवेल** लिखता है कि, **"एक राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत शक्ति को धारण करने वाला वर्ग ही राजनीतिक अभिजन होता है। शक्ति धारण करने वाले वर्ग में नेतृत्व करने वाला वर्ग तथा वह सामाजिक समुदाय आते हैं जिसमें से यह वर्ग आता है जिसके प्रति एक निर्दिष्ट समय में यह उत्तरदायी होता है।"**

इस प्रकार लासवेल ने राजनीतिक अभिजन को अन्य अभिजन वर्गों से अलग किया जो शक्ति के प्रयोग से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित नहीं हैं यद्यपि उनका पर्याप्त सामाजिक प्रभाव हो सकता है। राजनीतिक वर्ग (Political Class) राजनीतिक अभिजन (Political Elite) से अधिक व्यापक है, क्योंकि उसमें राजनीतिक अभिजन, राजनीतिक प्रति-अभिजन (Counter Elite), सामाजिक हितों, वर्गों या व्यापार समूहों के प्रतिनिधि, राजनीति में सक्रिय बुद्धिजीवी आदि भी शामिल होते हैं। ये सभी राजनीतिक सहयोग, प्रतिद्वन्द्विता या प्रतियोगिता में भाग लेते हैं। इनमें से राजनीतिक अभिजन वह समूह होता है जो एक विशेष समय पर शक्ति का वास्तविक रूप में प्रयोग करता है। इस वर्ग को पहचानना सरल होता है। यह वर्ग प्रायः उच्च प्रशासकीय अधिकारियों, सैनिक अधिकारियों, उच्च कुलीन परिवारों, प्रभावशाली राजनेताओं व उद्योगपतियों आदि से मिलकर बनता है।

अभिजन के अन्य प्रमुख लेखक **सी. राइट मिल्स** (C. Wright Mills) ने 'शासक-वर्ग' शब्द को उचित न मानकर उसके स्थान पर **'शक्ति अभिजन'** (Power Elite) शब्द का प्रयोग किया है। वह शक्ति शब्द में आर्थिक, राजनीतिक तथा सैनिक धारणाओं को मिलाकर 'शक्ति अभिजन' शब्द गढ़ता है। यह वर्ग सामाजिक दृष्टि से उच्च स्तरीय सामंजस्यपूर्ण, एकतायुक्त तथा लोक नियन्त्रण को अस्वीकार करने वाला होता है। वह लिखता है

कि "हम शक्ति की व्याख्या शक्ति के साधन रूप में कर सकते हैं। शक्ति अभिजन वे हैं जो आदेश देने वाले पदों को धारण करते हैं।"

अभिजन की धारणा का कुछ और विस्तार से प्रतिपादन **टी.बी. बॉटमोर** के द्वारा किया गया है। बॉटोमोर के अनुसार, अभिजन या शासक वर्ग की अवधारणा ऐतिहासिक परिस्थितियों में सामन्तवाद के अन्त तथा आधुनिक पूंजीवाद की प्रारम्भिक देन है। उस समय से ही वर्ग समाज की अधिकांश सम्पत्ति तथा राष्ट्रीय आय के बड़े भाग का प्राप्तकर्ता एवं स्वामी बन बैठा है। इन आर्थिक लाभों को बनाए रखने के लिए वह एक विशिष्ट संस्कृति तथा जीवन दर्शन के निर्माण में भी सफल हो गया है।

राजनीतिक अभिजन प्रबल राजनीतिक प्रभावयुक्त राजनेताओं की सामूहिकता का नाम है। ये किसी समुदाय के लघु अल्पसंख्यक होते हैं जो महत्त्वपूर्ण राजनीतिक पदों, प्रभावशाली सामाजिक वर्गों या प्रजातियों की सदस्यता, आर्थिक या सामाजिक समूह में अपनी समान शैक्षणिक पृष्ठभूमि आदि के आधार पर राजनीतिक क्षेत्रों में प्रबल प्रभाव रखते हैं। इनके पास बड़ी मात्रा में राजनीतिक साधन होते हैं जिनका प्रयोग वे वांछित राजनीतिक परिणामों को प्राप्त करने के लिए करते हैं। ये राजनीतिक साधन नेतृत्व, कौशल राजनीतिक पद और विशेष राजनीतिक सूचनाओं की प्राप्ति आदि के रूप में हो सकते हैं। सत्तारूढ़ राजनेताओं के पास औचित्यपूर्ण सत्ता, दण्ड एवं पुरस्कार, सम्मान, दल, मित्र, शक्तियाँ (Sanctions) आदि अनेक साधन होते हैं। वे राजनीतिक सामग्री जैसे धन और कर्मचारीगण आदि के माध्यम से स्वपक्ष में बहुमत को प्राप्त कर सकते हैं।

इस प्रकार अभिजन पर विचार करते हुए ये सभी विचारक **अभिजनों को एक ऐसा संगठित अल्पसंख्यक शासक वर्ग मानते हैं जो असंगठित प्रजा वर्ग पर अपनी प्रभुता शक्ति का प्रयोग करता है।** अभिजन की धारणा में एक प्रमुख विचार यह है कि अभिजन परिवर्तित होते रहते हैं।

एस. ई. फाइनर ने अभिजन से सम्बन्धित समस्त स्थिति को एक विभिन्न फांकों (Slices) वाले सन्तरे के आधार पर सुन्दर ढंग से समझाने का प्रयास किया है जो इस प्रकार है–

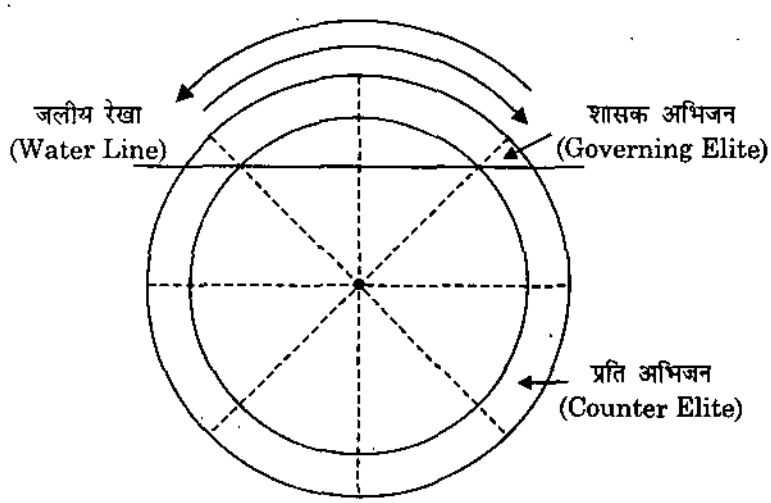

इस सन्तरे की चमड़ी या सतह (छिलका) समाज का अभिजन है और यह सन्तरा पानी में तैर रहा है। इसकी चमड़ी का जो भाग जलीय रेखा से ऊपर है, वह शासक अभिजन है। इस भाग के खण्ड समाज के उन समुदायों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो नेतृत्व की प्रतियोगिता में सफल रहे हैं और जिनके द्वारा सरकारी पद प्राप्त कर लिए गये हैं। सभी खण्ड जो जलीय सीमा के अन्दर हैं उन समुदायों का प्रतिनिधित्व करते हैं जो इस प्रतियोगिता में पराजित हुए हैं और जिनकी नीतियों के स्थान पर विजेता वर्ग की नीतियों को अपनाया गया है और छिलके का वह भाग जोकि इसे ढके हुए है, प्रति-अभिजन (Counter-Elite) अर्थात् वर्तमान अभिजन का विरोधी है और जो शासक अभिजन की पदच्युति के लिए प्रयत्नशील है।

नोट

एस. ई. फाइनर द्वारा की गयी इस व्यवस्था में **'अभिजन वर्ग में परिवर्तन'** (Circulation of Elites) का भाव निहित है। जिस प्रकार हवाओं आदि के कारण जल में सन्तरे की स्थिति परिवर्तित होती रहती है, उसी प्रकार सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप समाज के अन्तर्गत अभिजन में परिवर्तन होते रहते हैं।

राजनीतिक अभिजन का वर्गतन्त्रीय या कुलीनतन्त्रीय व्यवस्था से भेद–राजनीतिक अभिजन संगठित अल्पसंख्यक शासक वर्ग का नाम है और वर्गतन्त्रीय (Oligarchial) या कुलीनतन्त्रीय व्यवस्था में भी कुछ व्यक्तियों का शासन होता है, लेकिन राजनीतिक अभिजन की धारणा को कुलीनतन्त्र या वर्गतन्त्र के समान नहीं समझ लिया जाना चाहिए। इस तथ्य के बावजूद कि विशिष्ट वर्ग के शासन में कुछ मूलभूत कुलीनतन्त्र या वर्गवादी व्यवस्था के तत्व होते हैं, इनमें महत्त्वपूर्ण अन्तर है। निहित हितों की रक्षा और वृद्धि कुलीनतन्त्र या वर्गवादी व्यवस्था के समान ही अभिजन वर्ग के शासन का भी एक महत्त्वपूर्ण तत्व होता है, लेकिन इनमें भेद इस तथ्य में देखा जा सकता है कि अभिजन वर्ग के शासन में वह परम्परागत भव्यता या स्वयं को स्थायित्व प्रदान करने की प्रवृत्ति नहीं होती, जो कुलीनतन्त्र या वर्गतन्त्र के **सबसे प्रमुख तत्व हैं।**

राजनीतिक अभिजन में **'निरन्तर परिवर्तन'** (Circulation of Elites) होता रहता है और यही बात राजनीतिक अभिजन को कुलीनतन्त्र एवं वर्गतन्त्र से अलग कर देती है। कुलीनतन्त्र या वर्गतन्त्र अरस्तु की इस मान्यता पर आधारित है कि **"जन्म की घड़ी से ही कुछ लोग शासक होने के लिए और अन्य शासित होने के लिए निश्चित होते हैं।"** लेकिन अभिजन की धारणा का मूल विचार यह है कि अभिजन की स्थिति की योग्यता के आधार पर किसी के भी द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

4.4 अभिजन की विशेषताएँ (Characteristics of Elite)

अभिजन समाज का एक विशिष्ट वर्ग होता है जिसका कार्य आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में समाज को नेतृत्व प्रदान करना होता है। **मोस्का** ने अपनी रचना 'The Ruling Elite', **सी. राइट मिल्स** ने 'The Power Elite' और **टी.बी. बॉटोमोर'** ने 'Elite and Society' में अभिजन वर्ग का विशद् विवेचन प्रस्तुत किया है। इन रचनाओं के आधार पर अभिजन वर्ग की कुछ विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है, जो इस प्रकार है–

(1) अल्पसंख्यक उच्च वर्ग–समानता प्राणी मात्र की आकांक्षा, लेकिन असमानता प्रकृति का नियम है। समाज में कुछ व्यक्ति अधिक विद्या, बुद्धि, योग्यता और साधन-सम्पन्न होते हैं जबकि अधिकांश व्यक्ति अपेक्षाकृत अल्प मात्रा में ही इनके स्वामी होते हैं। किसी भी राज-व्यवस्था में सभी व्यक्तियों के समान महत्व की बात केवल शब्दों में ही हो सकती है व्यवस्था में नहीं। लोकतन्त्र में भी राज-व्यवस्था पर वास्तविक रूप में नियन्त्रण इस अल्पसंख्यक उच्च वर्ग का ही होता है और यही अभिजन है। अन्य किसी भी शासन व्यवस्था तथा लोकतन्त्र में अभिजन वर्ग की स्थिति में यही अन्तर होता है कि लोकतन्त्र में अभिजन वर्ग पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सामान्य जन का नियन्त्रण होता है और सामान्यजन के द्वारा अभिजन वर्ग में परिवर्तन किया जा सकता है, लेकिन अन्य शासन व्यवस्थाओं में अभिजन वर्ग पर सामान्य जनता का नियन्त्रण सम्भव नहीं हो पाता।

(2) विशिष्ट महत्त्व–सभी राज-व्यवस्थाओं में अभिजन वर्ग को विशिष्ट महत्व प्राप्त होता है। अभिजन वर्ग देश की राजनीतिक दिशा निश्चित करता है और यह भी निर्णय करता है कि किन उपायों को अपनाकर इस लक्ष्य को प्राप्त किया जाएगा। अभिजन वर्ग सत्ता के केन्द्र में स्थित होता है और सामान्य जनता भी चाहती है कि अभिजन वर्ग को यह विशिष्ट स्थिति प्राप्त रहे। सामान्य जनता भी सोचती है कि अभिजन वर्ग की यह विशिष्ट स्थिति उनके हितों की रक्षा और वृद्धि में सहायक होगी। इसके अतिरिक्त इससे उन्हें एक मनोवैज्ञानिक सन्तुष्टि भी प्राप्त होती है।

(3) विशिष्ट हित–अभिजन वर्ग का जीवन के प्रति सामान्यजन से पृथक् अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण होता है। सामान्यजन की तुलना में उनकी भौतिक और मानसिक आवश्यकताएँ अधिक होती हैं और यही उनके

विशिष्ट हितों को जन्म देती है। अभिजन वर्ग और सामान्य जनता के हितों में अन्तर तो होगा ही, लेकिन इन दोनों के हितों में ऐसा अन्तर नहीं होना चाहिए जिसे पाटा न जा सकता हो।

(4) अभिजन वर्ग में परिवर्तन–अभिजन वर्ग में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। आज जो अभिजन वर्ग हैं, उसका विरोध करने के लिए 'प्रति-अभिजन' (Counter-Elite) का जन्म होता है वह 'प्रति-अभिजन' स्वयं के लिए शासक अभिजन की स्थिति प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है और जब इसे सफलता प्राप्त होती है तो इससे अभिजन वर्ग में परिवर्तन हो जाता है। अभिजन वर्ग में परिवर्तन सभी शासन व्यवस्थाओं में होते हैं अन्तर केवल यह है कि लोकतन्त्र में चुनाव के रूप में अभिजन वर्ग में परिवर्तन का एक संवैधानिक मार्ग होता है लेकिन अन्य शासन व्यवस्थाओं में क्रान्ति और बल प्रयोग के आधार पर अभिजन में परिवर्तन होता है। भारत और अमरीका में 1977, 1980, 1989, 1991 तथा इसके बाद भी चुनाव के आधार पर अभिजन वर्ग में परिवर्तन हुए लेकिन 1978-79 में ईरान में अभिजन वर्ग में परिवर्तन के लिए क्रान्ति और बल प्रयोग के तरीके को अपनाया गया।

नोट

4.5 अभिजन की धारणा और लोकतन्त्र (Concept of Elite and Democracy)

अभिजन की धारणा और लोकतन्त्र एक-दूसरे के अनुकूल हैं अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण प्रचलित हैं। प्रथम विचार के अनुसार अभिजन की धारणा और लोकतन्त्र के विचार में विरोध है और यह विरोध दो रूपों में देखा जा सकता है–**प्रथम**, प्रजातान्त्रिक राजनीतिक विचार व्यक्तियों की मूलभूत समानता के सिद्धान्त में विश्वास करता है, लेकिन अभिजन वर्ग की अवधारणा व्यक्तियों की असमानता पर आधारित है। **द्वितीय**, प्रजातन्त्र बहुमत शासन के विचार पर आधारित है, लेकिन अभिजन वर्ग की धारणा में यह विचार निहित है कि शासक वर्ग अल्पसंख्यक समुदाय होता है। इन्हीं आधारों पर अभिजन वर्ग की धारणा के प्रारम्भिक प्रतिपादक कार्यालय और नीत्शे प्रजातन्त्र की धारणा के विरोधी थे और मोस्का भी प्रारम्भ में प्रजातन्त्र का समर्थक नहीं था, उसकी विचारधारा में तो आगे चलकर परिवर्तन हुआ। बॉटोमोर भी समानता का प्रबल समर्थक है और इसी आधार पर वह अभिजन वर्ग की धारणा को लोकतन्त्र के विरुद्ध मानता है।

द्वितीय धारणा के अनुसार, प्रजातन्त्र और अभिजन वर्ग की धारणा में परस्पर कोई विरोध नहीं है। वस्तुस्थिति भी यही है कि इसमें पारस्परिक विरोध उतना नहीं है जितना कि सतही तौर पर दिखाई देता है। प्रजातन्त्र को सिद्धान्त रूप में भले ही 'समस्त जनता का शासन' या 'बहुमत का शासन' कहा जाये, लेकिन व्यवहार में बहुमत वर्ग के द्वारा प्रभावदायक शासन सम्भव नहीं होता। राजनीतिक प्रजातन्त्र का महत्त्व केवल इस बात में होता है कि समाज के अन्तर्गत शक्ति के स्थान सिद्धान्त रूप में प्रत्येक के लिए खुले रहते हैं, शक्ति प्राप्त करने के लिए प्रतियोगिता होती रहती है और शक्ति के धारक निर्वाचकों के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

शुम्पीटर और **कार्ल मैनहीम** आदि के द्वारा प्रजातन्त्र की इसी धारणा को अपनाया गया है और अन्त में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि राजनीतिक प्रजातन्त्र का अभिजन वर्ग की धारणा के साथ कोई विरोध नहीं है। **कार्ल मैनहीम** लिखते हैं, **"वास्तविक नीति का निर्धारण अभिजनों के हाथ में होता है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि समाज लोकतान्त्रिक नहीं है।" मिचेल्स** भी राजनीतिक अभिजन और प्रजातन्त्र में परस्पर कोई विरोध नहीं देखता है। उसका कथन है कि लोकतन्त्र और सर्वाधिकारवाद में अन्तर बहुमत शासन और अल्पसंख्यक वर्ग के शासन के रूप में नहीं है। इनमें अन्तर यह है कि सर्वाधिकारवादी व्यवस्था में अल्पसंख्यक वर्ग निरंकुश रूप में शासन करता है, लेकिन लोकतन्त्र में बहुमत द्वारा इस शासक वर्ग को पदच्युत किया जा सकता है या बहुमत के हित में निर्णय लेने के लिए बाध्य किया जा सकता है। इस प्रकार अवसरों की समानता तथा खुली प्रतियोगिता के आधार पर ये विचारक अभिजन वर्ग का लोकतन्त्र के साथ तालमेल स्थापित करते हैं।

इसके अतिरिक्त यदि प्रजातन्त्र को एक राजनीतिक व्यवस्था से अधिक एक समाज व्यवस्था के रूप में समझा जाता है, तो भी इसका अभिजन की धारणा से कोई विरोध नहीं है। क्योंकि लोकतान्त्रिक समाज की जो मूल धारणा **'समानता'** है, उसकी व्याख्या **'अवसर की समानता'** के रूप में की जा सकती है।

नोट

बॉटोमोर के द्वारा अपनी समानतावादी विचारधारा के आधार पर लोकतन्त्र में अभिजन की धारणा का जो विरोध किया गया है वह एक बौद्धिक स्थिति मात्र ही है, व्यावहारिक धारणा नहीं। उनकी समानता की अवधारणा तो प्रजातन्त्र को असम्भव बना देगी। पूर्ण समानता की धारणा न तो व्यावहारिक है और न ही वांछनीय। **माण्टेस्क्यू** ने ठीक ही कहा है कि **"यदि असमानता से प्रजातन्त्र भ्रष्ट हो जाता है तो साथ ही अति समानता की भावना से भी वह नष्ट हो जाएगा।" सारटोरी** इस सम्बन्ध में ठीक ही लिखते हैं कि **"अति समानता का अर्थ है, नियन्त्रण, शासन और सत्ता का अभाव।"** लोकतन्त्र के अधिकारी विद्वान अधिकारी विद्वान **ब्राइस** ने भी निश्चयात्मक शब्दों में कहा है कि, **"सम्भवतः किसी भी प्रकार के शासन को महान नेताओं की इतनी अधिक आवश्यकता नहीं पड़ती, जितनी कि लोकतन्त्र को।"** वास्तव में, लोकतन्त्र को यदि सफलता प्राप्त करनी है तो उसे कार्य-कुशलता का परिचय देना होगा और लोकतन्त्र के लिए इसका परिचय देना उसी समय सम्भव है, जबकि लोकतन्त्र का अभिजन वर्ग के साथ समन्वय स्थापित किया जाए। अभिजन वर्ग एक शाश्वत तत्व है और उसकी प्रधानता को स्वीकार करते हुए लोकतन्त्र अपने आपको जीवित रख सकता है। 1971 ई. में जब ब्रिटिश चांसलर **लॉर्ड हेल्शाम** भारत आये, तब उन्होंने स्पष्टतया कहा था कि **"अभिजन की अवहेलना लोकतन्त्र के लिए एक वास्तविक संकट है।"** न केवल अभिजन वर्ग की धारणा के लिए लोकतन्त्र में स्थान है, वरन् लोकतन्त्र में अभिजन वर्ग की भूमिका महत्त्वपूर्ण है।

4.6 अभिजन : लक्ष्य, कार्य एवं पद्धतियाँ (Elite: Goal, Works and Systems)

सामान्यतया अभिजन वर्ग का उद्देश्य अधिकाधिक पुरस्कारों एवं लाभों को प्राप्त करना तथा बनाए रखना होता है। ये पुरस्कार भौतिक रूप से भूमि, धन, मकान आदि होते हैं और इनका अभौतिक रूप सम्मान और शक्ति आदि है। पुरस्कार व्यक्तियों को प्रेरित करते हैं तथा पद के सूचक होते हैं। आधुनिक युग में इनका स्वरूप आय, लोकप्रियता, शक्ति और सत्ता में देखने को मिलता है। ये इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए परिवर्तित किये जाने वाले शासकीय निर्णयों, नियमों और नीतियों पर प्रभाव प्राप्त करने का प्रयास करते हैं, किन्तु प्रभाव प्राप्त करने का प्रयास तथा प्रभाव प्राप्ति एवं उसका उपयोग अलग-अलग तथ्य हैं। प्रभाव प्राप्ति के लिए अनेक साधन होते हैं जैसे अपार धन, पारिवारिक प्रतिष्ठा, संचार साधनों पर नियन्त्रण, उच्च सार्वजनिक पद, व्यापक लोकप्रियता, एक अनुशासित एवं निष्ठावान सहायकों तथा अनुयायियों का समूह, गुप्त सूचना प्राप्ति तथा उनका विश्लेषण करने के लिए दूर-दूर स्थित सेवी वर्ग आदि। प्रभाव और शक्ति प्राप्त कराने वाले इन्हीं साधनों को **'राजनीतिक साधन'** (Political sources) कहा जाता है। इनके अलावा अन्य साधन भी अपनाये जा सकते हैं।

अभिजन वर्ग के उद्देश्यों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है–(1) सामूहिक हित की प्राप्ति, (2) स्वहित की साधना, तथा (3) अवचेतनात्मक अभिप्रेरणाएँ। शक्ति स्वयं अपने आप में एक मूल्य या लक्ष्य हो सकती है तथा अन्य मूल्यों को प्राप्त करने के लिए 'साधन स्वरूप' (Instrumental) भी जैसे शक्ति का प्रयोग यश, सुरक्षा, नेह और धन आदि प्राप्त करने के लिए किया जा सकता है तथा इसका प्रयोग शक्ति प्राप्त करने के लिए। वास्तव में अभिजन वर्ग के लक्ष्यों का पता लगाना आनुभविक शोध का विषय है और इस सम्बन्ध में राजविज्ञान में अभी बहुत कम कार्य ही हुआ है।

अभिजन वर्ग के कार्य उनके लक्ष्य और उद्देश्यों से सम्बद्ध होते हैं। उनके कार्यों का व्यवस्था के सन्तुलन तथा यथास्थिति और संधारण से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। **कार्ल मैनहीम** उनके दो प्रकार के कार्य संगठन एवं निर्देशन सम्बन्धी मानता है। पारसन्स ने उनके चार प्रकार के कार्य बताये हैं, यथा–

***(i)* लक्ष्य प्राप्ति विषयक**–ये कार्य राजनेताओं द्वारा नीतियों, विनिश्चयों आदि के निर्माण के रूप में किये जाते हैं।

***(ii)* अनुकूलन सम्बन्धी**–ये कार्य वाणिज्य, सैनिक, राजनयिक तथा वैज्ञानिक समूहों के शीर्षस्थ अभिजनों द्वारा किये जाते हैं।

***(iii)* एकीकरण सम्बन्धी**–ये कार्य धर्माधिकारियों, दार्शनिकों, शिक्षाशास्त्रियों तथा उच्च परिवारों द्वारा किये जाते हैं, तथा

(iv) प्रतिमान संचारण तथा तनाव प्रबन्धात्मक कार्य–उच्च कोटि के कलाकारों, लेखकों, फिल्म अभिनेताओं आदि के द्वारा किये जाते हैं। ये समस्त कार्य इस प्रकार किये जाते हैं कि अभिजन की समाज पर प्रधानता निरन्तर बनी रहे।

नोट

उक्त कार्यों को करने के साधनों एवं पद्धतियों का पता लगाना सरल नहीं होता, क्योंकि उनकी ब्यूह रचना सदैव एक रहस्य होती है। वे दुहाई तो लोकहित की देते हैं, लेकिन वास्तव में ध्यान अपने ही स्वार्थों का रखते हैं।

अभिजन के प्रकार–अभिजन में कोई एक वर्ग नहीं वरन् अनेक वर्ग हो सकते हैं और व्यवहार में होते हैं। कुछ विद्वानों के द्वारा इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये गये हैं–

पैरेटो ने समस्त समाज को अभिजन एवं अभिजनेतर में विभाजित किया तथा स्वयं अभिजन के दो प्रकार बताये–(*i*) शासक अभिजन तथा अशासक अभिजन। अशासक अभिजनों में वैज्ञानिक, बुद्धिजीवी और अभियन्ता आदि आते हैं।

मेरी कोलाबिन्सका ने फ्रांस में अभिजन वर्ग का अध्ययन करते हुए इसके चार वर्ग बताये हैं–धनी लोग, सामन्त वर्ग, सशस्त्र कुलीन वर्ग और धर्मोपदेशक।

सी. राइट मिल्स ने अमरीका में तीन प्रमुख अभिजन वर्ग बतलाये हैं– निगमों के प्रधान (The Corporation heads), राजनीतिक नेता और सैनिक प्रमुख (Military Chiefs)। मिल्स का विचार है कि ये तीनों इकाइयाँ एक ही विशिष्ट वर्ग का निर्माण करती हैं, क्योंकि ये तीनों समाज के उच्च वर्ग में से आते हैं।

टी.बी. बॉटोमोर ने अपनी रचना में अनेक अभिजन वर्गों का अस्तित्व स्वीकार किया है, किन्तु वह सबसे अधिक महत्त्व तीन को देता है, यथा–(*i*) बुद्धिजीवी, (*ii*) प्रबन्धक तथा (*iii*) नौकरशाह।

अन्तर्राष्ट्रीय ज्ञानकोष (1968) में ऐतिहासिक दृष्टि से अभिजन का वर्गीकरण किया गया है–(*i*) **शासक प्रजाति** (Ruling Caste)–इसका आधार प्राणिशास्त्रीय जनन क्रिया तथा धार्मिक रूढ़ियाँ होती हैं। (*ii*) **कुलीनतन्त्र** (Aristocracy)–रक्त, धन या जीवन की विशेष शैली की समानता के आधार पर यह सभी सामाजिक पदों पर एकाधिकार कर लेता है। प्रायः इसकी आय का साधन भू-स्वामित्व होता है। (*iii*) **शासक वर्ग** (Ruling Class)–समान संस्कृति एवं अन्तःक्रिया के आधार पर ये एक सामाजिक स्तर विशेष में भर्ती किये जाते हैं। इनका आधार सम्पत्ति, गुण आदि होता है। (*iv*) **ब्यूहिक अभिजन** (Strategic Elites)–ये विशेषीकृत एवं विभिन्नीकृत कार्यों को अपनी कुशलता, गुण आदि के आधार पर करते हैं। संख्या में कम होते हुए भी इनकी शक्ति व्यापक होती है। विभिन्नीकृत होते हुए भी इनमें धीरे-धीरे एकता का भाव विकसित हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर कहा जा सकता है कि राजनेता नौकरशाह, जीवन-धन्धों के स्वामी तथा प्रबन्धक, बुद्धिजीवी और उच्च सैनिक सत्ता–अभिजन वर्ग के प्रमुख प्रकार हैं। विशेष परिस्थितियों के आधार पर अन्य कुछ वर्ग भी इनमें प्रवेश कर लेते हैं। अभिजन के इन वर्गों में एक विशेष समय पर कौन अधिक प्रभावशाली होगा और कौन अपेक्षाकृत कम प्रभावशाली, यह परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

अभिजन वर्ग की इन विभिन्न इकाइयों के सम्बन्ध में **मोस्का और कार्ल मैनहीम** का विचार है कि केवल बुद्धिजीवी वर्ग ही समाज हित में कार्य करने की क्षमता रखता है, क्योंकि उसी के द्वारा समाज हित का पूर्ण और निरपेक्ष दृष्टिकोण अपनाया जा सकता है, किन्तु बुद्धिजीवी वर्ग की अपनी कुछ कमियाँ भी हैं। आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रश्नों पर बुद्धिजीवी वर्ग के व्यक्तियों के मत अलग-अलग होते हैं और यह स्थिति उनके प्रभाव को कम कर देती है। वस्तुस्थिति यह है कि वे जिस सामाजिक वर्ग से आते हैं, उसी वर्ग की सामाजिक और आर्थिक धारणा को अपना लेते हैं। व्यवहार के अन्तर्गत बुद्धिजीवी वर्ग को विशेषता से सम्बन्धित कार्य दे दिये जाते हैं और वे शासक विशिष्ट वर्ग की स्थिति को प्राप्त नहीं कर पाते।

अभिजन के सन्दर्भ में एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि क्या समाज के शासक एक सामाजिक वर्ग का निर्माण करते हैं? यह एक ही इकाई होता है या विभाजित इकाई होता है। **कार्ल जे. फ्रेडरिक** के द्वारा अभिजन को एक वर्ग के रूप में मानने के विचार की तीव्र आलोचना की गयी है। फ्रेडरिक का विचार यह है कि विशिष्ट वर्ग सम्बन्धी सभी धारणाओं (पैरेटो, मोस्का आदि) की एक सामान्य समस्या यह है कि उन्होंने इस मान्यता को अपना लिया है

नोट

कि शक्ति धारण करने वाले व्यक्ति एक 'ऐक्यपूर्ण समुदाय' (Cohesive group) का निर्माण करते हैं। **वस्तुस्थिति यह है कि ये वर्ग एक-दूसरे का विरोध करते और एक-दूसरे को सन्तुलित करते हैं।** सी. राइट मिल्स के द्वारा भी इसी धारणा को अपनाया गया है और **एन्थोनी सेम्पसन** भी लिखते हैं कि **"अभिजन कोई एक अवस्थापन नहीं, वरन् अनेक अवस्थापन** (Establishments) **के रूप में होते हैं जिनके बीच बहुत पतला सम्बन्ध होता है। अभिजन की इन विचित्र इकाइयों के बीच विरोध और सन्तुलन ही प्रजातन्त्र की रक्षा के श्रेष्ठ साधन हैं।"**

वस्तुस्थिति यह है कि अभिजन में अनेक इकाइयाँ होती हैं और उनमें सत्ता तथा सर्वाधिक प्रभावपूर्ण स्थिति को प्राप्त करने के लिए प्रतियोगिता होती रहती है, लेकिन कुछ बातों के सम्बन्ध में अभिजन वर्ग से सम्बन्धित सभी इकाइयों के हित एक ही प्रकार के होते हैं। उदाहरण के लिए, सभी इकाइयाँ विद्यमान व्यवस्था को बनाए रखना और स्थायित्व प्रदान करना चाहती हैं। जिस सीमा तक उनके हित एक ही हैं, उनके द्वारा परस्पर सहयोग किया जाता है और जिस सीमा तक ये परस्पर सहयोग करती हैं **केवल उस सीमा तक ही उन्हें 'ऐक्यपूर्ण समुदाय' कहा जा सकता है।**

छात्र क्रियाकलाप

1. अभिजन की धारणा और लोकतंत्र का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

2. अभिजन सिद्धांत में मार्क्सवादी विचारधारा के योगदान का संक्षिप्त विवरण दें।

4.7 सारांश (Summary)

- अभिजन शब्द का प्रयोग 17वीं सदी में विशेष श्रेष्ठता वाली वस्तुओं का वर्णन करने के लिए किया गया। बाद में इस शब्द का प्रयोग उच्च सामाजिक समुदायों जैसे शक्तिशाली सैनिक इकाइयों और उच्च श्रेणी के सामंत वर्ग के लिए किया जाने लगा।
- पैरेटो के अनुसार, "वे व्यक्ति जो अपने कार्यक्षेत्र के अंतर्गत सबसे अधिक उच्च श्रेणी पर हैं वे ही अभिजन हैं।"

- राजनीतिक अभिजन प्रबल राजनीतिक प्रभावयुक्त राजनेताओं की सामूहिकता का नाम है। ये किसी समुदाय के लघु अल्पसंख्यक होते हैं जो महत्त्वपूर्ण राजनीतिक पदों, प्रभावशाली सामाजिक वर्गों या प्रजातियों की सदस्यता, आर्थिक या सामाजिक समूह में अपनी समान शैक्षणिक पृष्ठभूमि आदि के आधार पर राजनीतिक क्षेत्रों में प्रबल प्रभाव रखते हैं।
- अभिजन वर्ग के उद्देश्यों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है–(*i*) सामूहिक हित की प्राप्ति (*ii*) स्वहित की साधना तथा (*iii*) अवचेतनात्मक अभिप्रेरणाएँ।

नोट

अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)

1. राजनीतिक अभिजन की अवधारणा को समझाइए।
2. अभिजन की विशेषताएँ क्या हैं?
3. अभिजन के लक्ष्य, कार्य क्या हैं?
4. अभिजन की धारणा और लोकतंत्र में क्या संबंध है?
5. अभिजन सिद्धांत की समाजवादी धारणा की व्याख्या करें।

संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)

1. तुलनात्मक राजनीति–चन्द्रदेव प्रसाद, ऐटलांटिक।
2. तुलनात्मक राजनीति–सी. वी. गेना, विकास पब्लिशिंग हाउस।
3. तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीति विश्लेषण–डॉ. डी. एस. यादव।

अध्याय–III

इकाई–I

राजनीतिक संस्कृति (Political Culture)

(Structure)

1.1 उद्देश्य (*Objectives*)

1.2 प्रस्तावना (Introduction)

1.3 राजनीतिक संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषाएँ (Meaning and Definitions of Political Culture)

1.4 राजनीतिक संस्कृति की प्रकृति एवं प्रमुख लक्षण (Nature and Main Characteristics of Political Culture)

1.5 राजनीतिक संस्कृति और संस्कृति (Culture and Political Culture)

1.6 राजनीतिक संस्कृति के आधार या निर्माणकारी तत्व (The Foundations or Determinants of Political Culture)

1.7 आमण्ड और पॉवेल की राजनीतिक संस्कृति की धारणा (Almond and Powell's Concept of Political Culture)

1.8 राजनीतिक संस्कृति के प्रकार (Kinds of Political Culture)

1.9 नागरिक समाज की संकल्पना (Concept of Civil Society)

1.10 नागरिक समाज की भूमिका (Role of Civil Society)

1.11 समकालीन परिदृश्य (Contemporary Scenario)

1.12 सारांश (Summary)

- अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)
- संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)

1.1 उद्देश्य (*Objectives*)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- राजनीतिक संस्कृति का अर्थ समझने में।
- राजनीतिक संस्कृति द्वारा राजनीतिक संस्थाओं के बाहरी ढाँचे की जानकारी प्राप्त करने हेतु।

- राजनीतिक संस्कृति का तुलनात्मक राजनीति में उपयोग को समझने में।
- राजनीतिक संस्कृति की आवश्यकताओं के बारे में जानकारी प्राप्त करने में।

1.2 प्रस्तावना (Introduction)

राजनीतिक संस्कृति के सन्दर्भ में अब तुलनात्मक राजनीति का सांगोपांग अध्ययन सम्भव हो गया है। विभिन्न देशों की राजनीतिक संस्कृति के सन्दर्भ में तुलनात्मक राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन करते हैं तो समष्टिवादी विश्लेषण और व्यष्टिवादी विश्लेषण को एक साथ मिलाना सम्भव होता है। इससे सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था एवं उसके निर्माणक तत्वों के व्यवहार एवं गत्यात्मकता का साथ-साथ अध्ययन किया जा सकता है। राजनीतिक संस्कृति के आर्थिक एवं सामाजिक तत्वों का अध्ययन करके हम राजनीतिक संस्थाओं के वस्तुपरक अध्ययन की ओर ही अपने चरण बढ़ाते हैं।

राजनीतिक संस्कृति द्वारा राजनीतिक संस्थाओं के बाहरी ढाँचे का अध्ययन सम्भव है। राजनीतिक व्यवस्थाओं की प्रक्रियाओं में परिवर्तित रूपों का भी अध्ययन किया जा सकता है। राजनीतिक संस्कृति राजनीतिक संस्थाओं में राजनीतिक घटनाओं और उन घटनाओं की प्रतिक्रिया-स्वरूप व्यक्तियों के व्यवहार के बीच एक कड़ी का कार्य करती है। राजनीतिक संस्कृति द्वारा राजनीतिक संस्थाओं की अन्त:क्रिया एवं राजनीतिक प्रक्रियाओं के अनौपचारिक रूपों को व्यक्त किया जाता है। इससे तुलनात्मक राजनीति की आधारशिला अधिक सुदृढ़ होगी और कतिपय नूतन तथ्यों का उद्‌घाटन होगा। इससे तुलनात्मक राजनीति परम्परावादी परिवेश से निकलकर आधुनिक परिवेश को धारण कर सकेगी।

राजनीतिक संस्कृति की अवधारणा **गेब्रियल आमण्ड** की उस उक्ति में ढूँढ़ी जा सकती है जहाँ उसने लिखा था कि, 'प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था राजनीतिक कार्यों के एक विशिष्ट ढाँचे से बंधी हुई होती है।' इसका अर्थ यह हुआ कि जो राजनीतिक व्यवस्था क्रियाशील है उसमें राजनीति का अपना एक व्यवस्थित 'सब्जेक्टिव क्षेत्र' होता है। यही क्षेत्र व्यवस्था को समर्थ बनाता है, संस्थाओं को अनुशासन देता है और व्यक्तिगत कार्यों को सामाजिक संगति प्रदान करता है।

'राजनीतिक संस्कृति' का सिद्धान्त इसलिए विकसित किया गया है कि यह उस बढ़ती हुई खाई को पाट सके जिसे व्यवहारवादी दृष्टिकोण ने गहरा बनाया था। राजनीतिक विश्लेषण की यह खाई जिसका एक धरातल व्यक्ति के राजनीतिक व्यवहार की मनोवैज्ञानिक व्याख्या और उसका 'माइक्रो विश्लेषण' था; अपने दूसरे धरातल पर राजनीतिक समाजशास्त्र का 'मैक्रो विश्लेषण' प्रस्तुत करती है। इस प्रकार राजनीतिक संस्कृति का प्रयास एक ऐसा प्रयास है जो कि मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र को जोड़ता है और वह भी इस उद्देश्य से कि इस व्यवस्था द्वारा विशाल समाजों के दृष्टिकोणों को हम इस प्रकार नाप सकें कि हमारे राजनीतिक विश्लेषण में आधुनिक मनोविज्ञान के क्रान्तिकारी निष्कर्ष और आधुनिक समाजशास्त्रीय तकनीकों के विकास का पूरा-पूरा लाभ मिल सके। राजनीति विज्ञान के अध्येताओं में राजनीतिक संस्कृति की यह अवधारणा एक ऐसे प्रयास का शुभारम्भ है जो कि राजनीतिक विचारधारा, वैधता, सम्प्रभुता, राष्ट्रीयता तथा कानून का शासन जैसे परम्परावादी विचारों के अध्ययन को व्यवहारवादी विश्लेषण के अनुरूप बनाता है।

1.3 राजनीतिक संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषाएँ (Meaning and Definitions of Political Culture)

राजनीतिक संस्कृति को विभिन्न विद्वानों के द्वारा अलग-अलग नामों से सम्बोधित किया गया है। **आमण्ड** इसे **'कार्य के प्रति अभिमुखीकरण'** (Orientation to Action), **बीयर 'राजनीतिक संस्कृति'** (Political Culture), **ईस्टन 'पर्यावरण'** (Environment) तथा **स्पिरो 'राजनीतिक शैली'** (Political Style) कहता है, लेकिन इन सबमें राजनीतिक संस्कृति शब्द ही सर्वाधिक उपयुक्त है। राजनीतिक संस्कृति एक समाजशास्त्रीय शब्द

है जिसमें अनेक अवधारणाएँ सम्मिलित हैं; जैसे, राजनीतिक विचारवाद, राष्ट्रीय लोकाचार (ethos) और भावना, राष्ट्रीय मनोविज्ञान तथा जनता के आधारभूत नैतिक मूल्य आदि। विशुद्ध आनुभविक दृष्टि से राजनीतिक संस्कृति का सर्वप्रथम प्रयोग **आमण्ड** और **पॉवेल** द्वारा विकासशील देशों के अध्ययन में किया गया। **आमण्ड** और **पॉवेल** के अनुसार, **"राजनीतिक संस्कृति किसी राज-व्यवस्था के सदस्यों में राजनीति के प्रति व्यक्तिगत अभिवृत्तियों और दिग्विन्यासों का नमूना है।" बाल** के शब्दों में, **"राजनीतिक संस्कृति उन अभिवृत्तियों, विश्वासों, भावनाओं और समाज के मूल्यों से मिलकर बनती है, जिनका सम्बन्ध राजनीतिक पद्धति और राजनीतिक प्रश्नों से होता है।" हींज युलाऊ** के मतानुसार, "राजनीतिक संस्कृति उन रूपों की ओर इशारा करती है जिनका पूर्व अनुमान समूहों के राजनीतिक व्यवहार से तथा एक समूह के सदस्यों के सामान्य विश्वासों, नियामक, सिद्धान्तों, उद्देश्यों एवं मूल्यों से लगाया जा सकता है चाहे उस समूह का आकार कुछ भी क्यों न हो।"

सिडनी वर्बा ने राजनीतिक संस्कृति के विभिन्न पहलुओं को ध्यान में रखते हुए इसकी व्यापक परिभाषा दी है। उसके अनुसार, "राजनीतिक संस्कृति में आनुभविक विश्वासों, अभिव्यक्तात्मक प्रतीकों और मूल्यों की वह व्यवस्था निहित है जो उस परिस्थिति अथवा दशा को परिभाषित करती है जिसमें राजनीतिक क्रिया सम्पन्न होती है।"

लुसियन पाई के द्वारा राजनीतिक संस्कृति की बहुत अधिक रोचक एवं विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। उनके अनुसार, राजनीतिक संस्कृति की अवधारणा बताती है कि किसी समाज की परम्पराएँ उसकी सार्वजनिक संस्थाओं की आत्मा, उनके नागरिकों की आकांक्षाएँ और उनका सामूहिक विवेक तथा उसके नेताओं के तरीके और सक्रिय होने के नियम आदि केवल ऐतिहासिक अनुभव की ऊटपटांग उपज नहीं हैं, वरन् ये सब एक अर्थपूर्ण सम्पूर्ण व्यवस्था के अंग हैं और सम्बन्धों का एक बोधगम्य तथा स्पष्ट तानाबाना उपस्थित करते हैं। राजनीतिक संस्कृति व्यक्ति के लिए प्रभावशील राजनीतिक व्यवहार की दिशा में मार्ग निर्देशन करती है और समाज के लिए उन मूल्यों तथा विवेकपूर्ण विचारों को व्यवस्थित रूप रचना प्रदान करती है जो कि संस्थाओं और संगठनों के कार्यकलापों में मेल या संगति बैठाते हैं।

पाई विषय को स्पष्ट करते हुए आगे लिखते हैं कि, एक राजनीतिक संस्कृति एक राजनीतिक व्यवस्था में सामूहिक इतिहास की भी उपज है और उन व्यक्तियों की जीवन गाथाओं की उपज है जिन्होंने हाल ही में इस व्यवस्था को बनाया है। इस प्रकार राजनीतिक संस्कृति की जड़ें सार्वजनिक घटनाओं और व्यक्तिगत अनुभवों में समान रूप से निहित हैं।

राजनीतिक संस्कृति को भलीभाँति समझने के लिए इसका **'राजनीतिक शैली'** (Political Style) अथवा **'कार्यात्मक नियम संग्रह'** (Operational Code) में अन्तर कर दिया जाना चाहिए। राजनीतिक शैली अथवा कार्यात्मक नियम संग्रह का केन्द्र-बिन्दु मात्र राजनीतिक उच्च वर्ग का व्यवहार होता है लेकिन राजनीतिक संस्कृति इसकी तुलना में बहुत व्यापक है, क्योंकि इसके अन्तर्गत राजनीतिक उच्च वर्ग और सामान्य जनता दोनों के ही राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। दूसरी ओर, राजनीतिक संस्कृति जनमत और राष्ट्रीय चरित्र जैसी धारणाओं से अधिक प्रतिबन्धित और अधिक स्पष्ट रूप से राजनीतिक है। जनमत और राष्ट्रीय चरित्र बहुत अधिक व्यापक शब्द हैं, जबकि राजनीतिक संस्कृति अपेक्षाकृत सीमित और निश्चित राजनीतिक अर्थ वाला शब्द है।

1.4 राजनीतिक संस्कृति की प्रकृति एवं प्रमुख लक्षण (Nature and Main Characteristics of Political Culture)

राजनीतिक संस्कृति सामान्य संस्कृति का एक अंग है और एक व्यक्ति अथवा सम्पूर्ण समाज के राजनीतिक व्यवस्था के प्रति जो आग्रह होते हैं, उन्हें ही सामूहिक रूप से राजनीतिक संस्कृति का नाम दिया जा सकता है। कुछ सीमा तक तो यह एक समाज की 'ऐतिहासिक विरासत' होती है और कुछ सीमा तक राजनीतिक दलों, दबाव समूहों तथा अन्य अनेक राजनीतिक तथा गैर-राजनीतिक तत्वों से प्रभावित होती है। राजनीतिक संस्कृति के कुछ प्रमुख लक्षणों का विवेचन निम्न प्रकार से किया जा सकता है:

(1) राजनीतिक संस्कृति एक अमूर्त नैतिक धारणा–राजनीतिक संस्कृति का मूल आधार व्यक्ति और समाज के राजनीतिक मूल्य एवं विश्वास होते हैं। ये मूल्य और विश्वास सामान्य नैतिक धारणाओं के अंग होते हैं और इन्हें अन्य भौतिक तत्व की भाँति कोई मूर्त स्वरूप प्राप्त नहीं होता है। इन्हें तो केवल समझा और अनुभव ही किया जा सकता है।

(2) राजनीतिक संस्कृति अनेक तत्वों का सामूहिक और समन्वित रूप–राजनीतिक संस्कृति, सामान्य संस्कृति का एक अंग है और सामान्य संस्कृति के ही समान अनेक तत्वों का सामूहिक एवं समन्वित रूप है। ऐतिहासिक विरासत, भौगोलिक परिस्थितियाँ, समाज की सामान्य संस्कृति, विचारधाराएँ, राजनीतिक व्यवस्था और इन सबके अतिरिक्त सामाजिक-आर्थिक संरचना आदि के द्वारा राजनीतिक संस्कृति के आधार के रूप में कार्य किया जाता है।

(3) राजनीतिक संस्कृति में गतिशीलता–राजनीतिक संस्कृति यदि एक ओर ऐतिहासिक विरासत और भौगोलिक परिस्थितियों से प्रभावित होती है तो दूसरी ओर सामाजिक-आर्थिक संरचना के द्वारा इसका नियमन किया जाता है। सामाजिक-आर्थिक संरचना और राजनीतिक संस्कृति के अन्य कुछ तत्व स्थिर नहीं, वरन् निरन्तर विकासशील होते हैं। इस दृष्टि से सभी राजनीतिक संस्कृतियाँ आवश्यक रूप से गतिशील होती हैं; इसमें से कुछ मन्द परिवर्तनशीलता और कुछ तीव्र परिवर्तनशीलता की स्थिति को अपनाती है।

1.5 राजनीतिक संस्कृति और संस्कृति (Culture and Political Culture)

सिडनी वर्बा ने लिखा है कि **"राजनीतिक संस्कृति और समाज की अपेक्षाकृत अधिक सामान्य सांस्कृतिक व्यवस्था के बीच अन्तर विश्लेषणात्मक है। राजनीतिक संस्कृति सामान्य संस्कृति का एक अभिन्न पहलू है।"** एक संस्कृति के आधारभूत विश्वास, मूल्य एवं आदर्श सामान्यतया राजनीतिक संस्कृति के निर्माण में प्रमुख भूमिका अदा करते हैं। एक व्यक्ति के राजनीतिक विश्वास उसके अन्य विश्वासों का ही अंग होते हैं और सामान्य संस्कृति के मूल्यों एवं विश्वासों से राजनीतिक संस्कृति अप्रभावित नहीं रह सकती। व्यक्ति के सांस्कृतिक व्यवहार की प्रवृत्तियाँ उसके राजनीतिक व्यवहार को प्रभावित करती हैं। उदाहरणार्थ, यदि किसी समाज के सामान्य सांस्कृतिक जीवन में नैतिक मूल्य गहरे पैठे हुए हैं, तो शासन एक सीमा के बाहर नैतिक मूल्यों की अवहेलना का साहस नहीं कर सकता और यदि वह ऐसा करता है तो तीव्र जन-विरोध के रूप में उसे इसका मूल्य चुकाना ही होगा। इसी प्रकार यदि व्यक्ति अपने राजनीतिक नेताओं पर विश्वास की भावना रखते हैं, तो उनके द्वारा अपने राजनीतिक नेताओं पर विश्वास किया जा सकेगा और शासन के ढाँचे के अन्तर्गत शासक वर्ग के व्यक्ति एक-दूसरे के प्रति विश्वास और सम्मान का आचरण करते हुए परस्पर सहयोग करेंगे। भारतीय और पाश्चात्य समाज के राजनीतिक व्यवहारों में अन्तर का प्रमुख कारण यह है कि दोनों समाजों की सांस्कृतिक संरचना, लक्ष्य, मान्यताएँ और आदर्श एक-दूसरे से बहुत अधिक भिन्न हैं।

राजनीतिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं के बारे में व्यक्ति, राजनीतिक समाजीकरण के आधार पर अपने विचार बनाता है। यह समाजीकरण बहुत कुछ समाज की सांस्कृतिक व्यवस्था के द्वारा प्रेरित या सीमित होता है। इसके और भी अभिकरण हैं किन्तु उनमें से प्रमुख का सम्बन्ध समाज की सामान्य संस्कृति से ही है। अतः राजनीतिक अवस्थाएँ, सामान्य संस्कृति में मान्य मूल्यों और आस्थाओं द्वारा ही प्रेरित और निर्मित होती हैं।

सामान्य संस्कृति और राजनीतिक संस्कृति की इस विवेचना से यह नहीं समझा जाना चाहिए कि सामान्य संस्कृति ही राजनीतिक संस्कृति को आधार, पोषण और रूप प्रदान करती है। वस्तुस्थिति यह है कि यदि एक ओर सामान्य संस्कृति राजनीतिक संस्कृति का नियमन करती है तो दूसरी ओर राजनीतिक संस्कृति भी सामान्य संस्कृति को प्रभावित करती है। कुछ परिस्थितियों में तो यह प्रभाव निर्णायक रूप में देखा गया है। उदाहरण के लिए, प्रजातान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्थाओं में इस राजनीतिक विश्वास का, कि राजनीतिक निर्णयों में व्यक्ति को भाग लेना चाहिए, प्रयोग गैर-राजनीतिक निर्णयों में व्यक्ति के भाग लेने के औचित्य के रूप में किया जाता है। जर्मनी और संयुक्त राज्य अमरीका में उनकी लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था के सन्दर्भ में ही घरों और स्कूलों में भी लोकतान्त्रिक प्रक्रिया को अपनाने का औचित्य ठहराया जाता है।

इसी प्रकार अनेक स्वेच्छाचारी और सर्वाधिकारवादी शासन व्यवस्थाओं में स्वतन्त्र रूप से राजनीतिक संस्कृति का सृजन करके उसे समाजों पर आरोपित कर दिया गया। इससे न केवल यह नवीन राजनीतिक संस्कृति व्यक्ति की मूल्य व्यवस्था बन गयी; अपितु इससे सम्पूर्ण समाज में मूल्य व्यवस्था और आस्थाओं को बदलने में प्रेरणा ली गयी, जिससे सामान्य संस्कृति का इस नवीन राजनीतिक संस्कृति के अनुरूप रूपान्तरण हो गया। हिटलर, मुसोलिनी, स्टालिन, माओ-त्से-तुंग आदि के द्वारा ऐसे ही प्रयत्न किये गये, जिसमें उन्हें कम या अधिक सीमा तक सफलता भी प्राप्त हुई। **केस्ट्रो** क्यूबा में शायद यही प्रयत्न कर रहे हैं। लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं में भी राजनीतिक संस्कृति के माध्यम से सामान्य संस्कृति को प्रभावित करने की चेष्टा की जा सकती है। उदाहरण के लिए, भारत में धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक संस्कृति को अपनाकर धर्म और जाति निरपेक्ष समाज स्थापित करने की चेष्टा की जा रही है।

इस प्रकार राजनीतिक संस्कृति और सामान्य संस्कृति में घनिष्ठ सम्बन्ध है और दोनों एक-दूसरे को कम या अधिक मात्रा में प्रभावित करती रहती हैं। सामान्य संस्कृति व्यापक अवधारणा है जबकि राजनीतिक संस्कृति अपेक्षाकृत सीमित अवधारणा है। प्रथम में व्यक्ति की सम्पूर्ण मूल्य व्यवस्था, आस्थाएँ और विश्वास सम्मिलित होते हैं, जबकि दूसरी में व्यक्ति के केवल राजनीतिक क्रिया से या राजनीतिक वस्तुओं से सम्बन्धित मूल्य, आस्थाएँ और विश्वास आते हैं। जिस प्रकार राजनीतिक व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था की एक विशेष उप-व्यवस्था है, ठीक उसी प्रकार राजनीतिक संस्कृति सामान्य संस्कृति की उप-संस्कृति है। इन दोनों में पारस्परिकता है किन्तु इस पारस्परिकता का कोई निश्चित प्रतिमान नहीं होता है और हमारे द्वारा इस पारस्परिकता के साथ-साथ इन दोनों की विश्लेषणात्मक पृथकता को भी दृष्टि में रखा जाना चाहिए। राजनीतिक संस्कृति और सामान्य संस्कृति परस्पर घनिष्ठ होते हुए भी पूर्णतया एकसमान नहीं हैं और अनेक परिस्थितियाँ ऐसी हो सकती हैं जिनमें राजनीतिक अन्तःक्रियाओं से सम्बन्धित मूल्यों और वैयक्तिक तथा आर्थिक या अन्य इसी प्रकार की अन्तःक्रियाओं से सम्बन्धित मूल्यों में असमानताएँ हों। **लुसियन पाई** और **सिडनी वर्बा** द्वारा सम्पादित ग्रन्थ 'Political Culture and Political Development' में जो विभिन्न निबन्ध संग्रहित हैं उनमें जापान, इटली, जर्मनी, भारत, इंग्लैण्ड, पूर्व सोवियत संघ, मिस्र आदि राष्ट्रों की राजनीतिक संस्कृतियों की विवेचना के आधार पर यह दर्शाया गया है कि इन राष्ट्रों में राजनीतिक क्षेत्र में आधुनिकता पर बल देने वाली 'विश्वास व्यवस्थाएँ' (Belief Systems) उन परम्परागत विश्वासों से बहुत भिन्न हैं जो जीवन के अन्य पहलुओं के साथ जुड़े हैं और यह स्थिति उन व्यक्तियों के लिए बहुत विषम तथा दबावपूर्ण है जो राजनीतिक संस्कृति तथा अधिक सामान्य संस्कृति दोनों क्षेत्रों में एकसमान ढंग से कार्य करने की आकांक्षा रखते हैं। निष्कर्ष रूप में हम यही कह सकते हैं कि राजनीतिक संस्कृति सामान्य संस्कृति का अभिन्न अंग होते हुए भी उससे बहुत कुछ स्वायत्तता रखती है।

1.6 राजनीतिक संस्कृति के आधार या निर्माणकारी तत्व (The Foundations or Determinants of Political Culture)

व्यवहार में राजनीतिक संस्कृति के जो विविध रूप देखे जाते हैं उनसे स्वाभाविक रूप में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ऐसे कौन-से आधार या तत्व हैं जिनसे राजनीतिक संस्कृति की प्रकृति का निर्धारण होता है। राजनीतिक संस्कृति के आधार अथवा निर्माणकारी तत्व अनेक हैं जिनमें से प्रमुख निम्न प्रकार हैं:

(i) ऐतिहासिक आधार—जिस प्रकार किसी भी राजनीतिक व्यवस्था के लिए अतीत से पूर्णतया नाता तोड़ लेना सम्भव नहीं होता उसी प्रकार राजनीतिक संस्कृति की प्रकृति को विशेष रंग प्रदान करने वाला प्रमुख आधार सम्बन्धित देश के राजनीतिक जीवन का अतीत कहा जा सकता है। **एलेन बाल** ने ब्रिटेन और फ्रांस के उदाहरण के आधार पर इस तथ्य का विशद् विवेचन किया। जहाँ ब्रिटेन में 'राजनीतिक सततता' (Political Continuity) की स्थिति रही और प्राचीन मूल्यों का आधुनिक प्रवृत्तियों से विलय हो गया है, वहाँ फ्रांस में राजनीतिक परिवर्तन क्रान्ति के आधार पर हुए हैं। इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के कारण ही 19वीं और 20वीं सदी में फ्रांस में अनेक संघर्ष हुए और इसने ही ब्रिटेन और फ्रांस में एक-दूसरे से भिन्न राजनीतिक संस्कृति को जन्म दिया है।

इसी प्रकार अफ्रीका और एशिया के कई नये राज्यों पर यूरोपियन औपनिवेशिक प्रभुत्व का प्रभाव एक महत्त्वपूर्ण तत्व है जो हमें इन राज्यों की राजनीतिक संस्कृति के कुछ पहलुओं के सम्बन्ध में ज्ञान प्रदान करता है।

नोट

(ii) भौगोलिक आधार–प्रत्येक राष्ट्र की भौगोलिक अवस्था एवं स्थिति भी राजनीतिक संस्कृति के निर्माण में अपना विशिष्ट योगदान देती है। भारत, अमरीका, रूस आदि राज्य अपने विशाल क्षेत्र और अत्यधिक जनसंख्या के कारण ऐसे विशालकाय हाथी हैं जो मन्थर गति से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते चले जाते हैं। छोटे-मोटे तूफान उनकी स्थिति को प्रभावित करते हैं, लेकिन पूर्णतया बदल नहीं पाते। दूसरी ओर कुछ अफ्रीकी राष्ट्र आकार में इतने छोटे होते हैं कि वहाँ हिंसा द्वारा सत्ता परिवर्तन एक सामान्य घटना है। ब्रिटेन एक द्वीप है और इस द्वीपीय अलगाव ने ही ब्रिटेन में अन्य यूरोपियन राज्यों से भिन्न राजनीतिक संस्कृति को जन्म दिया है।

(iii) समाज और सामान्य संस्कृति का आधार–राजनीतिक संस्कृति सामान्य संस्कृति का एक अंग है और सामान्य संस्कृति राजनीतिक संस्कृति के एक प्रमुख नियामक तत्व का कार्य करती है। सामान्य संस्कृति के अनुकूल राजनीतिक संस्कृति और व्यवस्था को अपनाने पर ही ठीक प्रकार का कार्य किया जा सकता है। अधिकांश विकासशील देशों में राजनीतिक गड़बड़ का प्रमुख कारण यही है कि उनमें सामान्य संस्कृति के विपरीत आधुनिक राजनीतिक संस्कृति ऊपर से लाद दी गयी जो समाज के द्वारा पोषण प्राप्त न कर पाने के कारण प्रभावी नहीं बन सकी है। इससे विकासशील राज्यों में राजनीतिक व्यवहार के निश्चित प्रतिमान विकसित नहीं हो पाये और राजनीतिक अस्थायित्व एवं अवैध तरीकों से सत्ता परिवर्तन का बोलबाला रहा। **रजनी कोठारी** ने अपनी पुस्तक **'भारत में राजनीति'** के अन्तर्गत भारत की राजनीतिक संस्कृति पर सामान्य संस्कृति के प्रभाव की विशद् विवेचना की है।

(iv) सामाजिक-आर्थिक संरचना का आधार–सामाजिक आर्थिक संरचना राजनीतिक संस्कृति का एक बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण आधार होती है। यदि किसी देश के सामाजिक जीवन में जाति, वंश, लिंग, वर्ण और धर्मगत भेदों की बहुत अधिक प्रबलता हो तो लोकतान्त्रिक राजनीतिक संस्कृति की प्राप्ति बहुत अधिक कठिन हो जाती है। इसी प्रकार अत्यधिक निर्धनता और भीषण आर्थिक असमानता भी लोकतान्त्रिक संस्कृति को पनपने नहीं देती। वस्तुतः सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से श्रेष्ठ समाज ही एक परिपक्व और विकसित राजनीतिक संस्कृति को जन्म देते हैं, जिसमें प्रजातान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था सफलता के साथ कार्य कर सकती है। विकासशील देशों की विडम्बना यही है कि वे विकसित राजनीतिक व्यवस्था और संस्कृति को अपनाने की चेष्टा कर रहे हैं, लेकिन उनकी सामाजिक-आर्थिक संरचना अभी भी बहुत अधिक सीमा तक मध्ययुगीन ही है।

(v) धार्मिक विश्वास–धार्मिक विश्वास का भी राजनीतिक संस्कृति पर प्रभाव देखा जा सकता है। विशेष रूप से उन राज्यों में जहाँ इस्लाम धर्म के अनुयायी बहुसंख्या में हैं, यह प्रभाव नितान्त स्पष्ट है; लेकिन अब यह प्रभाव क्रमशः कम होता जा रहा है।

(vi) विचारधाराओं का आधार–वर्तमान समय में विचारधारा, प्रमुखतया राजनीतिक विचारधारा राजनीतिक संस्कृति की एक नियामक शक्ति बन गयी है। नाजीवाद, फासीवाद ने भूतकाल में राजनीतिक संस्कृति को प्रभावित किया था और बाद में समाजवाद एवं साम्यवाद तथा आज अर्थव्यवस्था के भूमण्डलीकरण ने राजनीतिक संस्कृति को स्थापित किया है। गुट-निरपेक्षता के द्वारा भी कुछ राज्यों की राजनीतिक संस्कृति को प्रभावित किया जा रहा है।

इनके अतिरिक्त शिक्षा स्तर और नस्लीय सदस्यता आदि भी राजनीतिक संस्कृति के निर्माणकारी तत्व का कार्य करते हैं।

राजनीतिक संस्कृति के कुछ महत्त्वपूर्ण चिह्न भी हैं, यथा राष्ट्रीय ध्वज और राष्ट्रीयगान। ब्रिटेन और जापान जैसे देशों में राजतन्त्र को भी राजनीतिक संस्कृति और राष्ट्रीय गर्व का चिह्न समझा जाता है। कुछ राज्यों में लौकिक चिह्नों के स्थान पर धार्मिक चिह्नों को अधिक महत्त्व दिया जाता है, कुछ राज्यों की राजनीतिक संस्कृति में पौराणिक या कल्पित कथाओं का भी महत्त्व होता है।

1.7 आमण्ड और पॉवेल की राजनीतिक संस्कृति की धारणा (Almond and Powell's Concept of Political Culture)

व्यक्ति में राजनीतिक उद्देश्यों के प्रति जागरूकता और व्यक्तिगत कार्यों में उनके महत्त्व को समझना ही राजनीतिक संस्कृति है। **आमण्ड** और **पॉवेल** के अनुसार, राजनीतिक व्याख्या के प्रति व्यक्ति का एक दृष्टिकोण कुछ

तत्वों पर निर्भर करता है, जिन्हें व्यक्ति के सन्दर्भ में **'राजनीतिक संस्कृति के परिवर्त्य'** (Variables of Political Culture) कहा जा सकता है और ये निम्न हैं–

(i) ज्ञानात्मक अभिमुखीकरण (Cognitive Orientations)–ज्ञानात्मक अभिमुखीकरण व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत हितों के माध्यम से राजनीतिक संस्कृति में भाग लेने के लिए तैयार करने का काम करते हैं। इसका आशय यही है कि व्यक्ति राजनीतिक वस्तुओं, घटनाओं, क्रियाओं और विभिन्न राजनीतिक मुद्दों पर कितना और किस प्रकार का ज्ञान रखता है? यह ज्ञान सही या गलत भी हो सकता है। दोनों ही अवस्थाओं में यह ज्ञान व्यक्ति के राजनीतिक व्यवहार को नियमित करता है।

(ii) भावात्मक अभिमुखीकरण (Affective Orientations)–इसका सम्बन्ध व्यक्ति की उन भावनाओं से है जिनके कारण वह राजनीतिक गतिविधियों से लगाव या अलगाव, पसन्दगियाँ तथा नापसन्दगियाँ रखने लग जाता है। इसी के आधार पर वह राजनीतिक प्रक्रियाओं में सहभागी बनता या उनसे अलग रहता है।

(iii) मूल्यांकनात्मक अभिमुखीकरण (Evaluative Orientations)–इसके अंतर्गत व्यक्ति राजनीतिक संगठन, उसके कार्यों, लक्ष्यों और उपलब्धियों का मूल्यांकन करता है। यदि राजनीतिक संगठन और उसके कार्य उसकी मूल्यांकन की कसौटी पर खरे उतरते हैं तो संगठन के प्रति उसकी सक्रियता और लगाव बढ़ जाता है, अन्यथा इसमें गिरावट आ जाती है। इसमें कठिनाई यह है कि व्यक्ति को हर राजनीतिक गतिविधियों का अर्थ करना होता है। यह अर्थ मूल्यों के आधार पर होता है। और ये मूल्य स्वयं उसके हितों से ही निर्धारित हो सकते हैं। अतः कई बार व्यक्ति राजनीतिक क्रिया को अर्थ प्रदान करते समय मूल्यों से अधिक अपने हित का ध्यान रखने लग जाता है।

सिडनी वर्बा के द्वारा राजनीतिक संस्कृति के आयामों की जो विवेचना की गयी है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि श्रेष्ठ और विकसित राजनीतिक संस्कृति के लिए जरूरी है कि व्यक्ति राष्ट्र और अपने साथी नागरिकों के प्रति सहानुभूति का अनुभव करें, उनके मन और मस्तिष्क में सरकारी कार्यों और निर्णयों से लाभ प्राप्ति की अपेक्षाएँ हों और यह भाव हो कि सरकारी निर्णय में उनकी भी भूमिका है। सामान्यतया इस स्थिति को एक लोकतान्त्रिक लोक-कल्याणकारी राजनीतिक व्यवस्था द्वारा ही जन्म दिया जा सकता है।

1.8 राजनीतिक संस्कृति के प्रकार (Kinds of Political Culture)

अब तक हमारे द्वारा राजनीतिक संस्कृति की ऐसे रूप में विवेचना की गयी है, जैसे कि एक राजनीतिक व्यवस्था की समस्त जनसंख्या की एक ही राजनीतिक संस्कृति होती है। वस्तुतः राजनीतिक संस्कृति की सजातीयता की मात्रा आनुभविक खोज का ही विषय है। एक राजनीतिक व्यवस्था के सदस्यों में राजनीतिक उद्देश्यों के प्रति सामान्य सहमति हो सकती है अथवा उनमें शिक्षा के स्तर, रक्तवंशीय सदस्यता, भौगोलिक अधिवास, सामाजिक और आर्थिक प्रस्थिति एवं धार्मिक विश्वास के आधार पर भेद हो सकते हैं। जब राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत राजनीतिक दिग्विन्यासों का एक समूह ऐसी स्थिति ग्रहण कर लेता है कि उसे अन्य से अलग किया जा सकता है तो उसे **'राजनीतिक उप-संस्कृति'** (Political Sub-culture) कहा जाता है। राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत जब इस प्रकार की उप-संस्कृति प्रमुखता प्राप्त कर लेती है तो राजनीतिक व्यवस्था का एकीकरण संकट में पड़ जाता है। 19वीं सदी में दास-प्रथा के प्रश्न पर दक्षिण अमरीकी राज्यों द्वारा जो स्थिति ग्रहण की गई थी, वह इस प्रकार की उप-संस्कृति का ही परिणाम थी; लेकिन अब्राहम लिंकन के द्वारा धैर्य और साहस के साथ इस प्रकार की उप-संस्कृति को अमरीकी राजनीतिक संस्कृति की मुख्य धारा में विलीन कर दिया गया। वर्तमान समय में ब्रिटेन में उत्तरी आयरलैण्ड का मामला भी उप-संस्कृति का एक परिणाम है।

सत्ता एवं शक्ति के आधार पर दो प्रकार की संस्कृतियाँ हो सकती हैं–**अभिजनात्मक संस्कृति** (Elitist Culture) और **जन संस्कृति** (Mass Culture)। लूसियन पाई का विचार है कि सभी राजतन्त्रों अथवा शासनतन्त्रों में शासकों अथवा सत्ताधारियों की संस्कृति और जन-साधारण की संस्कृति में एक आधारभूत अन्तर पाया जाता है। जिन लोगों के हाथ में सत्ता होती है और जिन पर राजनीतिक निर्णय लेने का उत्तरदायित्व होता है, राजनीतिक विषयों पर उनका दृष्टिकोण उन व्यक्तियों के दृष्टिकोण से अनिवार्यतया भिन्न होता है जो राजनीतिक क्षेत्र में सामान्यतया कोई सक्रिय भूमिका अदा नहीं करते। **सिडनी वर्बा** द्वारा सम्पादित ग्रन्थ में जो भी निबन्ध

संकलित किये गये हैं, वे विभिन्न विशिष्ट वर्गों के समुदायों की राजनीतिक संस्कृति और जन-राजनीतिक संस्कृति के बीच विद्यमान महत्त्वपूर्ण अन्तरों को प्रकट करते हैं। इन दोनों के बीच में तीसरा स्तर मध्यम वर्ग का होता है, जिसके पर्याप्त प्रभावशाली होने पर दो उप-संस्कृतियों के मध्य सन्तुलन बना रहता है और उनमें हिंसात्मक संघर्ष की सम्भावनाएँ कम रहती हैं। अत: एक आदर्श स्थिति के अन्तर्गत मध्यम वर्ग की भूमिका बहुत प्रभावशाली होनी चाहिए और विशिष्ट वर्ग की संस्कृति तथा जन-संस्कृति में अन्तर कम-से-कम होना चाहिए।

गतिशीलता या परिवर्तनशीलता की दृष्टि से संस्कृतियाँ मन्द परिवर्तनवादी या स्थिरतावादी तथा क्रांतिकारी या प्रगतिशील हो सकती हैं।

सर्वांगसमता (Congruence) की दृष्टि से **वाइसमैन** ने राजनीतिक संस्कृतियों को तीन विशुद्ध तथा तीन मिश्रित रूपों में विभाजित किया है। राजनीतिक संस्कृति के तीन विशुद्ध रूप हैं–1. **संकुचित** (Parochial), 2. **प्रजाभावी** (Subject), और 3. **सहभागी** (Participant)। संकुचित राजनीतिक संस्कृति परम्परागत राजनीतिक ढाँचे के लिए, प्रजाभावी राजनीतिक संस्कृति केन्द्रीय सत्तावादी ढाँचे के लिए और सहभागी राजनीतिक संस्कृति प्रजातान्त्रिक राजनीतिक ढाँचे के लिए सर्वाधिक उपयुक्त होती है। उसके द्वारा राजनीतिक संस्कृति के तीन मिश्रित रूप भी बतलाये गये हैं जो इस प्रकार हैं–1. **संकुचित प्रजाभावी राजनीतिक संस्कृति** (Parochial Subject Political Culture); 2. **संस्कृति प्रजाभावी सहभागी राजनीतिक संस्कृति** (Subject Participant Culture); और 3. **संकुचित सहभागी राजनीतिक संस्कृति** (Parochial Participant Political Culture)। व्यवहार के अन्तर्गत इस प्रकार की मिश्रित राजनीतिक संस्कृतियाँ ही अधिक देखी जा सकती हैं।

प्रो. एस. ई. फाइनर ने राजनीतिक संस्कृतियों का अध्ययन और उनका वर्गीकरण राजनीति में सैनिक सत्ता की भूमिका की समस्या का अध्ययन करने के लिए किया है। उसने विभिन्न राजनीतिक संस्कृतियों को इन चार संवेगों में रखा है–1. **परिपक्व** (Mature); 2. **विकसित** (Developed); 3. **निम्न** (Low); और 4. **न्यूनतम स्तरीय** (Minimal)। इसके अतिरिक्त उसके द्वारा एक और वर्ग बताया गया है–**'पूर्व फ्रांसीसी क्रांति की राजनीतिक संस्कृति'**। फाइनर द्वारा प्रयुक्त ये शब्द स्पष्ट हैं और उसका विचार है कि परिपक्व राजनीतिक संस्कृति में सैनिक सत्ता की भूमिका बहुत कम होती है जो क्रमश: अन्य राजनीतिक संस्कृतियों में बढ़ती जाती है।

आमण्ड के अनुसार, राजनीतिक संस्कृति राजनीतिक व्यवस्था में जुड़ी हुई होती है, अत: राजनीतिक संस्कृतियों का विभाजन राजनीतिक व्यवस्थाओं की भूमिका के सन्दर्भ में किया जाना चाहिए। उसने चार संवेगों में राजनीतिक संस्कृतियों का विभाजन किया है जो इस प्रकार है–

(1) आंग्ल-अमरीकी राजनीतिक व्यवस्था (Anglo-American Political System)–आंग्ल-अमरीकी राजनीतिक व्यवस्थाओं में **'बहुमूल्यों वाली'** (Multi-valued) राजनीतिक संस्कृतियाँ मिलती हैं जिनमें जनसंख्या की एक बड़ी मात्रा व्यक्तिगत स्वतंत्रता, जनसाधारण के कल्याण की सुरक्षा आदि मूल्यों के किसी भी मात्रा के मिश्रण को प्राप्त करने में विश्वास करती है। इन राजनीतिक व्यवस्थाओं की संस्कृति इस सीमा तक सामंजस्यकारी है कि उनमें राजनीतिक ध्येयों और उनकी प्राप्ति आदि के साधनों के बारे में सामान्य सहमति है। **ब्रिटेन, अमरीका, स्कैण्डेनेवियन देशों और स्विट्जरलैण्ड** को इसी श्रेणी में रखा जा सकता है।

(2) महाद्वीपीय यूरोपीय राजनीतिक व्यवस्था (Continental European Political System)–यूरोप महाद्वीप के देशों–**फ्रांस, जर्मनी, इटली** आदि में राजनीतिक संस्कृति सामंजस्यकारी होने की अपेक्षा खण्डित है क्योंकि समाज के विभिन्न वर्गों ने सांस्कृतिक विकास के भिन्न-भिन्न नमूने स्थापित किये हैं। उनको राजनीतिक संस्कृति की बात कहने के बजाय यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि इन देशों में कई प्रकार की राजनीतिक उप-संस्कृतियाँ मिलती हैं। इन उप-संस्कृतियों के कारण ही इन देशों में समय-समय पर संघर्ष और हिंसा की स्थिति उत्पन्न होती रहती है।

(3) अपश्चिमी व आंशिक रूप से पूर्व-औद्योगिक राजनीतिक व्यवस्था (Non-Western or Partially Pre-industrial Political System)–अनेक पुराने उपनिवेशों तथा अविकसित या विकासशील देशों में परम्पराओं और आधुनिकता अथवा औद्योगिक विकास का विभिन्न मात्रा में मेल देखा जा सकता है। इन देशों की राजनीतिक व्यवस्था को मिश्रित कहा जा सकता है और इसमें से जिन देशों के द्वारा लोकतन्त्र को अपना लिया

गया है, वहाँ भी लोकतन्त्र के लिए उपयुक्त संस्कृति का विकास होना अभी शेष है। भारत और एशिया-अफ्रीका के तथाकथित प्रजातन्त्रों को **आमण्ड** इसी श्रेणी में रखना चाहते हैं।

(4) सर्वाधिकारवादी राजनीतिक व्यवस्था (Totalitarian Political System)–सर्वाधिकारवादी राज्यों में ऐच्छिक संघ नहीं बनाये जा सकते हैं। संचार साधनों पर सरकारी अभिकरणों का नियन्त्रण रहता है और शासन की सम्पूर्ण शक्ति ऐसे अधिकारी तन्त्र में रहती है, जिसे **'एक ही विचार वाला राजनीतिक दल'** (Monolithic Party) नियन्त्रित करता है। **"इन तत्वों के परिणामस्वरूप उनकी राजनीतिक संस्कृति देखने में सामंजस्यकारी है, किन्तु उनका सामंजस्य बनावटी है।"**

इन राजनीतिक व्यवस्थाओं में राजनीतिक संस्कृति में अन्तर इस रूप में देखा जा सकता है कि यदि न्यायालय के द्वारा शासन या शासक वर्ग के विरुद्ध किसी प्रकार का निर्णय दिया जाता है, तो बहुत अधिक सम्भावना इस बात की है कि आंग्ल-अमरीकी राजनीतिक व्यवस्था में उस निर्णय का सम्मान किया जाएगा जबकि दूसरी और प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था में उस निर्णय की अवहेलना करने और उसके महत्त्व को कम करने की विविध चेष्टाएँ की जा सकती हैं। राजनीतिक संस्कृति का अन्तर इस रूप में देखा जा सकता है कि द्वितीय और तृतीय वर्ग की राजनीतिक व्यवस्थाओं में शासक वर्ग अपनी इन चेष्टाओं में सफल हो जाता है; जबकि प्रथम वर्ग की राजनीतिक व्यवस्थाओं में इस प्रकार की चेष्टा की जाये, तो असफलता ही हाथ लगेगी। चौथे प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था में न्यायपालिका द्वारा शासन के विरुद्ध निर्णय देने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

आमण्ड के उक्त संरचनात्मक वर्गीकरण को अनेक राजनीतिक वैज्ञानिकों ने स्वीकार नहीं किया है। उनके अनुसार, इस वर्गीकरण में संस्कृति को राजनीतिक व्यवस्था की सेविका या दासी मान लिया गया है। वस्तुतः राजनीतिक संस्कृति को इतनी गौण स्थिति प्रदान नहीं की जानी चाहिए। राजनीतिक संस्कृति अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती है तथा राजनीतिक व्यवस्था को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सामान्यतया निर्णायक रूप से प्रभावित करती है।

राजनीतिक संस्कृति के सम्बन्ध में किये गए इन वर्गीकरणों में इस तथ्य को दृष्टि में रखा जाना चाहिए कि राजनीतिक संस्कृति स्थिर नहीं होती, वरन् उसका विकास होता रहता है। इस विकास में राजनीतिक व्यवस्था के भीतर से उत्पन्न विचार तथा बाहर से आने वाले विचार भी अपना योग देते हैं।

1.9 नागरिक समाज की संकल्पना (Concept of Civil Society)

राजनीति-चिंतन के इतिहास में 'नागरिक समाज' की संकल्पना बहुत पुरानी है। समय के साथ इस संकल्पना' में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आए हैं। लंबे समय तक 'नागरिक समाज' और 'राजनीतिक समाज' (Political Society) को समवर्ती माना जाता था। अतः यह शब्द राज्य (State) के पर्याय के रूप में भी प्रयुक्त होता रहा है। परंतु आज के समाज की जटिल परिस्थितियों में 'नागरिक समाज' के पृथक् अस्तित्व को मान्यता देना जरूरी समझा जाता है।

ऐतिहासिक विकास (Historical Development)

सबसे पहले प्राचीन रोमन विचारक **मार्क्स तुलियस सिसरो** (106-43 ई. पू.) ने पहली शताब्दी ई.पू. में 'राज्य' का संकेत देने के लिए 'राजनीतिक समाज' शब्द का प्रयोग किया था। परंतु सिसरो की दृष्टि मे यह केवल राज्य का बाह्य ढाँचा नहीं था बल्कि यह ऐसा समाज था जिसके सदस्य नागरिकों (Citizens) के रूप में मिल-जुलकर रहते हों, नागरिक कानूनों (Civil Laws) का पालन करते हुए सभ्य, सुसंस्कृत और शालीन जीवन बिताते हों। इस दृष्टि से, बर्बर जातियों के समुदाय नागरिक समाज की कोटि में नहीं आते थे।

सत्रहवीं शताब्दी के अंग्रेज विचारक जॉन लॉक (1632-1704) ने अपने **सामाजिक अनुबंध** (Social Contract) के सिद्धांत के अंतर्गत 'नागरिक समाज' को 'राजनीतिक समाज' का समवर्ती मानते हुए यह मान्यता रखी कि मनुष्य प्राकृतिक दशा (State of Nature) का त्याग करके नागरिक समाज में प्रवेश करते हैं। प्राकृतिक दशा में मनुष्य केवल अपनी अंतरात्मा की प्रेरणा से नैतिक नियमों का पालन करते हैं, परंतु जब कुछ समाज-विरोधी तत्व (Antisocial Elements) उनका जीना दूभर कर देते हैं, तब वे अपने प्राकृतिक अधिकारों (Natural Rights) की रक्षा के लिए सरकार (Government) स्थापित करते हैं; वे सरकार के बनाए कानून को मान्यता

देते हैं, और न्याय का कार्य भी सरकार को सौंप देते हैं। इस तरह **नागरिक समाज मानव-समुदाय में अनुशासन, व्यवस्था और सुरक्षा स्थापित करने का साधन है।**

अठारहवीं शताब्दी के फ्रांसीसी दार्शनिक **ज्यां ज्याक रूसो** (1712-78) ने भी नागरिक समाज को राजनीतिक समाज का समवर्ती मानते हुए इसकी संकल्पना ऐसे समाज के रूप में की जो **सामान्य इच्छा** (General Will) की अभिव्यक्ति है, जो मनुष्य को सुरक्षा प्रदान करता है और उसके कल्याण के लिए उसके व्यवहार को नियमित करता है। रूसो ने प्राकृतिक विषमता (Natural Inequality) और परंपरागत विषमता (Conventional Inequaliy) में अंतर करते हुए यह विचार रखा कि नागरिक समाज प्राकृतिक विषमता में तो कोई छेड़छाड़ नहीं करता परंतु वह सब नागरिकों को कानूनी समानता (Legal Equality) प्रदान करके उन्हें कानूनी अधिकार की दृष्टि से समान या समकक्ष बना देता है।

सामाजिक अनुबंध (Social Contract)

राज्य की उत्पत्ति का वह सिद्धांत जिसके अनुसार लोगों ने परस्पर सहमति से और परस्पर लाभ के ध्येय से राज्य का निर्माण किया है। राज्य की उत्पत्ति से पहले लोग जिस दशा में रहते थे, उसे प्राकृतिक दशा (State of Nature) की संज्ञा दी जाती है।

सामान्य इच्छा (General Will)

फ्रांसीसी दार्शनिक **ज्यां जाक रूसो** (1712-78) के अनुसार, किसी समुदाय के सदस्यों की वह इच्छा जो उनको विवेक (Reason) से प्रेरित होती है, और उन्हें सर्व-हित या सामान्य हित (Common Good) की सिद्धि की ओर प्रेरित करती है। यह ऐसी स्थिति है जब समुदाय के सब सदस्यों की इच्छा एकाकार हो जाती है। अत: यह इच्छा भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की उन भिन्न-भिन्न इच्छाओं से भिन्न है जो उनके तात्कालिक स्वार्थ, लोभ या मोह से प्रेरित होती हैं।

प्राकृतिक विषमता और परंपरागत विषमता
(Natural Inequality and Conventional Inequality)

रूसो के अनुसार, मनुष्य-मनुष्य में लिंग, आयु, स्वास्थ्य, सौंदर्य, बाहु-बल, बुद्धि-बल इत्यादि की भिन्नताएँ प्राकृतिक विषमता के रूप में व्यक्त होती हैं। इन्हें न तो मनुष्य ने स्वयं बनाया है, न वह इनमें कोई फेर-बदल कर सकता है। दूसरी ओर, मनुष्य-मनुष्य में धन-संपदा (Wealth), पद-प्रतिष्ठा (Prestige), और शक्ति (Power) की दृष्टि से जो भिन्नताएँ पाई जाती हैं, वे परंपरागत विषमता का संकेत देती हैं। ये विषमताएँ समाज-व्यवस्था की देन हैं। अत: समाज-व्यवस्था में आवश्यक परिवर्तन करके इनमें से तर्कशून्य विषमताओं को समाप्त किया जा सकता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के जर्मन दार्शनिक **जी.डब्ल्यू. एफ. हेगेल** (1770-1831) ने **नागरिक समाज और राज्य में अंतर** करते हुए यह मान्यता रखी कि नागरिक समाज 'विश्वजनीन स्वार्थवाद' (Universal Egoism) का क्षेत्र है जहाँ व्यक्ति अपने हितों की अधिकतम सिद्धि के लिए अन्य सब मनुष्यों के हितों को केवल अपने स्वार्थ की पूर्ति का साधन समझता है। अत: यह विशेष रूप से आर्थिक गतिविधियों का क्षेत्र है। उदाहरण के लिए, जब कोई मनुष्य व्यापार करता है तब उसका ध्येय दूसरों को आजीविका (Livelihood) प्रदान करना या दूसरों की सेवा करना नहीं होता बल्कि वह दूसरों की ज़रूरतें इसलिए जानने की कोशिश करता है ताकि वह उन्हें पूरा करके लाभ (Profit) अर्जित कर सके। इसके विपरीत, राज्य 'विश्वजनीन परार्थवाद' (Universal Altruism) का क्षेत्र है, जहाँ व्यक्ति अपने स्वार्थ से ऊपर उठकर संपूर्ण समुदाय के हित में त्याग करने को तत्पर होता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जर्मन दार्शनिक **कार्ल मार्क्स (1818-83)** ने नागरिक समाज के उन लक्षणों की पुष्टि की जिन्हें **हेगेल** ने पहचाना था। परंतु **मार्क्स** के अनुसार राज्य और नागरिक समाज में कोई अंतर नहीं है। मार्क्स ने तर्क दिया कि हेगेल ने जिस नागरिक समाज का विवरण दिया है, वह मध्ययुगीन समाज के विलय के बाद अस्तित्व में आया है। वही नागरिक समाज आधुनिक युग में राज्य के रूप में सक्रिय है। यह विश्वजनीन स्वार्थवाद पर आधारित है। इसमें व्यक्ति को नागरिक (Citizen) के रूप में मान्यता दी जाती है और कानून की

दृष्टि में सब व्यक्तियों की समानता भी स्वीकार की जाती है। फिर भी इसमें सारी आर्थिक शक्ति बुर्जुआ-वर्ग (Bourgeoisie) के हाथों में केंद्रित रहती है। अत: इसका सारा कानून केवल बुर्जुआ-वर्ग के हितों को बढ़ावा देता है।

बुर्जुआ-वर्ग (Bourgeoisie)

पूंजीवाद (Capitalism) के अंतर्गत, वह वर्ग जो सामाजिक उत्पादन के प्रमुख साधनों (भूमि, कल-कारखानों कच्चे माल के स्रोतों इत्यादि) पर अपना स्वामित्व और नियंत्रण स्थापित कर लेता है। अत: यह पूंजीपति वर्ग का पर्याय है।

आधार और अधिरचना (Base and Superstructure)

मार्क्सवादी शब्दावली में, भवन-निर्माण से मिलते-जुलते इस रूपक के अंतर्गत उत्पादन-प्रणाली या समाज की आर्थिक संरचना को आधार या नींव की संज्ञा दी जाती है। समाज के कानूनी और राजनीतिक ढाँचे तथा सामाजिक चेतना की विविध अभिव्यक्तियों–धर्म, नैतिक आदर्शों, सामाजिक प्रथाओं इत्यादि को अधिरचना या ऊपरी ढाँचे की श्रेणी में रखा जाता है। चिरसम्मत मार्क्सवाद (Classical Marxism) के अनुसार, सामाजिक विकास के दौरान उत्पादन प्रणाली में जो परिवर्तन होते हैं, उनके परिणामस्वरूप अधिरचना के सब हिस्सों में उनके अनुरूप परिवर्तन अपने-आप हो जाते हैं।

ग्राम्शी के अनुसार पूंजीवादी समाज का विश्लेषण
(Gramsci's Analysis of Capitalist Society)

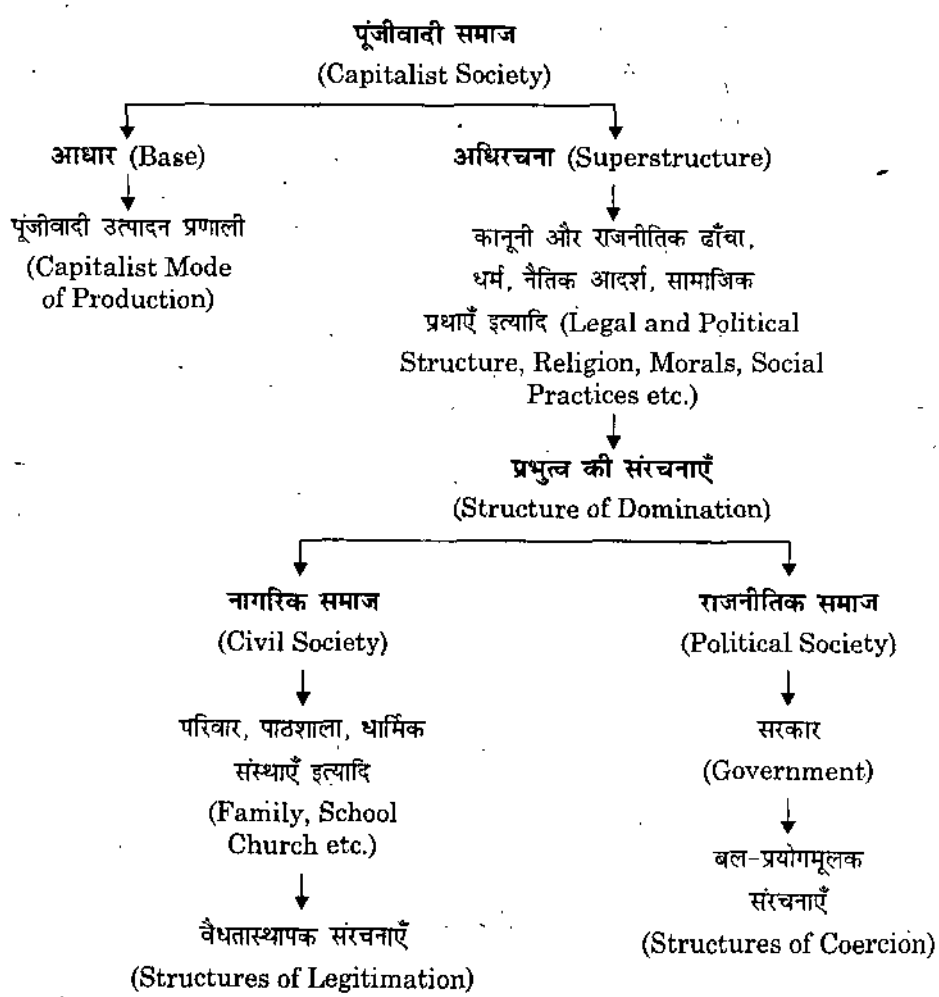

नोट

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में इतालवी मार्क्सवाद एंटोनियो ग्राम्शी (1891–1973) ने **मार्क्सवादी विश्लेषण** (Marxian Analysis) में एक नया आयाम जोड़ दिया। परंपरागत मार्क्सवाद के अंतर्गत समाज की आर्थिक संरचना या उत्पादन प्रणाली को इसकी 'नींव' या 'आधार' (Base) माना जाता था; इसके राजनीतिक और वैचारिक ढाँचे को 'ऊपरी ढाँचा' या 'अधिरचना (Superstructure)' कहा जाता था। **ग्राम्शी** ने इस मान्यता में संशोधन करते हुए **पूंजीवादी समाज** (Capitalist Society) **कि अधिरचना के दो स्तरों में अंतर किया:** (क) इनमें एक स्तर **'नागरिक समाज'** है जो 'आधार' के निकट है। इसमें परिवार, पाठशाला और धार्मिक संस्थाएँ आती हैं जो पूँजीवादी समाज की **वैधतास्थापक संरचनाएँ** (Structures of Legitimation) हैं; (ख) दूसरा स्तर **'राजनीतिक समाज'** है जिसमें राज्य की **बल-प्रयोगमूलक संरचनाएँ** (Structures of Coercion) आती हैं। ये दोनों तरह की संरचनाएँ मिलकर पूंजीवादी संस्कृति में **प्रभुत्व की संरचनाओं** (Structure of Domination) का निर्माण करती हैं। **ग्राम्शी** ने नागरिक समाज की भूमिका को विशेष महत्त्व दिया है क्योंकि इसकी संस्थाएँ नागरिकों को समाज में व्यवहार के नियमों से परिचित कराती हैं और उन्हें यह शिक्षा देती हैं कि शासक वर्गों के प्रति स्वाभाविक सम्मान का भाव रखना चाहिए। बुर्जुआ समाज अपनी स्थिरता के लिए नागरिक समाज की संरचनाओं की कार्यकुशलता पर आश्रित है। यदि कहीं नागरिक समाज असहमति (Dissent) की रोकथाम में विफल हो जाता है तो वहाँ इसके दमन के लिए बल-प्रयोग की ज़रूरत पैदा हो जाती है।

1.10 नागरिक समाज की भूमिका (Role of Civil Society)

स्कॉटिश समाज-दार्शनिक **एडम फ़र्गुसन** (1723–1816) ने 'एस्से ऑन हिस्ट्री ऑफ़ सिविल सोसायटी' (नागरिक समाज के इतिहास पर एक निबंध) (1767) के अंतर्गत लिखा था कि 'नागरिक समाज' आधुनिक पश्चिमी सभ्यता की देन है। यह ऐसी व्यवस्था थी जिसमें भिन्न-भिन्न व्यक्ति उत्पादन (Production) और व्यापार (Trade) के प्रति समर्पित होते हैं। प्राच्य निरंकुशतंत्र (Oriental Despotism) (अर्थात् प्राचीन एशियाई समाजों में प्रचलित प्रणाली) या बर्बर समाजों (Barbaric Societies) (अर्थात् प्राचीन यूरोप के असभ्य समाजों) में इसकी कोई गुंजाइश नहीं थी। **फर्गुसन** ने 'नागरिक समाज' की परिभाषा 'व्यक्तिवाद पर आधारित बाज़ार समाज' (Individualist Market Society) के रूप में दी है।

फ्रांसीसी दार्शनिक **अलेक्सी द ताकवील** (1805–59) ने अपनी विख्यात कृति 'डेमोक्रेसी इन अमेरिका' (अमरीकी लोकतंत्र) (1835) के अंतर्गत नागरिक समाज के विचारक्षेत्र का विस्तार करते हुए उसे एक नया आयाम दे दिया। **ताकवील** ने व्यति की स्वतंत्रता (Liberty) की रक्षा के लिए व्यक्ति और राज्य के बीच 'मध्यवर्ती स्वैच्छिक साहचर्यों' (Intermediate Voluntary Associations) की आवश्यकता पर बल दिया जिन्हें आज के युग में 'नागरिक समाज' का अंग माना जाता है। **ताकवील** ने तर्क दिया कि अभिजाततंत्र (Aristocracy) के अंतर्गत शक्ति के फैलाव (Diffusion of Power) की जो व्यवस्था प्रचलित थी, वह लोकतंत्र के आगमन से छिन्न-भिन्न हो गई थी। अभिजाततंत्र के अंतर्गत शक्ति के तीन मुख्य केंद्र थे: पुरोहितवर्ग (Clergy) और 'कुलीनवर्ग' (Nobility) तो स्वयं शक्ति से संपन्न थे; फिर, जनसाधारण (Commoners) भी अपनी विशाल संख्या के बल पर अपनी बात कहने की क्षमता रखते थे। परंतु लोकतंत्र के अंतर्गत सारी शक्ति बहुमत के हाथों में केंद्रित होती जा रही थी। इससे व्यक्ति की स्वतंत्रता को खतरा पैदा हो गया था। ताकवील को आशा थी कि 'मध्यवर्ती स्वैच्छिक साहचर्य' लोकतंत्र में शक्ति के फैलाव को फिर से स्थापित करने के सर्वोत्तम साधन सिद्ध होंगे।

अभिजाततंत्र (Aristocracy)

वह शासन प्रणाली जिसमें सार्वजनिक निर्णय की शक्ति समाज के उच्च वर्गों के हाथों में रहती है। मध्ययुगीन यूरोप में मुख्यत: यही प्रणाली प्रचलित थी। इस प्रणाली के अंतर्गत समाज मुख्यत: तीन वर्गों में बँटा था: पुरोहितवर्ग (Clergy) और कुलीनवर्ग (Nobility) शक्तिशाली वर्ग थे; जनसाधारण (Commoners) शक्तिहीन थे, परंतु अपनी विशाल संख्या के बल पर वे अपनी आवाज़ उच्च स्तर तक पहुँचाने की क्षमता रखते थे।

नोट

ताकवील ने तर्क दिया कि मध्यवर्ती स्वैच्छिक साहचर्य राज्य की शक्ति को प्रतिसंतुति करने में सर्वथा समर्थ होंगे। ये ऐसे मत (Opinion) को मुखरित करेंगे जिसकी ओर अन्यथा कोई ध्यान नहीं दिया जाता। ये साहचर्य व्यक्तियों को उनके विस्तृत सामाजिक उत्तरदायित्वों (Social Responsibilities) के प्रति सजग बनाकर उनके सामाजिक अकेलेपन (Social Isolation) को तोड़ देंगे और उन्हें परस्पर सहयोग पर आश्रित लक्ष्यों की सिद्धि की ओर प्रेरित करेंगे। **ताकवील** ने नागरिक साहचर्यों को 'लोकतंत्र की पाठशालाएँ' (Schools of Democracy) बताया। उसकी दृष्टि में राजनीतिक दल (Political Parties) सबसे महत्त्वपूर्ण स्वैच्छिक साहचर्य थे, और समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता (Freedom of the Press) व्यक्तियों के साहचर्य की सबसे ज़रूरी शर्त थी।

आधुनिक युग में 'नागरिक समाज' की परिभाषा और भी विस्तृत हो गई है क्योंकि अब स्वैच्छिक साहचर्यों का कार्यक्षेत्र बहुत बढ़ गया है। अब केवल हित समूह (Interest Groups) और राजनीतिक दल ही नागरिक समाज के विचारक्षेत्र में नहीं आते बल्कि नागरिकों के नाना प्रकार के साहचर्य इसका निर्माण करते हैं। अब व्यक्ति (या परिवार) और राज्य के बीच जितनी भी तरह के संगठन पाए जाते हैं, वे सब नागरिक समाज के अंग माने जाते हैं। **डेविड हैल्ड** (मॉडल्स ऑफ़ डेमोक्रेसी) (लोकतंत्र के प्रतिरूप) (1987) के अनुसार, व्यक्तियों के जो भी साहचर्य आर्थिक लेन-देन सांस्कृतिक गतिविधियों या राजनीतिक विचार-विमर्श से सरोकार रखते हैं, या उनके जो भी समूह राज्य के प्रत्यक्ष नियंत्रण से बाहर रहकर तरह-तरह के कार्य करते हैं, वे सब नागरिक समाज की परिधि में आ जाते हैं।

हित समूह (Interest Groups)

ऐसे समूह जो अपने सदस्यों के किसी समान हित (Common Interest) को ध्यान में रखकर संगठित किए जाते हैं, और उस हित की सिद्धि के लिए वे नियमित रूप से या समय-समय पर सार्वजनिक नीति को प्रभावित करने को तैयार रहते हैं। आधुनिक समाज में कामगारों (Workers), उद्यमियों (Entrepreneurs), व्यवसायियों (Professionals), व्यापारियों (Traders), उपभोक्ताओं (Consumers) इत्यादि के बहुत सारे हित समूह पाए जाते हैं।

जीन एल. कोहेन और **एंड्रयू एरेटो** की चर्चित कृति 'सिविल सोसायटी एंड पोलिटिकल थ्योरी' (नागरिक समाज और राजनीति-सिद्धांत) (1992) के अनुसार, नागरिक समाज सार्वजनिक गतिविधि (Public Activity) का ऐसा क्षेत्र है जो राज्य और बाज़ार समाज (Market Society) दोनों से भिन्न है। इस क्षेत्र में तरह-तरह के समूह और साहचर्य आ जाते हैं। इसमें व्यक्तियों की सहभागिता (Participation) और उनके संवाद (Communication) से जुड़ी गतिविधियों की पर्याप्त गुंजाइश रहती है। नागरिक समाज का कार्यक्षेत्र स्वस्थ लोकतंत्रीय समाज का आवश्यक अंग है। **कोहेन** और **एरेटो** ने तर्क दिया है कि नागरिक समाज प्रतिनिधि लोकतंत्र से जुड़ी राजनीतिक संस्थाओं की आवश्यकता को समाप्त नहीं कर देता बल्कि उनके पूरक संगठन की भूमिका निभाता है।

फिर, अमरीकी, समाजवैज्ञानिक **रॉबर्ट पुट्नैम** ने लैरी डायमंड और मार्क एफ प्लैटर की संपादित कृति 'द ग्लोबल रिसर्जेंस ऑफ़ डेमोक्रेसी' (लोकतंत्र का विश्वजनीन पुनरुत्थान) (1998) के अंतर्गत अपने एक लेख में यह तर्क दिया है कि नागरिक समाज से जुड़े साहचर्य सामाजिक पूंजी (Social Capital) का सृजन करते हैं। यह ऐसी सामाजिक प्रथाओं (Social Practices) का समुच्चय है जो व्यक्तियों को नागरिक जीवन से जुड़े कर्तव्यों का बोध कराती हैं और परस्पर आदान-प्रदान की शिक्षा देती हैं। पुट्नैम ने इस बात पर खेद प्रकट किया है कि आज के अमरीकी समाज में नागरिक जीवन से जुड़े साहचर्य नागरिक गतिविधियों में उतने सक्रिय नहीं रहे हैं जिससे अमरीकी लोकतंत्र का ह्रास हुआ है।

इधर ब्रिटिश लेखक **पॉल हर्स्ट** ने अपनी चर्चित कृति 'एसोसिएटिव डेमोक्रेसी : **न्यू फ़ार्म्स ऑफ़** इकॉनॉमिक एंड सोशल गवर्नेंस (साहचर्यमूलक लोकतंत्र : आर्थिक और सामाजिक व्यवस्थापन की नई विधाएँ) (1994) के अंतर्गत यह तर्क दिया है कि स्वैच्छिक साहचर्य लोकतंत्र के आधारस्तभों की भूमिका निभा सकते हैं। उसने लोकतंत्र का ऐसा प्रतिरूप प्रस्तुत किया है जिसमें स्वशासी साहचर्य (Self-Governing Associations) सारे सार्वजनिक कृत्य संपन्न करेंगे। इससे राज्य का कार्यभार कम हो जाएगा। वैसे ये साहचर्य सरकार की आवश्यकता

को समाप्त नहीं कर देंगे बल्कि उसकी पूरक भूमिका निभाएँगे। जब नागरिक समाज के ये अंग सारे सार्वजनिक कृत्य सँभाल लेंगे तब सरकार का मुख्य कार्य इन साहचर्यों की देखरेख करना और उनमें तालमेल स्थापित करना रह जाएगा।

इस तरह समकालीन लोकतंत्रीय चिंतन में नागरिक समाज को ऐसा साधन माना जाता है जो सार्वजनिक जीवन में नागरिकों की साहभागिता को बढ़ावा देगा; उन्हें नागरिक सद्गुण (Civic Virtue) और जन-सेवा (Public Spiritedness) का पाठ पढ़ाएगा। यह व्यवस्था सार्वजनिक शक्ति पर एक ही दल का एकाधिकार स्थापित नहीं होने देगी जैसा कि साम्यवादी प्रणालियों (Communist Systems) में देखा जाता है।

नोट

इस दृष्टिकोण के **आलोचक** यह तर्क देते हैं कि यदि सारी शक्ति स्वैच्छिक साहचर्यों के हाथों में आ जाएगी तो इनके भीतर गुटतंत्रीय प्रवृत्तियाँ (Oligarchical Tendencies) पैदा हो सकती हैं। दूसरे शब्दों में, अधिक संगठित, मुखर और शक्तिशाली साहचर्य अपने सदस्यों के हितों को बढ़ावा देने के लिए अन्य साहचर्यों के हितों को पीछे धकेल सकते हैं। इससे लोकतंत्र की जड़ें कमजोर हो जाएँगी। इन प्रवृत्तियों को रोकने के लिए यह जरूरी है कि राज्य तटस्थ दर्शक की भूमिका न निभाए बल्कि जन-हित या लोक-हित (Public Interest) के व्याख्याकार और संरक्षक के नाते विभिन्न स्वैच्छिक साहचर्यों की शक्ति में संतुलन स्थापित करने के लिए निरंतर सजग रहे।

1.11 समकालीन परिदृश्य (Contemporary Scenario)

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में नवमार्क्सवादी दार्शनिक **हर्बर्ट मार्क्यूज़े** (1898-1979) ने यह तर्क दिया है कि समकालीन समाज की समस्याओं के विश्लेषण के लिए **राज्य और नागरिक समाज** में उस अंतर को समझना जरूरी है जिसकी ओर **हेगेल** ने हमारा ध्यान खींचा था। **मार्क्यूज़े** के विश्लेषण के अनुसार, आधुनिक पूंजीवाद (Modern Capitalism) के अंतर्गत 'राज्य' पर 'नागरिक समाज' का प्रभुत्व (Domination) स्थापित हो जाता है। दूसरी ओर, आधुनिक साम्यवाद (Modern Communism) के अंतर्गत 'नागरिक समाज' पर 'राज्य' का प्रभुत्व स्थापित हो जाता है। **मार्क्यूज़े** के अनुसार, ये दोनों स्थितियाँ नागरिक स्वतंत्रता (Civil Liberty) के मार्ग में बाधा डालती हैं। नागरिक स्वतंत्रता यह माँग करती है कि समाज को इन दोनों तरह के प्रभुत्व से मुक्त करा दिया जाए।

1960 और 1970 के दशकों में 'नागरिक समाज' की संकल्पना को विशेष लोकप्रियता मिली। तब यह अनुभव किया गया कि नागरिक समाज की संस्थाएँ केवल शासक वर्ग (Ruling Class) की सत्ता को सुदृढ़ करने के काम नहीं आतीं, बल्कि विरोधी वर्ग भी अपनी मान्यताओं को बढ़ावा देने के लिए इस उपकरण का यथेष्ट प्रयोग कर सकता है। अत: जहाँ राजनीतिक स्तर पर शासक वर्ग की सत्ता को चुनौती देना कठिन हो, वहाँ शिक्षा और संस्कृति के माध्यम से सत्ताधारियों के प्राधान्य (Hegemony) में सेंध लगाई जा सकती है। 1970 के दशक के अंतिम वर्षों और 1980 के दशक में पूर्वी यूरोप के समाजवादी देशों में सर्वाधिकारवादी राज्य (Totalitarian State) के विरूद्ध 'नागरिक समाज' के उपकरण का विस्तृत प्रयोग किया गया। पोलैंड में नागरिक समाज के प्रमुख उपकरण 'सॉलिडैरिटी' (Solidarity) के माध्यम से कामगार समुदाय के हित में सरकार की सत्ता को अपने ढंग की चुनौती दी गई। दस दौर में 'नागरिक समाज आंदोलन' एक तरह से 'नव सामाजिक आंदोलनों' (New Social Movements) के सहयोगी के रूप में उभर कर सामने आया। इस आंदोलन ने सामाजिक मुद्दे (Social Issues) उठाकर सरकार-विरोधी वातावरण तैयार करने में योग दिया।

सर्वाधिकारवाद (Totalitarianism)

ऐसी व्यवस्था जिसमें राज्य अपने नागरिकों के जीवन के सभी पक्षों को निर्देशित और नियंत्रित करता है। इसमें साधारणत: समाजिक जीवन के किसी लक्ष्य को अनिवार्य (Inevitable) मानकर समाज के सारे संसाधन उस लक्ष्य की सिद्धि में लगा दिए जाते हैं, किसी को उसका विरोध करने का अधिकार नहीं होता।

नोट

नव-सामाजिक आंदोलन
(New-Social Movements)

समकालीन विश्व के वे सामाजिक आंदोलन जो मानव-जीवन में फैले हुए अन्याय के प्रति विशेष सजगता से प्रेरित होकर व्यापक सामाजिक परिवर्तन की माँग करते हैं। इनमें नारी अधिकार-आंदोलन (Women's Rights Movements), पर्यावरणवादी आंदोलन (Environmentalist Movements), उपभोक्ता-आंदोलन (Consumer's Movements) और शांति-आंदोलन (Peace Movements) इत्यादि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सब आंदोलनों की विशेषता यह है कि ये राजनीतिक जीवन के साधारण लेन-देन से बाहर कार्य करते हैं। ये राज्य-शक्ति पर अपना नियंत्रण स्थापित करने के लिए लालायित नहीं हैं बल्कि विश्व को विवेक सम्मत रूप में ढालना चाहते हैं।

उधर बल्गेरिया में नागरिक समाज के एक उपकरण 'ईकोग्लास्नास्त' ने यह मुद्दा उठाया कि वहाँ के बड़े-बड़े उद्योग (जो सरकार के नियंत्रण में चल रहे थे) प्राकृतिक संसाधनों को बुरी तरह निचोड़ रहे थे और भारी प्रदूषण फैलाकर पर्यावरण को विषाक्त कर रहे थे। इस तरह वहाँ पर्यावरणवादी आंदोलन की आड़ में सरकार-विरोधी आंदोलन चलाने की कोशिश की गई। देखा जाए तो 1989 तक आते-आते पूर्वी यूरोप में समाजवादी प्रणालियों का जो पतन हुआ, उसमें वहाँ के 'नागरिक समाज' आंदोलनों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। यही कारण है कि उत्तर-साम्यवादी प्रणालियों (Post-Communist Systems) में भी 'नागरिक समाज' की संकल्पना को पर्याप्त लोकप्रियता मिली। इधर दक्षिणी अफ्रीका और लेटिन अमरीका में भी 'नागरिक समाज' की संकल्पना को सत्ताधारियों के विरुद्ध एक प्रभावशाली साधन माना जाता है।

उत्तर-साम्यवादी प्रणालियाँ
(Post-Communist Systems)

उन देशों की राज्य-व्यवस्था जहाँ लंबे समय तक साम्यवाद प्रणाली (Communist System) प्रचलित रही, परंतु 1989 के बाद वहाँ इस प्रणाली का त्याग कर दिया गया—जैसे कि रूमानिया, पोलैंड, हंगरी, बल्गेरिया, युगोस्लाविया, रूसी संघ, चेक गणराज्य और स्लोवाकिया।

नागरिक समाज का विश्लेषण
(Analysis of Civil Society)

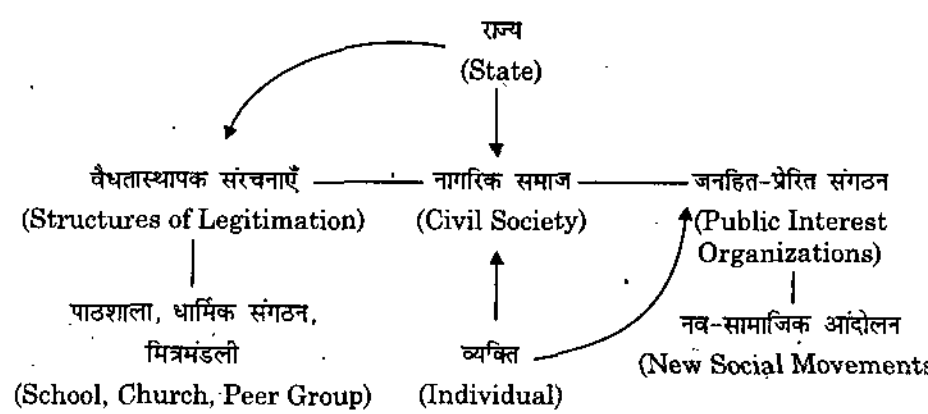

फिर पश्चिमी बुद्धिजीवियों को भी यह लगने लगा है कि वहाँ लोगों में अपने नागरिक कर्तव्यों के प्रति जो उदासीनता बढ़ती जा रही है, उसे दूर करने के लिए नागरिक समाज एक प्रभावशाली उपकरण सिद्ध हो सकता है। आज के युग में लोग न तो राजनीतिक चर्चा में खुलकर भाग लेते हैं, न वे सरकार की आलोचना में कोई अभिरुचि दिखाते हैं। ऐसी हालत में 'नागरिक समाज आंदोलन' उन्हें स्वतंत्र चर्चा और विचार-विमर्श की ओर प्रेरित कर सकता

है जिससे लोकतंत्र की नींव सुदृढ़ होगी। अतः ये बुद्धिजीवी ऐसे स्वैच्छिक साहचर्यों (Voluntary Associations) का जाल बिछाना चाहते हैं जो राज्य तथा व्यापार-जगत् दोनों से स्वाधीन हों। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि ऐसे साहचर्य लोकतंत्रीय व्यवस्था में ही पनप सकते हैं जहाँ लोगों को बोलने, संगठन बनाने और सभा करने की स्वतंत्रता (Freedom of Speech, Association and Assembly) प्राप्त हो।

नोट

नागरिक समाज आंदोलन (Civil Society Movement)

जब कुछ नागरिक मिलकर शहर में फैली गंदगी, बंद नालियों, टूटी-फूटी सड़कों, बिजली की कटौती, पानी की कमी, सरकारी भ्रष्टाचार या ऐसी अन्य शिकायतों के विरुद्ध आवाज़ उठाते हैं तो उनकी इस कार्रवाई को 'नागरिक समाज आंदोलन' की संज्ञा दी जाती है।

'नागरिक समाज आंदोलन' यह माँग करता है कि सार्वजनिक कृत्य अधिकारीतंत्र (Bureaucracy) के हाथों में केंद्रित न होने दिए जाएँ, बल्कि इनमें जनसाधारण की सहभागिता (Participation) को बढ़ावा दिया जाए। फिर, नागरिक समाज ऐसा मंच भी प्रदान कर सकता है जहाँ लोगों को राज्य की नीति और कार्रवाई की आलोचना का अवसर मिले। इस तरह नागरिक समाज आर्थिक विषमता (Economic Inequality) के निराकरण और सामाजिक न्याय (Social Justice) की स्थापना का उपयुक्त साधन बन सकता है।

छात्र क्रियाकलाप

1. सिडनी वर्बा के अनुसार राजनीतिक संस्कृति के आयामों का संक्षिप्त विवरण दें।

2. नागरिक समाज की भूमिका का संक्षिप्त विवरण दें।

1.12 सारांश (Summary)

- राजनीतिक संस्कृति की अवधारणा एक ऐसे प्रयास का शुभारंभ है जो कि राजनीतिक विचारधारा, वैधता, सम्प्रभुता, राष्ट्रीयता तथा कानून का शासन जैसे परंपरावादी विचारों के अध्ययन को व्यवहारवादी विश्लेषण के अनुरूप बनाता है।

नोट

- आमण्ड और पॉवेल के अनुसार "राजनीतिक संस्कृति किसी राजव्यवस्था के सदस्यों में राजनीति के प्रति व्यक्तिगत अभिवृत्तियों और दिग्विन्यासों का नमूना है।"
- सामान्य संस्कृति तथा राजनीतिक संस्कृति में घनिष्ठ संबंध है। सामान्य संस्कृति की धारणा व्यापक है जबकि राजनीतिक संस्कृति अपेक्षाकृत सीमित। प्रथम में व्यक्ति की संपूर्ण मूल्य व्यवस्था, आस्थाएँ और विश्वास सम्मिलित होते हैं जबकि दूसरी में व्यक्ति के केवल राजनीतिक वस्तुओं से संबंधित मूल्य, आस्थाएँ और विश्वास आते हैं।
- राजनीतिक संस्कृति का उपागम तुलनात्मक राजनीतिक विश्लेषकों में बहुत उपयोगी है। यह राजनीतिक आधुनिकीकरण के उपागम की कमियों की पूर्ति करने वाला उपागम माना जाता है।

अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)

1. राजनीतिक संस्कृति की अवधारणा को समझाइए।
2. राजनीतिक संस्कृति उपागम की आवश्यकता पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।
3. राजनीतिक संस्कृति की प्रकृति एवं प्रमुख लक्षण क्या हैं?
4. राजनीतिक संस्कृति के संबंध में आमण्ड एवं पॉवेल की धारणा को बताएँ।
5. राजनीतिक संस्कृति के प्रकारों का वर्णन करें तथा तुलनात्मक राजनीति में इसकी उपयोगिता क्या है?
6. सामान्य संस्कृति तथा राजनीतिक संस्कृति में अंतर स्पष्ट करें तथा राजनीतिक संस्कृति के निर्माणकारी तत्व क्या-क्या हो सकते हैं?

संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)

1. तुलनात्मक राजनीति–चन्द्रदेव प्रसाद, ऐटलांटिक।
2. तुलनात्मक राजनीति--प्रो. रामानन्द गैरोला।
3. तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीति विश्लेषण–डॉ. डी. एस. यादव।

नोट

इकाई–II

राजनीतिक समाजीकरण
(Political Socialisation)

संरचना (Structure)

2.1 उद्देश्य (Objectives)

2.2 प्रस्तावना (Introduction)

2.3 राजनीतिक समाजीकरण की अवधारणा (Concept of Political Socialisation)

2.4 राजनीतिक समाजीकरण के प्रत्यय (Variables of Political Socialisation)

2.5 राजनीतिक समाजीकरण के निर्माणक तत्व (Determinants of Political Socialisation)

2.6 सारांश (Summary)

- अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)
- संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)

2.1 उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- राजनीतिक समाजीकरण की अवधारणा को समझने में।
- समाजीकरण के अंतर्गत राजनीतिक समाजीकरण की भूमिका को जानने में।
- राजनीतिक समाजीकरण का निर्माण कैसे हुआ? इसके निर्माणकारी तत्वों की भूमिका को समझने में।

2.2 प्रस्तावना (Introduction)

समाजीकरण अध्ययन एवं अन्वेषण का एक नवीन क्षेत्र नहीं हैं, क्योंकि ऐसे अन्वेषण सामाजिक मनोविज्ञान, नृविज्ञान तथा मनोरोग विज्ञान में होते रहे हैं। तथापि समाजीकरण के परिणाम के रूप में राजनीतिक व्यवहार (अर्थात् राजनीतिक समाजीकरण) का अन्वेषण एक नवीन बात है। राजनीतिक समाजीकरण को पहले 'नागरिकता', 'नागरिकता प्रशिक्षण' तथा 'नागरिक समाजीकरण' के नामों से जाना जाता था। राजनीतिक समाजीकरण वास्तव में राजनीति एवं राजनीतिक व्यवहार के क्षेत्र में समाजीकरण की प्रक्रिया का परिसीमन है। यह वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा राजनीतिक मूल्य (राजनीतिक संस्कृति) एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित होते हैं।

नोट

2.3 राजनीतिक समाजीकरण की अवधारणा (Concept of Political Socialisation)

राजनीतिक समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा राजनीतिक संस्कृतियों का अनुरक्षण और उसमें परिवर्तन किया जाता है। समाजीकरण के माध्यम से व्यक्तियों को राजनीतिक संस्कृतियों में शामिल किया जाता है। तभी राजनीतिक वस्तुओं के प्रति उनके अभिविन्यास का निर्माण किया जाता है। दूसरे शब्दों में, समाजीकरण उस शिक्षण प्रक्रिया की ओर निर्देश करता है, जिसके द्वारा सुसंचालित राजनीतिक व्यवस्था के लिए स्वीकार्य मानकों और व्यवहारों को एक पीढ़ी से अगली पीढ़ी तक सम्प्रेषित किया जाता है। राजनीतिक समाजीकरण का उद्देश्य व्यक्तियों का इस तरीके से प्रशिक्षण और विकास करना है कि वे राजनीतिक समुदाय के सुकार्यकारी सदस्य बन सकें।

राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया सामान्यतया आकस्मिक अथवा अदृश्य रूप से कार्य करती है। इसका अर्थ यह है कि यह शान्त और सौम्य रूप से संचालित होती है कि कई बार लोगों को इसके संचालन की खबर भी नहीं होती है।

राजनीतिक समाजीकरण की संकल्पनाओं में प्रधान बल एक पीढ़ी तक राजनीतिक मूल्यों के सम्प्रेषण पर दिया जाता है। किसी सामाजिक अथवा राजनीतिक व्यवस्था की स्थिरता इस तथ्य के कारण इसके सदस्यों के राजनीतिक समाजीकरण पर निर्भर करती है कि एक अच्छा कार्यकारी नागरिक मानकों को अंगीकार कर ले और उन्हें भावी पीढ़ियों को सम्प्रेषित करे। उदाहरण के लिए, ब्रिटेन में नागरिकों को प्रशिक्षित कर इस बात का अभ्यस्त बनाया जाता है कि वे परिवर्तन करने के लिए संवैधानिक उपायों को स्वीकार कर लें, बजाय इसके कि इन मामलों को सड़कों पर ले जायें या हिंसात्मक उथल-पुथल की अवस्थाएँ पैदा करें।

सरल शब्दों में कहा जाए तो राजनीतिक समाजीकरण एक ऐसा विचार है जो राजनीतिक स्थायित्व (Political stabilization) के लक्ष्य को प्राप्त करने की अपेक्षा करता है। **राबर्ट सीगल** के शब्दों में, "राजनीतिक समाजीकरण का उद्देश्य ऐसे व्यक्तियों का प्रशिक्षण और विकास करना है जिससे वे राजनीतिक समाज के अच्छे कार्यकारी सदस्य बन सकें। राजनीतिक समाजीकरण व्यक्तियों के मन में मूल्यों, मानकों और अभिविन्यासों का विकास करता है जिसमें राजनीतिक व्यवस्था के प्रति विश्वास की भावना हो और वे अपने आपको अच्छे कार्यकारी नागरिक के रूप में बनाये रखें तथा अपने उत्तराधिकारियों के मन पर अमिट छाप छोड़ सकें।

सीगल के शब्दों में, "राजनीतिक समाजीकरण से अभिप्राय सीख की वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा प्रचलित राजनीतिक व्यवस्था द्वारा स्वीकृत राजनीतिक आदर्श एवं व्यवहार पीढ़ी-दर पीढ़ी हस्तान्तरित होते हैं।" **लेंगटन** ने भी इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं। इनके शब्दों में व्यापकतर अर्थ में, "राजनीतिक समाजीकरण वह तरीका है जिसके द्वारा समाज राजनीतिक संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित करता है।"

डेविड ईस्टन के शब्दों में, "किस प्रकार से एक प्रौढ़ पीढ़ी युवा पीढ़ी को अपने जैसे प्रौढ़ प्रतिरूप (adultimage) में ढालती है, यही समाजीकरण है।"

पीटर मर्कल ने राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया को एक प्रकार की सामाजिक प्रक्रिया का स्वाभाविक अध्ययन माना है। उनके अनुसार, "किसी राज्य-व्यवस्था के सदस्यों द्वारा राजनीतिक दृष्टिकोण एवं व्यवहार की प्रतिकृति को विकसित करने से सम्बद्ध वैज्ञानिक अध्ययन को राजनीतिक समाजीकरण का अंध्ययन कहा जाता है।"

आमण्ड एवं पॉवेल राजनीतिक समाजीकरण को एक ऐसी प्रक्रिया मानते हैं जिनके द्वारा व्यक्ति राजनीतिक संस्कृति में प्रवेश करता है। राजनीतिक वस्तुओं के प्रति ज्ञान प्राप्त करता है, अपने प्रतिमानों, अभिकांक्षाओं का निर्माण करता है, अपने व्यवहार की रीति निर्धारित करता है अर्थात् वह राजनीतिक संस्कृति एवं पद्धति का अंग बनता है, उनका मत है कि यह अवधारणा आधुनिक युग में इसलिए विशेष महत्त्व रखती है कि इसके माध्यम से राजनीतिक स्थायित्वता एवं विकास को सरलता से समझा जा सकता है। आधुनिक युग में नये राज्यों के उदय के कारणवश, संचार साधनों में निरन्तर विकास के कारणवश, तकनीकी खोजों के परिणामस्वरूप समाजीकरण की प्रक्रिया आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में विशेष स्थान रखती है।

नोट

राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया बन जाती है क्योंकि यह नागरिकों के दृष्टिकोण से सम्बन्ध रखती है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके माध्यम से मनुष्य को आने वाली राजनीतिक पद्धति के मान्य प्रतिमान एवं व्यवहार के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त होता है। यह स्वाभाविक है कि यह ज्ञान आहिस्ता-आहिस्ता बिना चेष्टा किये होता रहता है पर ज्ञान प्रयत्नों द्वारा भी प्राप्त किया जाता है। **आमण्ड** एवं **पॉवेल** इस प्रक्रिया को दो भागों में बाँटते हैं : स्पष्ट एवं अस्पष्ट (Manifest and Latent)। इनका मत है कि नागरिक राजनीतिक वस्तुओं के प्रति ज्ञान केवल राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेते समय ही प्राप्त नहीं करते बल्कि उस काल में भी वह ज्ञान प्राप्त करते हैं जबकि वह राजनीतिक प्रक्रिया में भाग नहीं ले रहे होते। प्राय: नागरिकों की राजनीतिक संस्कृति के अधिकांश भाग का निर्माण अप्रत्यक्ष रूप में ही होता है पर मनुष्य पर प्रत्यक्ष प्रभाव भी पड़ते हैं जो सम्भवत: उतना ही महत्त्व रखते हैं जितना कि अप्रत्यक्ष। सूक्ष्म में, यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक समाजीकरण एक ऐसी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसके माध्यम से नागरिक राजनीतिक पद्धति के उद्देश्यों, मानकों और उसके व्यवहार के सम्बन्ध में प्राप्त करता है। इसी के माध्यम से वह अपने उद्देश्यों, माँगों, अभिलाषाओं का निर्माण करता है, अपने व्यवहार की नीति बनाता है अर्थात् राजनीतिक संस्कृति में प्रवेश करता है, राजनीतिक पद्धति में अपना स्थान खोजता है और अपना योगदान देता है।

राजनीतिक समाजीकरण का उद्देश्य नागरिकों को ज्ञान देकर समाज के अच्छे कार्यवाहक बनाना है। क्योंकि राजनीतिक पद्धति में एकता के अभाव में राजनीतिक प्रक्रिया असम्भव हो जाती है जिससे पद्धति के स्थायित्व को खतरा उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार राजनीतिक समाजीकरण उन मूल्यों, प्रतिमानों और दृष्टिकोणों के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त कराता है ताकि व्यक्ति अच्छे नागरिकों के रूप में आने वाली पीढ़ियों पर अच्छा प्रभाव डाल सकें। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जब बच्चा उत्पन्न होता है तो वह ज्ञान प्राप्त व्यक्ति नहीं होता। वह राजनीतिक ज्ञान आहिस्ता-आहिस्ता प्राप्त करता है। राजनीतिक समाजीकरण के लिए केवल ज्ञान पर्याप्त ही नहीं है उसके लिए यह भी आवश्यक है कि समाज के जिन मूल्यों एवं प्रतिमानों के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त हुआ है वह अपने मूल्य एवं प्रतिमान बना ले तभी वह अच्छा नागरिक बन सकेगा।

राजनीतिक समाजीकरण उस समय आरम्भ होता है जब एक बच्चा पर्यावरण में प्रवेश करता है। वह अनेक प्रकार की परिस्थितियों के सम्पर्क में आता है जिनके माध्यम से वह ज्ञान प्राप्त करता है। यह एक ऐसी स्थिति है जिसमें बच्चा सत्ता, आज्ञा, विरोध, सहभागिता के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करता है। **ईस्टन** एवं **डेनिंग** बच्चे के जीवन में चार सूत्रों का वर्णन करते हैं जिसके द्वारा बच्चा राजनीतिक-समाजीकरण एवं राजनीतिक संस्कृति में प्रवेश करता है—

(1) विशेष व्यक्तियों के माध्यम से सत्ता की मान्यता।

(2) सार्वजनिक एवं निजी सत्ता में अन्तर।

(3) राजनीतिक संस्थाओं एवं व्यवहार के सम्बन्ध में ज्ञान।

(4) राजनीतिक संस्थाओं और व्यक्ति विशेष के मध्य अन्तर।

2.4 राजनीतिक समाजीकरण के प्रत्यय (Variables of Political Socialisation)

राजनीतिक समाजीकरण के दो प्रत्यय (Variables) हैं–

(1) एकरस (Homogeneous)

(2) खण्डित (Heterogeneous)

एकरस प्रत्यय से तात्पर्य यह है कि व्यक्ति एक-दूसरे से मिलकर विश्वास के वातावरण में कार्य करते हैं और अपने राजनीतिक विचार ग्रहण करते हैं। यह पद्धति के स्थायित्व का वर्णन करता है। इसके बिल्कुल विपरीत खण्डित प्रत्यय में नागरिक एक-दूसरे पर शक करते हैं और ऐसी घृणा के वातावरण में पद्धति के प्रति श्रद्धा एवं निष्ठा का अभाव होता है, क्योंकि समाजीकरण का उद्देश्य पद्धति को बनाये रखना है इसलिए अनेक लेखक इसे रूढ़िवादी अवधारणा कहते हैं। यह परिवर्तन के विरुद्ध अवधारणा है परन्तु ऐसा नहीं है। यह अवधारणा परिवर्तन में विश्वास करती है पर वह धीमी गति के और शान्तिपूर्ण परिवर्तन में विश्वास करती है। वह यह मानती है कि

नोट

समाजीकरण की प्रक्रिया में परिवर्तन के साथ-साथ राजनीतिक संस्कृति में भी उसी मात्रा में परिवर्तन होना चाहिए। अकस्मात् अधिक मात्रा में परिवर्तन राजनीतिक पद्धति को खण्डित कर देता है। उनका मत है कि राजनीतिक मूल्यों का निर्माण एवं राजनीतिक परिवर्तन साथ-साथ होने चाहिए। यह अवधारणा सत्ता धारियों को यह समझाने का प्रयत्न करती है कि वे कोई ऐसा कार्य न होने दें जिससे कि राजनीतिक पद्धति के प्रति नागरिकों के व्यवहार में अकस्मात् परिवर्तन हो जाएँ।

2.5 राजनीतिक समाजीकरण के निर्माणक तत्व (Determinants of Political Socialisation)

ऊपर दिये गये विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजनीतिक समाजीकरण वास्तव में एक प्रकार की शिक्षा है जिसके माध्यम से व्यक्ति राजनीतिक वस्तुओं के प्रति ज्ञान प्राप्त करता है और अपने व्यवहार का निर्माण करता है। **मैनहिम** ने राजनीतिक समाजीकरण की चार विशेषताओं का वर्णन किया है जो इस प्रकार हैं–

(1) राजनीतिक समाजीकरण आधारभूत रूप में एक अधिक विस्तृत या सामान्य सीखने व शिक्षण की प्रक्रिया का ही एक भाग है। इस प्रकार यह उस प्रक्रिया से केवल उन्हीं तत्वों को ग्रहण करता है जिनकी राजनीतिक वस्तुओं, मूल्यों या गतिविधियों से संगतता व उपयोगिता हो।

(2) राजनीतिक समाजीकरण के फल योग्यात्मक और अन्तर्क्रियात्मक (Aggregative and interactive) हैं। दूसरे शब्दों में, राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया सदा ही जारी रहती है।

(3) राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया अति विस्तारपूर्ण (Comprehensive) है, इसमें वे सभी बातें आ जाती हैं जिनमें राजनीति को सीखने से कुछ भी अथवा दूरी का भी सम्बन्ध हो।

(4) प्रत्येक व्यक्ति समाजीकरण के अनुभवों के न्यूनाधिक अनोखे मेल का प्रतिनिधित्व करता है। चूँकि पारिवारिक जीवन, सामूहिक संघों, शैक्षिक अनुभवों और जीवन शैलियों के प्रकार अनगिनत हैं और चूँकि राजनीतिक समाजीकरण में अन्य शक्तियाँ अन्तर्ग्रस्त रहती हैं, अत: ऐसे समाजीकरण के सम्भावित उत्पाद भी अनगिनत और विविध प्रकार के हैं। (The potential products of such socialisation must be more numerous and more diverse).

आमण्ड एवं **पॉवेल** राजनीतिक शिक्षा को एक जीवनकाल की शिक्षा और **एलेन बॉल** इसको एक ऐसी शिक्षा मानते हैं जो केवल मनुष्य के बचपन तक ही सीमित नहीं रहती बल्कि सारे जीवन तक चलती रहती है। वह कुटुम्ब, शिक्षा संस्थाओं, जन संचार साधनों, व्यवसायी संस्थाओं को समाजीकरण के अभिकर्ताओं (Agents) के रूप में देखते हैं जिनमें मनुष्य व्यावहारिक एवं औपचारिक राजनीतिक शिक्षा ग्रहण करता है।

समाजीकरण के प्रमुख अभिकरण (Agents) इस प्रकार हैं–

(1) परिवार या कुटुम्ब, (2) औपचारिक शिक्षा संस्थाएँ, (3) अनौपचारिक संस्थाएँ, (4) जनसंचार के साधन, (5) राजनीतिक दल।

यह स्वाभाविक ही है कि समाजीकरण की संस्थाओं में **सर्वप्रथम** स्थान परिवार एवं कुटुम्ब को ही प्राप्त हो सकता है। यहीं से व्यक्ति सन्तोष एवं विरोध की भावनाएँ ग्रहण करता है। आदेश एवं आज्ञा के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करता है। श्रद्धा की भावना ग्रहण करता है, राजनीतिक मूल्यों का निर्माण करता है। **रॉबर्ट लेन** कुटुम्ब में तीन रीतियों का वर्णन करते हैं जिसके द्वारा एक बच्चा ज्ञान प्राप्त करता है–

(1) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सिद्धान्तीकरण,

(2) बच्चे का एक विशेष सामाजिक परिस्थिति से सम्पर्क,

(3) बच्चे की मनोवृत्ति का उद्देश्यपूर्ण निर्माण।

व्यक्ति की राजनीतिक शिक्षा में **दूसरा** स्थान औपचारिक शिक्षा संस्थाओं का है। अतीत से यह विश्वास किया जाता है कि शिक्षा संस्थाएँ व्यक्ति के राजनीतिक व्यवहार के निर्माण में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। **आमण्ड** एवं **वर्बा** यह विश्वास करते हैं कि जितनी अधिक एक व्यक्ति की शिक्षा होगी उतना ही अधिक उसे

नोट

राजनीतिक ज्ञान होगा और राजनीतिक एवं सरकारी प्रक्रिया को समझ पायेगा तथा राजनीतिक वस्तुओं के सम्बन्ध में उसके उतने ही अधिक विचार होंगे। राजनीति में वह सक्रिय होगा, राजनीतिक क्रियाओं को प्रभावित करने की क्षमता होगी और सामाजिक वातावरण में विश्वास होगा। यही कारण है कि स्कूलों के पाठ्यक्रमों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। उच्च-शिक्षा की संस्थाएँ व्यक्ति को राजनीतिक संस्कृति के निर्माण में परोक्ष अनुभव प्रदान करके विशेष सहायता करती हैं जिसके माध्यम से राजनीतिक पद्धति में वह सरलता से अपना स्थान ग्रहण कर लेता है। यह शिक्षा संस्थाएँ राजनीतिक पद्धति में स्थापित व्यवहारों को स्पष्ट कर देती हैं। **मायरन विनर** भारत में विश्वविद्यालयों की समाजीकरण की क्रिया में भूमिका का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि, 'यदि विश्वविद्यालयों के अधिकारी विद्यार्थियों की शिकायतों को दूर करने का सन्तोषजनक मार्ग निकाल लें तो विश्वविद्यालयों में अनुशासनहीनता की समस्या तो दूर हो ही जायेगी, वह देश को ऐसे अभिजन भी देंगे जो पद्धति के स्थायित्व को प्रभावित करेंगे और देश को उन्नति की ओर ले जायेंगे।

इस राजनीतिक शिक्षा में **तीसरा** स्थान औपचारिक संस्थाओं का है जहाँ व्यक्ति कार्य करता है, मनोरंजन के लिए जाता है या सामूहिक रूप से राजनीतिक क्रियाओं में भाग लेता है और **चौथा** स्थान जन-संचार साधनों का है जिनके माध्यम से वह अपने राजनीतिक विचार बनाता है, सूचनाएँ ग्रहण करता है और राजनीति में गतिशील होने का प्रयत्न करता है।

राजनीतिक दल भी समाजीकरण के अभिकरण हैं। सर्व सत्तावादी राज व्यवस्थाओं के राजनीतिक दलों का प्रमुख कार्य पुरातन मूल्यों एवं मान्यताओं को स्थापित करना होता है। जनतन्त्रात्मक देशों व राज्य व्यवस्थाओं में यद्यपि राजनीतिक दलों का प्रधान कार्य मतदाताओं को मतदान के प्रति प्रशिक्षित करना है, फिर भी इनमें नये मूल्यों को प्रस्थापित करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। नवोदित राष्ट्रों में राज-संस्कृति के सृजन एवं परिवर्तन में सामाजिक दलों का बहुत अधिक महत्त्व है। इन देशों में अन्य संस्थाओं के अविकसित स्वरूप के कारण राजनीतिक दल केवल निर्वाचकीय उपादान ही बनकर नहीं रह जाते हैं बल्कि वे ढेर सारे दूसरे कार्यों का सम्पादन या निष्पादन करते हैं, जैसे जनता एवं शासन के मध्य सम्बन्ध स्थापित करना, राजनीतिक सूचनाओं का प्रसार करना, विभिन्न समुदायों में एकता स्थापित करना तथा राष्ट्रीय कार्यक्रमों का प्रसार कर राजनीतिक समाजीकरण के एजेण्ट के रूप में सकारात्मक भूमिका निभाना।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो सदैव राजनीतिक शिक्षा ग्रहण करता रहता है। वह अपने मानकों के उद्देश्यों का निर्माण करता है और अनुभव के आधार पर उन्हें संशोधित करता रहता है।

राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया के अध्ययन का कोई सर्वमान्य प्रतिमान न होने का कारण विभिन्न समूहों एवं विभिन्न समाजों में इसके बारे में पायी जाने वाली भिन्नता है। अधिकतर अध्ययन अमरीका तथा पश्चिमी यूरोप के देशों तक ही सीमित रहे हैं। इसलिए भी इस प्रक्रिया के बारे में कोई व्यापक दृष्टिकोण विकसित नहीं हो पाया है। विभिन्न देशों के विभिन्न धर्मों एवं सजातीय समूहों के बच्चों पर हुए अध्ययनों से हमें यह पता चलता है कि उनमें 3-4 वर्ष की आयु में ही प्रजातीय एवं सजातीय प्राथमिकताएँ विकसित होनी शुरू हो जाती हैं जिसमें अपने प्रजातीय एवं सजातीय समूह के प्रति लगाव एवं अन्य समूहों के प्रति शत्रुता की भावनाएँ सम्मिलित हैं। 7-8 वर्ष की आयु तक बच्चे अन्य समूहों के लिए प्रयुक्त शब्दों एवं सम्प्रत्ययों को सीख जाते हैं तथा 12-13 वर्ष की आयु में आस्ट्रेलिया, ब्रिटेन, न्यूजीलैण्ड एवं अमरीका आदि देशों में राष्ट्रीय एवं प्रजातीय भावनाओं के अतिरिक्त वर्ग संरचना का कुछ ज्ञान, शक्ति व बल, घरेलू एवं बाहरी मित्रों एवं शत्रुओं की कुछ जानकारी, दलों के अस्तित्व, चुनाव तथा मतदान और सरकार के महत्त्व के बारे में कुछ ज्ञान तथा राजनीतिक दल के बारे में कुछ प्रतिबद्धता का उपार्जन प्रारम्भ हो जाता है। किशोरावस्था में राजनीतिक सूझबूझ में प्रमुख रूप से प्रगति होती है। सरकार की संरचना व कार्यों, विधि, राजनीतिक दलों, समुदायों की आवश्यकताओं, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं जनकल्याण से सम्बन्ध तथा राजनीतिक निर्णय लेने के आधारों आदि के बारे में जागरूकता आने लगती है। वयस्क होने पर व्यक्ति राजनीतिक प्रक्रियाओं में स्वयं भाग लेना शुरू कर देता है तथा राजनीतिक सीख के रूप में यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है।

छात्र क्रियाकलाप

नोट

1. राजनीतिक समाजीकरण के दो प्रत्ययों का संक्षिप्त विवरण दें।

2. ईस्टन और डेनिंग ने बच्चे के जीवन के लिए किन-किन सूत्रों का वर्णन किया है?

2.6 सारांश (Summary)

- डेविड ईस्टन के शब्दों में, "किस प्रकार से एक प्रौढ़ पीढ़ी युवा पीढ़ी को अपने जैसे प्रौढ़ प्रतिरूप में ढालती है, यही समाजीकरण है।"
- आमण्ड एवं पॉवेल के अनुसार, "राजनीतिक समाजीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिनके द्वारा व्यक्ति राजनीतिक संस्कृति में प्रवेश करता है। राजनीतिक वस्तुओं के प्रति ज्ञान प्राप्त करता है, अपने प्रतिमानों, अभिकांक्षाओं का निर्माण करता है, अपने व्यवहार की रीति निर्धारित करता है अर्थात् वह राजनीतिक संस्कृति एवं पद्धति का अंग बनता है।"
- आमण्ड एवं पॉवेल के अनुसार समाजीकरण के प्रमुख अभिकरण हैं–(*a*) परिवार एवं कुटुम्ब (*b*) औपचारिक शिक्षा संस्थाएँ (*c*) अनौपचारिक संस्थाएँ (*d*) जनसंचार के साधन (*e*) राजनीतिक दल।

अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)

1. राजनीतिक समाजीकरण की अवधारणा को समझाइए।
2. राजनीतिक समाजीकरण में निर्माणक तत्वों को बताइए।

संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)

1. तुलनात्मक राजनीति–चन्द्रदेव प्रसाद, ऐटलांटिक।
2. तुलनात्मक राजनीति–प्रो. रामानन्द गैरोला।
3. तुलनात्मक राजनीति–सी. वी. गेना, विकास पब्लिशिंग हाउस।

नोट

इकाई–III

राजनीतिक भागीदारी एवं संचार (Political Participation and Communication)

संरचना (Structure)

3.1 उद्देश्य (Objectives)

3.2 प्रस्तावना (Introduction)

3.3 राजनीतिक भागीदारी (Political Participation)

3.4 संचार (Communication)

3.5 संचार साधनों का योगदान व प्रचार की भूमिका (Contribution of Means of Communication and Role of Propaganda)

3.6 सारांश (Summary)

- अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)
- संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)

3.1 उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- राजनीति में जनता की बढ़ती हुई भागीदारी को समझने में।
- राजनीति के क्षेत्र में संचार की भूमिका को जानने में।

3.2 प्रस्तावना (Introduction)

राजनीतिक दृष्टि से आधुनिकीकृत समाज में व्यक्ति की राजनीतिक सहभागिता वृहत्तर-स्तर पर होने लगती है। ऐसे समाज में लोगों के मन में राष्ट्रीयता की भावनाएँ शक्तिशाली हो जाती हैं।

आधुनिकीकरण के विभिन्न पहलुओं के विवेचन से स्पष्ट है कि यह सब पहलू परस्पर घनिष्ठता ही नहीं रखते हैं अपितु एक-दूसरे से अलग ही नहीं किए जा सकते। इन पहलुओं की आपस में सम्बन्ध-सूत्रता इस बात की पुष्टि करती है कि आधुनिकीकरण अत्यधिक जटिल परिवर्तन प्रक्रिया है।

आजकल राजनीति विज्ञान के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में 'संचार सिद्धान्त' (Communication Theory) की चर्चा प्रमुख रूप से होती है। यह सिद्धान्त संचार या सम्प्रेषण सिद्धान्त कहलाता है और प्रशासन और

राजनीति के कुछ निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए संचालन और समायोजन की प्रक्रियाओं की उपयोगिता को उस अर्थ में देखता है जिसमें संचार वाहन को स्टियरिंग के द्वारा अभीप्सित लक्ष्य की ओर तेजी से दौड़ाया जा सकता है।

नोट

3.3 राजनीतिक भागीदारी (Political Participation)

मोटे तौर पर राजनीतिक आधुनिकीकरण के तीन लक्षणों को प्रमुख माना जाता है। ये लक्षण इस प्रकार हैं–(क) राज्य में बढ़ता हुआ शक्ति केन्द्रण और सत्ता के परम्परागत स्रोतों का शक्तिहीन होना। (ख) राजनीतिक संस्थाओं का विभिन्नीकरण व विशेषीकरण। (ग) राजनीति में जनता की बढ़ी हुई सहभागिता तथा व्यक्तियों का सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था से अधिकाधिक अभिज्ञान/राजनीतिक सहभागिता या भागीदारी की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं–

(क) राज्य या केन्द्र में शक्ति का अधिकाधिक केन्द्रण (Increased centralisation of power in the state or the centre)–राजनीतिक आधुनिकीकरण का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण यह है कि मानव जीवन की गतिविधियों से सम्बन्धित सभी प्रकार की शक्तियों का राज्य या राजनीतिक व्यवस्था में केन्द्रीकरण होने लगता है। इसका यही तात्पर्य है कि राजनीतिक व्यवस्था अधिकाधिक शक्तियों की नियामक बनने लगती है। तकनीकी प्रगति, अन्तर्राष्ट्रीय मजबूरियां, प्रतिरक्षा की आवश्यकताएं और संचालन या सम्प्रेषण साधनों के विकास के कारण व्यक्ति के जीवन का राजनीतिक पहलू सर्वोपरिता की ओर बढ़ता जाए तो यह राजनीतिक आधुनिकीकरण की परिस्थितियों का प्रस्तुत होना है। राजनीतिक शक्ति का महत्त्व बढ़ना राजनीतिक आधुनिकीकरण की निशानी है। इससे यह अर्थ नहीं निकलता है कि राजनीतिक शक्ति एक बिन्दु पर केन्द्रित होनी चाहिये। राजनीतिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण की व्यवस्थाएं इसे राजनीतिक पिछड़ेपन की निशानी नहीं बनातीं वरन यह राजनीतिक आधुनिकीकरण के लिए आवश्यक मानी जाती हैं। यहां राज्य में शक्ति-केन्द्रण का एक ही अर्थ है कि राजनीतिक शक्ति महत्त्वपूर्ण और अन्य शक्तियों की नियामक व संचालक बन जाए तो राजनीतिक दृष्टि से समाज आधुनिक कहा जाएगा।

(ख) राज्य या केन्द्र का समाज में अधिकाधिक प्रवेशन या पहुँच (Increased penetration of state or centre in the society)–प्राचीन समाजों की राज्य-व्यवस्था को 'पुलिस राज्य' कहकर पुकारा जाता था। इन समाजों में राज्य का काम केवल वही था जो पुलिस के द्वारा किया जाता है। राज्य देश की बाहरी आक्रमणों से रक्षा करने तथा आन्तरिक व्यवस्था बनाए रखने के कार्यों का निष्पादन करता था। सरकार की जनता के साथ नकारात्मक सम्पर्कता व भूमिका थी। इसका प्रमुख कारण यह था कि सरकार की समाज में न पहुंच संभव थी और न ही यह आवश्यक थी। यह सम्भव इसलिए नहीं थी कि यातायात और संचार के साधनों का विकास नहीं हुआ था। यह पहुंच आवश्यक इसलिए नहीं थी क्योंकि राज्य पुलिस-राज्य थे जिनमें सरकारों की नकारात्मक भूमिका के कारण उनको जनता से केवल कर वसूल करने व व्यवस्था बनाए रखने तक से ही सरोकार था। इसका यही अर्थ है कि ऐसी गतिविधियों तक सीमित राज्य-व्यवस्था आधुनिक नहीं थी।

राजनीतिक आधुनिकीकरण से लिए सरकार की जनता तक पहुँच, वृद्धिपरक होनी चाहिए। जनता व सरकार की हर स्तर पर सम्पर्कता का अर्थ राज्य का समाज में अधिकाधिक प्रवेशन होता है। यह तभी सम्भव होता है जब सरकारें सकारात्मक कार्यों के निष्पादन में आगे बढ़ें। दूसरे शब्दों में, लोक-कल्याण व जनसाधारण के उत्थान के लिए सरकारों का कार्य करने लगना राजनीतिक आधुनिकीकरण की निशानी है। ऐसा कहा जाता है कि राजनीतिक आधुनिकीकरण वाली राजनीतिक व्यवस्थाओं में (*i*) राज्य या सरकार की जनता तक पहुंच होती है। (*ii*) सरकार की जनता तक पहुंच या प्रवेशन आवश्यक है। (*iii*) सरकार की जनता तक पहुंच सम्भव है।

लोक-कल्याणकारी राज्य के विचार के विकास ने सरकारों के कार्यों को इतना अधिक बढ़ा दिया है कि उनका समाज में प्रवेशन होने लगा। अब मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक का सारा जीवन सरकार की पहुँच में आ गया है। राजनीतिक आधुनिकीकरण के लिए यह प्रवेशन आवश्यक है। अब राज्य या सरकार को जनता के लिए वह सब कार्य करने होते हैं जो जनता चाहती है। सरकार का आधार जनता की इच्छा हो जाने से, सरकारें जन-सरकारें बन गई हैं। यह लोकतंत्र व्यवस्था का विकास भी कहा जा सकता है। यहां यह ध्यान देने की बात है कि आधुनिक

सरकारों की समाज के हर क्षेत्र में पहुंच या प्रवेशन सम्भव है। संचार साधनों के विकास के कारण सरकार की गतिविधियों के क्षेत्र का विस्तारीकरण हुआ है। इसी कारण, वृहत्तर नौकरशाही या प्रशासन कार्मिकों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। अत: राजनीतिक आधुनिकीकरण की यह विशेषता होती है कि इसमें सरकार, व्यक्ति व समाज में इतना प्रवेशन पा लेती है कि मनुष्य जीवन की सम्पूर्णता का संचालन सरकार या राजनीतिक व्यवस्था द्वारा होने लगता है।

(ग) **केन्द्र और परिधि या परिसर की बढ़ी हुई अन्त:क्रिया (Increased interaction between the centre and the periphery)**—आधुनिक राजनीतिक समाजों में केन्द्र और परिसर की अन्त:क्रिया बहुत बढ़ जाती है। इस बढ़ी हुई अन्त:क्रिया का यही अर्थ है कि राजनीतिक शक्ति के विभिन्न केन्द्र आपस में इतने अधिक अन्त:क्रियाशील हो जाते हैं कि दोनों स्तर के केन्द्र निरंतर सम्प्रेषण के माध्यमों से जुड़ से जाते हैं। अगर इसको हम राजनीतिक आधुनिकीकरण के प्रथम लक्षण के साथ सम्बन्धित करके देखना चाहें तो यह कहा जाएगा कि राजनीतिक आधुनिकीकरण में एक साथ दोतरफा प्रक्रिया चलती रहती है। यहाँ केन्द्र का अर्थ राजनीतिक व्यवस्था से है और परिधि या परिसर का अर्थ समाज से है। व्यवहारवादियों की शब्दावली में इसको निवेश और निर्गत (inputs and outputs) कहा जा सकता है। इसको चित्र 3.1 द्वारा समझाया जा सकता है।

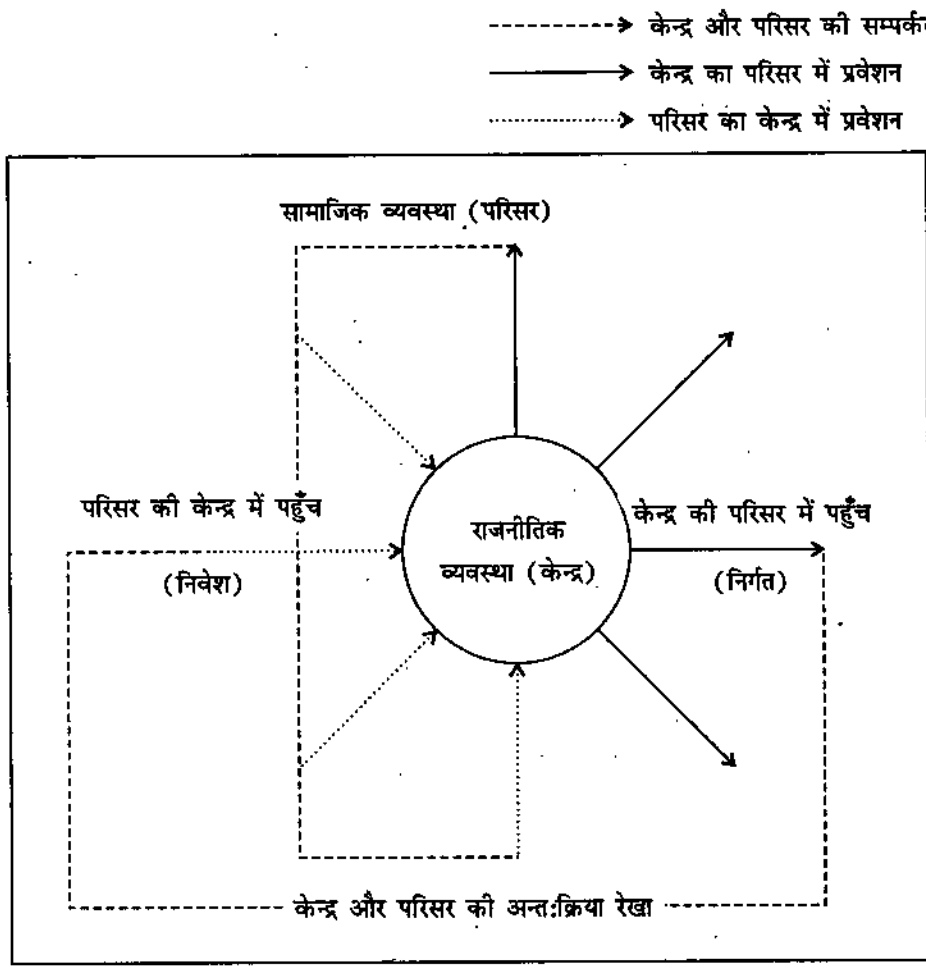

चित्र 3.1 राजनीतिक आधुनिकीकरण में केन्द्र व परिसर की अन्त:सम्बद्धता

चित्र 3.1 से यह स्पष्ट होता है कि किस प्रकार आधुनिकीकरण वाली राजनीतिक व्यवस्थाओं में केन्द्र और परिसर की पारस्परिकता बढ़ जाती है। राजनीतिक दल, हित और दबाव-समूह नौकरशाही और निर्वाचनों के माध्यमों

नोट

से यह सम्पर्कता बढ़ती है तथा संचार के साधनों के द्वारा इसमें निरन्तरता बनी रहती है। ऐसी सम्पर्कता वाला राजनीतिक समाज आधुनिक कहा जाता है।

(घ) सत्ता के परम्परागत स्रोतों का निर्बल होना (The weakening of traditional sources of authority)–राजनीतिक आधुनिकीकरण में सत्ता के स्थान का नाटकीय खिसकाव या स्थानान्तरण हो जाता है। परम्परागत राजनीतिक समाजों में राजनीतिक सत्ता का स्रोत कबीलों के मुखिया, राजा-महाराजा, धार्मिक गुरु, पारिवारिक प्रमुख इत्यादि होते हैं। ऐसे राजनीतिक समाजों में लोगों की प्राथमिक निष्ठा और आस्था ऐसे ही परम्परागत शक्ति केन्द्रों में रहती है। व्यक्तियों के लिए इन शक्ति स्रोतों का महत्त्व ही नहीं होता है वरन लोग इनको श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। उदाहरण के लिए, भारत में स्वतन्त्रता के बाद अनेक वर्षों तक राजा-महाराजाओं व जातीय नेताओं का प्रभाव बना रहा था। राजनीतिक आधुनिकीकरण में सत्ता के इन परम्परागत स्रोतों का लोप होने लगता है। अगर यह समाज में बने भी रहते हैं तो भी इनकी शक्ति क्षीण हो जाती है और व्यक्ति इनके प्रति निष्ठा नहीं रखकर राष्ट्रीय राजनीतिक सत्ता के प्रति निष्ठावान बन जाते हैं। हण्टिंगटन ने राजनीतिक आधुनिकीकरण की इस विशेषता का उल्लेख करते हुए लिखा है कि आधुनिक राजनीतिक समाज में "धार्मिक, परम्परागत, पारिवारिक और जातीय सत्ताओं का स्थान एक लौकिकीकृत और राष्ट्रीय राजनीतिक सत्ता के द्वारा ले लिया जाता है।" कार्ल डायच ने इस विशेषता को सामाजिक संचालन का नाम देते हुए लिखा है कि "पुरानी सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक प्रतिबद्धताओं के प्रमुख पुंज क्षीण हो जाएँ या टूट जाएँ और व्यक्ति समाजीकरण और व्यवहार के नए प्रतिमान अपनाने के लिए उद्यमशील हो जाए" तो यह विकास राजनीतिक आधुनिकीकरण की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम होगा।

सत्ता के परम्परागत स्रोतों के निर्बल होने और उनके स्थान पर राष्ट्रीय राजनीतिक सत्ता की स्थापना, राजनीतिक आधुनिकीकरण की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण व मूलभूत विशेषता है। इसके अभाव में आधुनिकीकरण के अन्य सभी लक्षण प्रभावहीन बन जाते हैं। इसलिए ही राजनीतिक आधुनिकीकरण की संक्षिप्त परिभाषा करते हुए हण्टिंगटन ने लिखा है कि राजनीतिक आधुनिकीकरण 'परम्परागतता से मुक्ति' (disengagement from traditionalism) है। किसी भी समाज में परम्परागतता के निशानों का बना रहना ही आधुनिकीकरण का विलोम कहा जाता है। अत: राजनीतिक आधुनिकीकरण सत्ता के परम्परागत स्रोतों पर सत्ता के नये स्रोतों का आरोपण होना है। उदाहरण के लिए, विकासशील राज्यों में राजनीतिक आधुनिकीकरण के रास्ते में सबसे बड़ी रुकावट सत्ता के परंपरागत स्त्रोतों का मजबूती से अड़े रहना है। भारत में स्वतन्त्रता के तीस वर्ष बाद भी जातीय, धार्मिक और छोटे-मोटे राजा-महाराजाओं का काफी प्रभाव बना हुआ है। यद्यपि सत्ता के स्रोत भारत में क्षीण हो रहे हैं किन्तु सत्ता का नाटकीय स्थानान्तरण न होकर बहुत ही मंथर गति से रूपान्तरण हो रहा है। अनेक विकासशील राज्यों में सत्ता के परम्परागत स्रोतों की शक्तियुक्तता ही लोकतन्त्र की असफलता का प्रमुख कारण बन गई है।

(ङ) राजनीतिक संस्थाओं का विभिन्नीकरण और विशेषीकरण (The differentiation and specialisation of political institutions)–राजनीतिक आधुनिकीकरण की एक विशेषता में हम यह विवेचन कर चुके हैं कि राजनीतिक व्यवस्था (केन्द्र) और समाज (परिसर) की सम्पर्कता में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। सरकार राजनीतिक क्षेत्र से आगे बढ़कर आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यों का निष्पादन करने लगती है। सरकार के कार्यों में वृद्धि के कारण आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाएँ अत्यधिक पेचीदा हो जाती हैं। इनकी जटिलता के साथ ही साथ कार्यों का क्षेत्र वृहत्तर होने लगता है तथा इसके लिए कार्यदक्षता विशेष ज्ञान के आधार पर सम्भव हो सकती है। इस कारण, सरकारों को अपने वृद्धिपरक कार्यों के सुचारु संचालन के लिए न केवल संस्थागत व्यवस्थाओं का विभिन्नीकरण करना आवश्यक हो जाता है, अपितु उनमें कार्यात्मक विशेषता लाना भी अनिवार्य लगने लगता है। संस्थाओं के विभिन्नीकरण और विशेषीकरण के बिना यह सम्भव हो ही नहीं सकता है कि सरकारें वे सब कार्य ठीक ढंग से कर सकें जिन्हें करने के लिए आधुनिक समाजों में उन्हें उत्तरदायित्व सौंपा जाता है।

नोट

अत: आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाओं में राजनीतिक संस्थाओं का विभिन्नीकरण और विशेषीकरण होना अनिवार्य है। यह दोनों व्यवस्थाएँ एक साथ चलने वाली हैं। विभिन्नीकरण से विशेषीकरण को व्यावहारिक बनाना सम्भव है। अन्यथा, विशेषीकरण होना अनिवार्य है। यह दोनों व्यवस्थाएँ एक साथ चलने वाली हैं। विभिन्नीकरण से विशेषीकरण को व्यावहारिक बनाना सम्भव है। अन्यथा, विशेषीकरण होने पर भी संस्थागत व्यवस्थाओं को पृथक्-पृथक् नहीं किया गया तो यह व्यवहार में नहीं आ सकेगा। विकासशील राज्यों में इसी कठिनाई का सामना हर देश को करना पड़ रहा है। इन देशों में राजनीतिक संरचनाओं के विभिन्नीकरण में तो कोई कठिनाई नहीं है किन्तु इन विभिन्नीकृत संस्थाओं के लिए विशेषज्ञ कार्मिकों (Specialized personnel) का अभाव है। इसी कारण, विकासशील देशों में आर्थिक दृष्टि से आधुनिकीकरण और राजनीतिक आधुनिकीकरण में बेमेलता बनी हुई है।

विकासशील राज्यों में तुलनात्मक अध्ययन, राजनीतिक संस्थाओं के विभिन्नीकरण और विशेषीकरण के बहुत सीमित स्तर तक ही होने के कारण, सम्भव ही नहीं हो पाते हैं। विशेषकर व्यष्टि-स्तर (Micro-level) के अध्ययन तो करीब-करीब असम्भव-से ही लगते हैं। इस कठिनाई के कारण विकासशील देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं का विकसित राज्यों की राजनीतिक व्यवस्थाओं से तुलनात्मक अध्ययन वर्तमान परिस्थितियों में तो किए ही नहीं जा सकते हैं। यही कारण है कि अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने विकासशील राज्यों की राजनीतिक व्यवस्थाओं या संस्थाओं का अलग-अलग ही अध्ययन करना वर्तमान परिस्थितियों में अधिक उपयोगी माना है।

(च) राजनीति में जनसाधारण की बढ़ी हुई सहभागिता (Increased popular participation in politics)–राजनीतिक आधुनिकीकरण के लिए संस्थात्मक और प्रक्रियात्मक परिवर्तन ही पर्याप्त नहीं है। संस्थाओं और प्रक्रियाओं में जन-सहभागिता कितनी है यह भी राजनीतिक आधुनिकीकरण का एक महत्त्वपूर्ण मानदण्ड है। विकासशील राज्यों में जनसाधारण को संस्थागत व्यवस्थाओं और प्रक्रियात्मक विकासों के माध्यमों के विकास के कारण राजनीति में सहभागी होने के अवसर व साधन तो उपलब्ध हैं, किन्तु लोगों के राजनीति के प्रति उदासीन रहने के कारण उसमें जनसहभागिता नहीं बढ़ती है। इसके लिए जन-संचालन आवश्यक है। जब तक जन-संचालन नहीं होता है, राजनीतिक आधुनिकीकरण व्यावहारिक रूप नहीं ले पाता है। सर्वसाधारण की राजनीति में सहभागिता राजनीतिक आधुनिकीकरण की ऐसी पूर्व शर्त है जिसके अभाव में अन्य विकास निरर्थक से बन जाते हैं।

राजनीतिक व्यवस्था में लाभों का वितरण सब वर्गों व समाज में सब भागों में तभी हो सकता है जब जनसमुदाय राजनीतिक प्रक्रियाओं में सक्रिय हो और उत्तरदायित्वपूर्ण रूप से उसमें सहभागी बने। विकासशील राज्यों में दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ जन-सहभागिता के सम्बन्ध में देखने को मिलती हैं। कुछ राज्यों में तो सहभागिता सब सीमाओं को पार करके अराजकता की अवस्था तक राजनीतिक व्यवस्थाओं को धकेलने लगी है। उदाहरण के लिए, 26 जून 1975 तक भारत में ऐसी ही सहभागिता होने लगी थी। दूसरी तरफ, अनेक देश ऐसे हैं जहाँ पर नागरिक राजनीतिक व्यवस्था के प्रति इतने उदासीन व निष्क्रिय हैं कि सहभागिता के सबसे महत्त्वपूर्ण अवसर निर्वाचन तक का उपयोग नहीं करते हैं। उनका मताधिकार निरर्थक ही रहता है।

अत: राजनीतिक आधुनिकीकरण के लिए संरचनात्मक और प्रक्रियात्मक व्यवस्थाओं की स्थापना या विकास ही काफी नहीं रहता है। इसके लिए जनता की उत्तरदायी सहभागिता आवश्यक है। यहाँ केवल सहभागिता ही पर्याप्त नहीं है। सहभागिता ऐसी होनी चाहिये जिसमें व्यक्ति अपने दायित्वों को समझते हुए सहभागी बने। विकासशील राज्यों में राजनीतिक सहभागिता को संस्थागत रूप में हित व दबाव समूहों द्वारा अनेक स्तरों पर सम्भव बनाया जाता है, किन्तु इन देशों में ट्रेड यूनियनें, राजनीतिक दल और हित समूह ही सहभागिता को गलत ढंग से निष्पादित कराने के प्रेरक हैं। इसलिये राजनीतिक आधुनिकीकरण में जनसाधारण की बढ़ी हुई सहभागिता ही काफी नहीं है। यह सहभागिता उत्तरदायित्वपूर्ण भी होनी चाहिए अन्यथा राजनीतिक व्यवस्था पर अनुचित व गलत दबाव पड़ने लगेंगे और राजनीतिक व्यवस्था टूट जाएगी। विकासशील देशों में अस्थायित्व व सरकारों के उलटफेर का यही प्रमुख कारण रहा है। इन देशों में या तो सहभागिता का पूर्ण अभाव है या यह संस्थागत व प्रक्रियात्मक व्यवस्थाओं की सब सीमाओं को पार कर जाती है। दोनों ही परिस्थितियाँ राजनीतिक आधुनिकीकरण से अधिक राजनीतिक पतन की व्यवस्थाएँ बन जाती हैं।

(छ) व्यक्तियों का सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था से सर्वाधिक अभिज्ञान (Greater identification of individuals with the political system as a whole)—राजनीतिक आधुनिकीकरण वाली राजनीतिक व्यवस्थाओं में व्यक्तियों की अभिवृत्तियों में परिवर्तन आना अधिक महत्त्व रखता है। जब तक मनुष्यों के विचारों और दृष्टिकोण में परिवर्तन नहीं आता है तब तक राजनीतिक आधुनिकीकरण की संरचनात्मक और प्रक्रियात्मक व्यवस्थाएँ औपचारिक ही बनी रहती हैं। राजनीतिक आधुनिकीकरण के ऊपरी ढाँचे में तथ्यता का समावेश व्यक्तियों के दृष्टिकोण में परिवर्तन आने पर ही होता है। जब तक व्यक्ति राष्ट्रीय अभिज्ञान या राष्ट्रीयता के विचार से युक्त नहीं होंगे तब तक राज्य और राजनीतिक व्यवस्था में उनको अपनापन नहीं लगेगा। इस अपनेपन के अभाव में व्यक्तियों की निष्ठा किसी और स्थान से प्रतिबद्ध रहेगी। इससे राजनीतिक आधुनिकीकरण के अन्य लक्षण खोखले होकर रह जाएँगे। अत: राजनीतिक व्यवस्थाओं के आधुनिकीकरण के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति की सर्वाधिक निष्ठा राजनीतिक व्यवस्था के भागों से अधिक सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था से होती जाए। ऐसा अभिज्ञान एकीकरण का माध्यम बनता है और इससे सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था में एक ऐसी बन्धनकारी धारा प्रवाहित होने लगती है जिससे व्यक्ति परस्पर अपनेपन में बँधकर सक्रिय रहने लगते हैं।

इसी तथ्य को दूसरी तरह से कहना चाहें तो यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक आधुनिकीकरण वाली राजनीतिक व्यवस्था में व्यक्तियों की मनोवृत्ति में राष्ट्रीय व्यवस्था की धारणा गहरी जम जाती है। उनको अन्य राजनीतिक संस्थाओं के लगाव व निष्ठाओं से उपर उठाने की अवस्था ही राजनीतिक आधुनिकीकरण की अवस्था है। विकासशील देशों को राष्ट्रीय आन्दोलन के समय इस प्रकार की अभिवृत्तियुक्त कहा जा सकता है। किन्तु, स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद लगावों व अभिज्ञानों की अन्य संस्थाओं के महत्त्वपूर्ण बन जाने के कारण, इन देशों में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में शिथिलता आई है। राजनीतिक आधुनिकीकरण वाले समाज में व्यक्ति पहले अपने आपको राष्ट्रीय व्यवस्था के रूप में पहचानता है और बाद में अन्य अभिज्ञान की संस्थाओं से अपने को जोड़ता है। उदाहरण के लिए, भारत को राजनीतिक दृष्टि से आधुनिकीकृत कहने की अवस्था तब आएगी जब भारत का हर नागरिक अपने आपको पहले भारतीय और बाद में बंगाली, गुजराती या पंजाबी मानने की अभिवृत्ति से युक्त होगा। आज भारत के किसी नागरिक से पूछा जाए कि तुम कौन हो, तो उसका उत्तर राष्ट्रीय संस्थाओं को छोड़कर अन्य संस्थाओं के साथ अभिज्ञान के रूप में ही होगा। भारत का हर नागरिक जब तक स्वभावत: अपने आपको भारतीय न मानने लगे तब तक यहाँ राजनीतिक आधुनिकीकरण का सम्पूर्ण संरचनात्मक जाल औपचारिक ही बना रहेगा।

कुछ विद्वानों का कहना है कि राजनीतिक आधुनिकीकरण का यह लक्षण सर्वाधिक महत्त्व रखता है। इसी के कारण व्यक्ति राजनीतिक व्यवस्था का सही अर्थों में प्रभावी घटक बन पाता है। राजनीतिक व्यवस्था से लगाव होना विशेष आवश्यक नहीं है। इसी तरह, राजनीतिक संरचनाओं में निष्ठा हो यह भी बहुत जरूरी नहीं है, किन्तु सम्पूर्ण शासन व्यवस्था से अभिज्ञान आवश्यक है। अन्यथा समाज में न कोई बन्धनकारी शक्ति होगी और न ही राजनीतिक व्यवस्था में सहभागिता की अन्त:प्रेरणा उत्पन्न होगी। इसके अभाव में व्यक्ति राजनीतिक संस्थाओं से ही नहीं, राजनीतिक प्रक्रियाओं से भी दूर रहने लगता है। यह इनसे उदासीन बन जाता है जो अन्तत: निराशा लाती हैं और इससे राजनीतिक आधुनिकीकरण की सम्पूर्ण प्रक्रिया ही ठप्प-सी लगने लगती है। अत: राजनीतिक आधुनिकीकरण *के लिए व्यक्तियों का सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था से सर्वाधिक अभिज्ञान आवश्यक ही नहीं अनिवार्य-सा है।*

(ज) वृहत्तर व व्यापक आधार वाली नौकरशाही (Broad-based and enlarged bureaucracies)—राजनीतिक आधुनिकीकरण वाले राजनीतिक समाज में सरकार के कार्यों में वृद्धि हो जाती है। अनेकों नई संस्थाएँ और संरचनाएँ स्थापित हो जाती हैं। आधुनिकीकरण के कारण आर्थिक विकास के नए दायित्व भी सरकार पर आ जाते हैं। इन सबको निष्पादित करने के लिए नौकरशाही का आकार आवश्यक रूप से वृहत्तर हो जाता है। उदाहरण के लिए, भारत को जब 1947 में स्वतंत्रता मिली उस समय की नौकरशाही के कार्मिकों की संख्या और 1977 में लोक-प्रशासन में लगे व्यक्तियों की संख्या में बीस गुणा वृद्धि इस बात की पुष्टि है कि यहाँ राजनीतिक आधुनिकीकरण की प्रक्रियाएँ चल रही हैं।

राजनीतिक व्यवस्थाओं को केवल नौकरशाही के वृहत्तर आकार के आधार पर ही आधुनिक नहीं कहा जाता है। वास्तव में आधुनिकीकरण के लिए नौकरशाही के आकार के बढ़ाने से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण उसके आधार

का व्यापकन है। व्यापक आधार का अर्थ यह है कि नौकरशाही के कर्मचारियों में सारे समाज में से भर्ती होने की केवल प्रक्रियात्मक व्यवस्था ही नहीं हो, अपितु प्रशासक वास्तव में समाज के सभी वर्गों से आ सकें, इसकी व्यवस्था है। इसको चित्र 3.2 द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है।

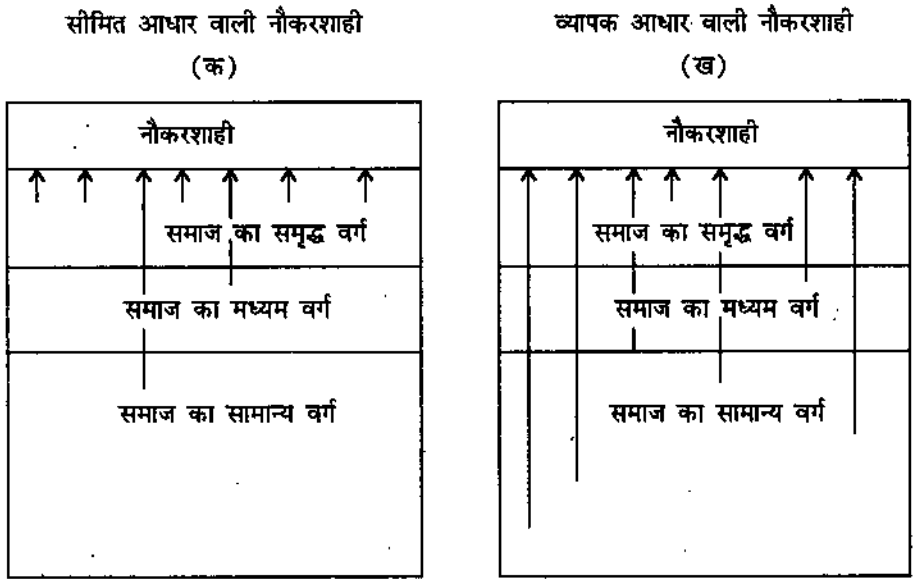

चित्र 3.2 नौकरशाही के समाज में आधार

चित्र 3.2 के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाएगा कि 'क' चित्र में प्रशासन के कर्मचारी समृद्ध वर्ग से ही आते हैं। कुछ कार्मिक मध्यम वर्ग व बहुत कम कर्मचारी सामान्य वर्ग के केवल ऊपर वाले भाग से आते हैं। यह सीमित आधार वाली नौकरशाही है। 'ख' चित्र प्रशासन के कर्मचारी सभी वर्गों से आते हैं और सबसे बड़े सामान्य वर्ग से सर्वाधिक कार्मिक आते हैं। ऐसी नौकरशाही व्यापक आधार वाली होगी। राजनीतिक आधुनिकीकरण के लिए नौकरशाही का ऐसा ही व्यापक आधार आवश्यक है। इससे सम्पूर्ण समाज लोक प्रशासन में सम्मिलित हो जाता है। विकासशील राजनीतिक व्यवस्थाओं में प्रशासन के आकार की वृद्धि के साथ ही साथ नौकरशाही के कार्मिकों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हो गई है, किन्तु नौकरशाही के अधिकांश कर्मचारी केवल ऊपर के तबके से ही आते हैं। उदाहरण के लिए, भारत की उच्चतर सेवाओं–भारतीय प्रशासकीय सेवा, भारतीय विदेश सेवा और भारतीय पुलिस सेवा (IAS, IFS and IPS) के दो-तिहाई कार्मिक रक्त सम्बन्धों से सम्बन्धित पाए गए हैं। इससे स्पष्ट है कि इन सेवाओं से अधिकांश व्यक्ति ऊपर के वर्गों व समाज के समृद्ध तबकों से ही आते हैं। अतः राजनीतिक आधुनिकीकरण के लिए यह आवश्यक है कि नौकरशाही का वृहत्तर आकार ही नहीं हो अपितु उसका आधार भी व्यापकतम होना चाहिए।

विकासशील राज्यों में नौकरशाही अभिजन (Bureaucratic elite) अपना एक अलग ही वर्ग बना लेते हैं और वे इसको इतना बन्द बना लेते हैं कि सामान्यतया नीचे के वर्गों से उसमें कोई प्रवेश पा ही नहीं सकता। यही कारण है कि भारत में पिछड़े वर्गों, अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए इन सेवाओं में स्थान सुरक्षित रखने की व्यवस्था है जिससे नौकरशाही व्यापक आधार वाली बन सके। अधिकांश विकासशील राज्यों में (उदाहरण के लिए अफ्रीका, मध्य-पूर्व तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया व लेटिन अमरीका में) नौकरशाही ने राजनीतिक आधुनिकीकरण में सबसे बड़ी दीवार इस रूप में खड़ी कर रखी है कि स्वयं नौकरशाही द्वारा नौकरशाही का व्यापक आधार नहीं होने दिया जाता है। अतः नौकरशाही के व्यापक आधार को होना राजनीतिक आधुनिकीकरण के लिए अनिवार्य है। राजनीतिक आधुनिकीकरण की विभिन्न विशेषताओं के विवेचन से स्पष्ट है कि इन विशेषताओं की कोई पूर्ण सूची बनाना सम्भव नहीं है। राजनीतिक आधुनिकीकरण, आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का एक भाग होते हुए भी स्वयं भी

नोट

उतना ही व्यापक हो जाता है। सकारात्मक राज्य के उदय और लोक-कल्याण की साधना के लक्ष्यों ने राजनीतिक व्यवस्था का प्रसार और विस्तार इतना अधिक कर दिया है कि मानव जीवन का सभी गतिविधियों का राजनीतिकरण-सा हो गया है। इसलिए राजनीतिक आधुनिकीकरण की उपरोक्त विशेषताएँ सामान्य लक्षणें का ही संकेत करती हैं। इनके अलावा भी अनेक विशिष्ट विशेषताएँ देखी जा सकती हैं, किन्तु हमने केवल उन्हीं सामान्य विशेषताओं का उल्लेख करना उपयुक्त समझा जो राजनीतिक आधुनिकीकरण में मूलभूत महत्त्व रखती हैं। अगर राजनीतिक आधुनिकीकरण के लक्षणों को हम केवल संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करना चाहें तो यह तीन भागों– (क) बुद्धिसंगत सत्ता (rationalized authority), (ख) विभिन्नीकृत राजनीतिक संरचनाएँ, (differentiated political structures), और (ग) राजनीतिक सहभागिता (political participation) में ही उल्लेखित किए जा सकते हैं।

इन तीन लक्षणों में ऊपर लिखे गये सभी लक्षण समाहित लगते हैं। वास्तव में राजनीतिक आधुनिकीकरण में सत्ता की बुद्धिसंगतता, राजनीतिक संरचनाओं का विभिन्नीकरण और राजनीतिक समाज में सत्ता का आधार तर्कसंगत है तो इससे अपने आप ही राजनीतिक संरचनाओं का विभिन्नीकरण हो जाएगा और व्यवस्था में जन-सहभागिता बढ़ जाएगी।

3.4 संचार (Communication)

प्रसिद्ध अमरीकी गणितज्ञ **नारबर्ट वीनर** को संचार सिद्धान्त का प्रवर्तक माना जाता है। वीनर ने सन्देश सिद्धान्त (Theory of Messages), साइबरनेटिक्स (Cybernetics) तथा फीडबेक सिस्टम (Feedback system) के आधार पर संचार सिद्धान्त का विकास किया। राजनीति विज्ञान तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में संचार सिद्धान्त को लागू करने का श्रेय **हार्वर्ड प्रोफेसर कार्ल डायच** को है। इस दृष्टि से डायच की कृति 'दि नर्व्ज ऑफ गवर्नमेण्ट' (*The Nerves of Government*) विशिष्ट महत्त्व की रचना है। इसके अतिरिक्त, डायच का शोध लेख–'कम्युनिकेशन मोडेल्स एण्ड डिसीजन सिस्टम' जो कि **जेम्स सी. चार्ल्सवर्थ** द्वारा सम्पादित पुस्तक 'कण्टेम्परी पालिटिकल एनालिसिस' में प्रकाशित हुआ है–उसके विचारों को विस्तार से स्पष्ट करता है। संचार सिद्धान्त निर्णयों के परिणामों में उतनी रुचि नहीं लेता जितनी उसके निर्माण की प्रक्रिया में–यह शायद साइबरनेटिक्स के प्रतिरूप के अनुकूल ही है क्योंकि उसमें भी लक्ष्य से अधिक महत्त्व संचालन और समायोजन की प्रक्रियाओं को दिया जाता है।

कार्ल डायच संचार सिद्धान्त की अपनी व्याख्या का आरम्भ ही संचार अभियान्त्रिकी (Communication engineering) और शक्ति अभियान्त्रिकी (Power engineering) में अन्तर बताने से करता है। डायच लिखता है कि शक्ति अभियान्त्रिकी में परिवर्तन प्रायः उसी अनुपात में होता है जिसमें शक्ति का उपयोग होता है। इसके विपरीत, संचार अभियान्त्रिकी में थोड़ी-सी शक्ति का प्रयोग भी कभी 'सन्देश' के 'प्राप्तकर्ता' की स्थिति में बहुत भारी परिवर्तन ले आता है। ऐसे परिवर्तन प्रयोगों में लायी गयी शक्ति के अनुपात में सहस्रों गुना बड़े होते हैं। संचार सिद्धान्त का समस्त आधार परिवर्तन पर है। परिवर्तन शक्ति के द्वारा लाया जाता है, परन्तु यह प्राप्त सूचना और उस पर अमल करने पर निर्भर रहता है। इसकी तुलना उस सूचना से की जा सकती है जो बन्दूक की नली को किसी निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर मोड़ देने के लिए आवश्यक होती है। बन्दूक का कुन्दा दबाने में प्रायः कुछ भी शक्ति नहीं लगती, परन्तु जिस लक्ष्य की ओर बन्दूक का निशाना होता है उस पर जोरदार प्रभाव पड़ता है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संकेत को ले जाने के लिए कितनी शक्ति की आवश्यकता पड़ेगी, यह जानना उतना लाभदायक नहीं है जितना यह कि उसके उपयोग का परिणाम क्या निकला।

संचार सिद्धान्त प्रशासन को विभिन्न सूचना प्रवाहों के आधार पर स्थित निर्णय निर्माण की एक व्यवस्था मानता है। संचार सिद्धान्त का आधार दो प्रकार की संकल्पनाओं पर टिका हुआ है–प्रथम, वे संकल्पनाएँ जिनका सम्बन्ध संचार का संचालन करने वाली संरचनाओं से है, और द्वितीय, वे संकल्पनाएँ जिनका लक्ष्य विभिन्न प्रकार के प्रवाहों और प्रक्रियाओं को समझना है। पहले वर्ग में वे संरचनाएँ आती हैं जिन्हें हम स्वागतकर्ताओं

नोट

(receptors) या स्वागत व्यवस्थाओं (reception systems) का नाम दे सकते हैं। दूसरा वर्ग, जिसका सम्बन्ध सूचना प्रवाहों से है, अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रवाह की इस संकल्पना के साथ अन्य संकल्पनाएँ जैसे चैनल (Channels), भार (Load) और भारवाहिनी क्षमता (Load Capacity) जुड़ी हुई हैं।

डायच का विचार है कि सूचना का मापतौल और उसकी गिनती की जा सकती है और भेजी गयी सूचना किस मात्रा में सही या विकृत रूप में प्राप्त की जा रही है उसका अनुमान लगाने के लिए सम्प्रेषण सारणियों की उपलब्धि, क्षमता अथवा मर्यादा का परिमाणात्मक रूप से अध्ययन किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में जान पड़ता है कि डायच पर विद्युत अभियान्त्रिकी (Electrical engineering) के क्षेत्र में किए गए गणित पर आधारित उच्चस्तरीय परिमापन का काफी प्रभाव है। डायच ने समूहों और समाजों, राज्यों और अन्तर्राष्ट्रीय समाजों, सभी प्रकार के संगठनों की संश्लिष्टता का मापन करने के लिए सूचना प्रवाहों के अध्ययन की पद्धति का प्रयोग किया है।

नकारात्मक प्रतिसम्भरण (negative feedback) को डायच के संचार सिद्धान्त की आत्मा माना जाता है। नकारात्मक प्रतिसम्भरण से उसका अर्थ उन प्रतिक्रियाओं से जिनके माध्यम से निर्णयों और क्रियान्वयन से उत्पन्न होने वाले परिणामों की सूचना व्यवस्था में इस ढंग से प्रवेश करती हैं कि वह व्यवस्था को अप्रयास ही ऐसी दिशा में मोड़ देती हैं जो उसे सम्बद्ध लक्ष्यों की प्राप्ति के अधिक निकट ले जा सके। संचार सिद्धान्त की मूल मान्यता यह है कि लक्ष्यों तक पहुंचने के लिए प्रतिसम्भरण का पर्याप्त मात्रा में होना आवश्यक है।

एक अच्छी व्यवस्था की पहचान यही है कि वह सूचना को अविकृत रूप में और ठीक समय पर प्राप्त कर सके और उसके आधार पर अपनी स्थिति और व्यवहार में समय रहते आवश्यक और पर्याप्त परिवर्तन ला सके। डॉयच मानता है कि राजनीतिक व्यवस्था में भी यही सारी प्रक्रिया उतनी ही सरल और व्यवस्थित होनी चाहिए जितनी किसी जीवित प्राणी की तन्त्रीय व्यवस्था में।

डायच ने संचार सिद्धान्त के विश्लेषण में चार परिमाणात्मक तत्व जोड़कर अपने संकल्पनात्मक ढांचे को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है। ये चार तत्व हैं—भार (Load), पश्चता (Lag), अभिलाभ (Gain) और उग्रता (Lead)। भार का अर्थ परिवर्तनों की उस व्यापकता और गति से है जो एक ऐसी व्यवस्था जो उद्देश्य को प्राप्त करना चाहती है, अपने लक्ष्यों की स्थिति में ला सकती है। पश्चता का अर्थ निर्णयों और कार्यों के परिणाम के सम्बन्ध में सूचना के समय पर और सही रूप में पहुंच जाने पर भी व्यवस्था के द्वारा उसे समझने अथवा उस पर सही कार्यवाही करने में शिथिलता से है। अभिलाभ का अर्थ है प्राप्त होने वाली सूचना के प्रति अनुक्रिया (response) का व्यापक और प्रभावशाली होना। अग्रता का अर्थ है कि अपनी प्रस्तावित कार्यवाही के भावी परिणामों का पहले से ही अनुमान लगाकर व्यवस्था इस ढंग से कायम करे कि यह निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त कर सके।

डायच प्रतिसम्भरण के प्रतिरूप को परम्परागत विश्लेषण की तुलना में अधिक श्रेष्ठ मानता है। क्योंकि उसके द्वारा राजनीतिक व्यवस्थाओं की कार्यविधियों के सम्बन्ध में बहुत-से ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न पूछे जा सकते हैं जो विश्लेषण की परम्परागत पद्धतियों से सम्भव नहीं हैं। प्रशासन के लिए यह सम्भव होना चाहिए कि वह देश की आन्तरिक अथवा अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों में सम्भावित परिवर्तनों का समय पर और ठीक से जायजा ले सके, जिससे वह उनके सम्बन्ध में समुचित व्यवस्था कर सके। संचार सिद्धान्त की सहायता से प्रशासन इस बात का भी अन्दाज लगा सकते हैं कि राजनीतिक नेतृत्व, हित समूहों, राजनीतिक संगठनों अथवा सामाजिक वर्गों का अनेक निर्णय-व्यवस्थाओं पर किसी विशेष अवसर पर कितना भार पड़ रहा है।

डायच यह भी मानता है कि संचार सिद्धान्त किसी भी राजनीतिक व्यवस्था की मात्रा (degree of capability) के सम्बन्ध में सुनिश्चित सूचना दे सकता है। सुनिश्चित इस कारण कि उसका आधार परिमाणीकरण पर है, न कि ज्ञात और अज्ञात तत्वों के एक अनिश्चित ढेर पर। वह इस सिद्धान्त से यह भी अपेक्षा रखता है कि सहराज्य को अपने लक्ष्यों में परिवर्तन करने और अनुभव से सीखने की क्षमता भी प्रदान करे। इस संकल्पनाओं को अपने लक्ष्य परिवर्तन प्रतिसम्भरण (goal changing feedback) और अधिगम (learning) का नाम दिया है।

नोट

3.5 संचार साधनों का योगदान व प्रचार की भूमिका (Contribution of Means of Communication and Role of Propaganda)

संचार साधनों के विकास ने कार्यपालिका को सीधे जन-सम्पर्क में ला दिया है। रेडियो, टेलीविजन (दूरदर्शन), टेलीफोन तथा प्रेस के माध्यम से कार्यपालिका अपने हर कार्य के लिए जनता के प्रति सीधा उत्तरदायित्व निभाने लगी है। कार्यपालिका की शक्तियों में वृद्धि के इस तथ्य की तरफ राजनीतिशास्त्र के विद्वानों का ध्यान अभी तक कम ही गया है। परन्तु मेरी दृष्टि में कार्यपालिका को शक्ति केन्द्र बनाने में संचार के साधनों व प्रचार (propaganda) का सर्वाधिक योग रहता है। आज राष्ट्रपति व प्रधानमन्त्री हर देश में बार-बार जनता को रेडियो के द्वारा सम्बोधित करने लगे हैं। दूरदर्शन के माध्यम से कार्यपालिका अध्यक्ष जनता के सामने पेश होने लगे हैं। जिन देशों में संचार साधनों पर सरकारी नियन्त्रण नहीं होता वहाँ भी कार्यपालिका का प्रचार सर्वाधिक होता है। संचार साधनों ने कार्यपालिका को हर बात में जनता के निकटतम ला दिया है। कार्यपालिका व जनसाधारण के बीच यह सम्पर्कता तथा कार्यपालिका के पक्ष में प्रचार, हर देश के मुख्य कार्यपालकों को शक्ति केन्द्र बनाने में सहयोगी रहा है। **एलेन बाल** ने इस सम्बन्ध में ठीक ही लिखा है कि, 'जनसम्पर्क माध्यमों का उपयोग करने के अवसर तथा प्रचार की सुविधा कार्यपालिका शक्ति को मजबूत बनाने वाला महत्त्वपूर्ण घटक है—टेलीविजन का इस्तेमाल करने में दगाल उस्ताद थे और अपने द्विवर्षीय प्रेस सम्मेलनों को करने में वह सावधानी बरतते थे।' इससे आम जनता पर बहुत गहरी छाप पड़ती है। उनके लिए कार्यपालिका ही सब कुछ बन जाती है।

कार्यपालिका व विशेषकर मुख्य कार्यपालक का महत्त्व इतना बढ़ गया है कि सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था में वह ही चेतना-केन्द्र हो गया है। उपरोक्त तथ्यों ने अवश्य ही कार्यपालिका में शक्ति केन्द्रण को प्रोत्साहित किया है। इनके अलावा भी अनेक बातें ऐसी हैं जिनसे कार्यपालिकाओं का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। मुख्य कार्यपालकों का व्यक्तित्व, सरकार के अन्य सदस्यों के साथ उनका सम्बन्ध, राष्ट्र के लिए कुछ कर गुजरने का उनका निश्चय, जन कल्याण के लिए साधन जुटाने में उद्यमशीलता, कार्यपालिका की स्थिरता, कार्यपालकों की कूटनीतिज्ञता तथा हर परिस्थिति का चतुराई व कभी-कभी चालाकी से सामना करने की दक्षता ने कार्यपालकों को राजनीतिक मंच का 'रिंग मास्टर' बनाने में सहायता की है। **ला पालोम्बारा** ने तो यहाँ तक लिखा है कि, कार्यपालकों की शक्ति में वृद्धि का कारण उनकी चालबाजी, जोड़-तोड़ व कपट-प्रबन्ध करने की क्षमता व योग्यता है।

मुख्य कार्यपालक व्यवस्थापिकाओं का सहयोग प्राप्त करने की क्षमता रखता है। उनको धमकी तक देने में नहीं हिचकिचाता है, उनको अपंग बनाकर इन्हें उससे सहयोग करने के लिए मजबूर कर सकता है। अमरीका के राष्ट्रपति **फ्रेंकलिन डेलेना रूजवेल्ट** व **ट्रूमेन** ने ऐसा अनेक बार किया था। इन सब तथ्यों के अलावा एक बात निर्विवाद है कि कार्यपालक ही देश का नेता, राष्ट्र का प्रतीक, सरकार का अधिकृत प्रवक्ता, राजनीतिक व्यवस्था का संयोजक व समाज की एकता तथा राष्ट्र के अहं का रक्षक होता है। अतः कार्यपालकों का बढ़ता हुआ महत्त्व व उनके पद में अप्रत्याशित, शक्ति केन्द्रण वर्तमान परिस्थितियों का स्वाभाविक परिणाम है।

छात्र क्रियाकलाप

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए संचार सिद्धांत की भूमिका का संक्षिप्त विवरण दें।

2. संचार साधनों के प्रचार एवं योगदान की भूमिका का संक्षिप्त विवरण दें।

नोट

3.6 सारांश (Summary)

- राजनीतिक आधुनिकीकरण के लिए संरचनात्मक और प्रक्रियात्मक परिवर्तन ही पर्याप्त नहीं है। संरचनाओं और प्रक्रियाओं में जन-सहभागिता कितनी है यह भी देखना महत्त्वपूर्ण है।
- विकासशील राज्यों में जनसाधारण को संस्थागत व्यवस्थाओं और प्रक्रियात्मक विकासों के माध्यमों के विकास के कारण राजनीति में सहभागी होने का अवसर व साधन तो उपलब्ध हैं किन्तु लोगों में राजनीति के प्रति उदासीन रहने के कारण उसमें जनसहभागिता नहीं बढ़ती है। इसके लिए जनसंचालन आवश्यक है। सहभागिता ऐसी होनी चाहिए जिसमें व्यक्ति अपने दायित्वों को समझते हुए सहभागी बने।
- संचार सिद्धांत प्रशासन को विभिन्न सूचना प्रवाहों के आधार पर स्थित निर्णय निर्माण की एक व्यवस्था मानता है।
- संचार साधनों ने कार्यपालिका को हर बात में जनता के निकट ला दिया है। कार्यपालिका व जनसाधारण के बीच यह संपर्कता तथा कार्यपालिका के पक्ष में प्रचार, हर देश के मुख्य कार्यपालिकाओं की शक्ति केन्द्र बनाने में सहयोगी रहा है।

अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)

1. राजनीति में जनता की भागीदारी की भूमिका का वर्णन करें।
2. संचार सिद्धांत की अवधारणा को समझाएँ।
3. राजनीति में संचार की भूमिका क्या है?

संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)

1. तुलनात्मक राजनीति–प्रो. रामानन्द गैरोला।
2. तुलनात्मक राजनीति–सी. वी. गेना, विकास पब्लिशिंग हाउस।
3. तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीति विश्लेषण–डॉ. डी. एस. यादव।

इकाई–IV

राजनीतिक संघर्ष
(Political Conflict)

संरचना (Structure)

4.1 उद्देश्य (Objectives)
4.2 प्रस्तावना (Introduction)
4.3 संघर्ष और संघर्ष निवारण (Conflict and Conflict Resolution)
4.4 मैत्रीपूर्ण साधन (Amicable Means)
4.5 सारांश (Summary)
- अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)
- संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)

4.1 उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- राजनीतिक संघर्ष के अर्थ को समझने में।
- इस संघर्ष का निवारण किस प्रकार किया जाता है जानने में।
- राज्यों या राष्ट्रों के बीच विवाद का निपटारा मैत्रीपूर्ण ढंग से करने के उपायों को समझने में।

4.2 प्रस्तावना (Introduction)

जिस प्रकार व्यक्तियों के बीच विवाद पैदा होते हैं और उनका निपटारा शान्तिपूर्ण ढंग से आपसी बार्ता, पंचनिर्णय अथवा न्यायालय द्वारा किया जाता है, उसी प्रकार राष्ट्रों के बीच भी मतभेद एवं विवाद उत्पन्न होना संभव है। प्राचीन काल तथा मध्य काल में दो राष्ट्रों के मध्य झगड़ों का निपटारा अधिकांश रूप से युद्ध के द्वारा ही होता था, परन्तु आधुनिक काल में वैज्ञानिक आविष्कारों ने युद्ध को अति भीषण बना दिया है। विश्व में गुटबन्दी के फलस्वरूप दो राष्ट्रों का विवाद विश्व-युद्ध का रूप धारण कर सकता है।

4.3 संघर्ष और संघर्ष निवारण (Conflict and Conflict Resolution)

इस भीषण मानव संहार तथा विनाश से बचने के लिए विश्व के राजनीतिज्ञों ने युद्ध के अतिरिक्त झगड़ों के निपटाने के अन्य साधन भी खोज निकाले। युद्ध से बचने के लिए लगभग सभी राष्ट्र झगड़ों को निपटाने के लिए अन्य साधनों को अपनाने के लिए तैयार भी हो गये। **ओपेनहीम** के अनुसार, "साधारणतया राज्यों के मध्य दो प्रकार के विवाद–कानूनी तथा राजनीतिक–ही होते हैं। इन कानूनी तथा राजनीतिक विवादों का निपटारा मैत्रीपूर्ण तथा बाध्यकारी साधनों द्वारा ही किया जा सकता है।"

4.4 मैत्रीपूर्ण साधन (Amicable Means)

राष्ट्रों के बीच विवादों के हल के लिए मैत्रीपूर्ण साधनों द्वारा सद्भावना और अच्छी प्रेरणा द्वारा शान्तिपूर्ण रीति से समस्या का निराकरण प्रस्तुत किया जाता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की धारा 33 में स्पष्ट कहा गया है कि, "अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को संकट में डालने वाले किसी विवाद में दोनों पक्ष सर्वप्रथम वार्ता, जाँच, मध्यस्थता, संराधन, पंच-निर्णय, न्यायालय द्वारा निर्णय तथा अन्य शान्तिपूर्ण उपायों का आश्रय लेकर समस्या को हल करने का प्रयत्न करेंगे।" अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को निपटाने के लिए मैत्रीपूर्ण साधनों में प्रमुख साधन इस प्रकार हैं–

1. वार्ता (Negotiation)
2. संराधन (Conciliation)
3. सत्सेवाएँ तथा मध्यस्थता (Good Offices and Mediation)
4. पंच-निर्णय (Arbitration)
5. अन्तर्राष्ट्रीय जाँच आयोग (International Enquiry Commission)
6. अधिनिर्णय (Adjudication)
7. राष्ट्र संघ तथा संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा (Through the Machinery of League of Nations and U. N. O.)।

(1) समझौता वार्ता (Negotiation)–**फेनविक** का मत है कि दो देशों के बीच उत्पन्न होने वाले संघर्षों की समाप्ति के लिए 'वार्ता' का प्रयोग किया जा सकता है। वार्तालाप के द्वारा भ्रांतियाँ दूर करने, सन्देह मिटाने तथा अपने विचारों, उद्देश्यों एवं नीतियों को स्पष्ट करने का प्रयास किया जाता है ताकि कोई मतभेद अथवा मनमुटाव न रहे। इस प्रकार की वार्ता राज्यों के अध्यक्षों के बीच अथवा उनके प्रतिनिधियों के बीच हो सकती है। वर्तमान समय में इस प्रकार की वार्ता साधारणतया दो देशों के राजदूतों में की जाती है। वाद-विवाद को समाप्त करने के लिए दोनों देशों के बीच राजदूतों द्वारा पत्र-व्यवहार होता है। यही पत्र-व्यवहार वार्ता का आधार माना जाता है। उदाहरणार्थ, भारत-पाक विवाद के सम्बन्ध में पाकिस्तान के राष्ट्रपति और भारत के प्रधानमन्त्री के बीच 1 सितम्बर, 1959 को वार्ता हुई थी। इस वार्ता के सिलसिले में दोनों देशों के अध्यक्षों ने मन्त्रियों की एक परिषद् बुलाने का निश्चय किया था। 15 अक्टूबर से 22 अक्टूबर तक इस विषय में दोनों देशों के मन्त्रियों के बीच दिल्ली और ढाका में बातचीत हुई थी। इस बातचीत में सीमा सम्बन्धी विवाद का समाधान कर लिया गया था।

दिसम्बर 1971 में भारत तथा पाकिस्तान के मध्य युद्ध हुआ। युद्ध के कारण अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गयीं। भारत इनका हल सीधी समझौता वार्ता करके ही करना चाहता था। इसीलिए भुट्टो और श्रीमती गांधी के मध्य शिमला में वार्ता के बाद समझौता हुआ। 2 मार्च, 1987 को भारत व पाक के बीच राजस्थान सेक्टर से अपनी सेनाओं को 'सामान्य शान्ति क्षेत्र' में वापस लौटने पर समझौता हो गया। अमरीका तथा चीन के मध्य कई प्रश्नों को लेकर अप्रिय सम्बन्ध रहे हैं। फरवरी 1972 में अमरीका के राष्ट्रपति निक्सन तथा उनके प्रतिनिधि हेनरी किसिंजर ने चीन की यात्रा कर चाऊ एन लाई से सीधी वार्ता की। भारत और चीन में विवादों के समाधान के लिए 1982-87 की अवधि में कुल मिलाकर वार्ताओं के आठ दौर सम्पन्न हुए हैं।

समझौता वार्ता आवश्यक रूप से दोनों पक्षों के मतभेदों को दूर नहीं करतीं। इसकी तीन सम्भावनाएँ हैं: मतभेद कम हो जाएँ, कोई पक्ष अपने दावे कम कर दे, दोनों पक्ष अपनी बातों पर अड़े रहें। वार्ता चाहे सफल रहे अथवा असफल, इसका अपना महत्त्व है। इससे विश्व के जनमत के सामने यह प्रकट हो जाता है कि अमुक पक्ष ने वार्ता में पूरी रुचि दिखायी जबकि दूसरा पक्ष अपनी बात पर अड़ा रहा, जिसके फलस्वरूप ही युद्ध हुआ। कई बार शान्ति का ढोंग करने वाले राज्य भी विश्व लोकमत को अपने अनुकूल बनाने के लिए वार्ता के साधन का अवलम्बन करते हैं। युद्ध से पहले वार्ता द्वारा लड़ाई को रोकने का भरसक प्रयत्न किया जाता है। भारत-चीन युद्ध से पूर्व दोनों राष्ट्रों में कई वर्षों तक वार्ता चलती रही थी।

मैव्रोमेटिस पैलेस्टाइन कन्सैशन केस में **मूर** ने लिखा था–"अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अर्थ में 'वार्ता' एक कानूनी, व्यवस्थित और प्रशासनात्मक प्रक्रिया है। इसकी सहायता से राज्य की सरकारें अपनी असंदिग्ध शक्तियों का प्रयोग करते हुए एक-दूसरे के साथ अपने सम्बन्धों का संचालन करती हैं और मतभेदों पर विचार-विमर्श कर इनका व्यवस्थापन और समाधान करती हैं।"

(2) संराधन (Conciliation)–संराधन में वे विभिन्न प्रणालियाँ शामिल हैं जो तीसरे पक्ष द्वारा दो या अधिक राज्यों के विवादों को शान्तिपूर्वक हल करने के लिए अपनायी जाती हैं। **ओपेनहीम** के अनुसार, "यह विवाद के समाधान की ऐसी प्रक्रिया है जिसमें यह कार्य कुछ व्यक्तियों के आयोग को सौंप दिया जाता है। यह आयोग दोनों पक्षों का विवरण सुनता है तथा विवाद को तय करने की दृष्टि से तथ्यों के प्रकाश में अपना प्रतिवेदन देता है। इसमें विवाद के समाधानार्थ कुछ प्रस्ताव होते हैं। ये प्रस्ताव किसी पंचायत अथवा अदालती निर्णय की भाँति अनिवार्य रूप से मान्य नहीं होते।"

1899 तथा 1907 के हेग अभिसमय में संराधन के आयोगों द्वारा झगड़ों का शान्तिपूर्ण निपटारा अनुबन्धित है। **हडसन** के अनुसार, "संराधन की प्रक्रिया में तथ्यों का अन्वेषण और विरोधी दावों का समन्वय किया जाता है। उसके पश्चात् विवाद के समाधान के लिए प्रस्ताव बनाये जाते हैं। इन प्रस्तावों को स्वीकार करने अथवा न करने की स्वतन्त्रता दोनों पक्षों को होती है।"

संराधन का अर्थ है विवादग्रस्त पक्षों में समझौता कराना। इस दृष्टि से संराधन और मध्यस्थता में भेद कर सकना कठिन है। दोनों में भेद केवल यह है कि मध्यस्थता किसी राज्य अथवा व्यक्ति द्वारा की जाती है, परन्तु जाँच और संराधन का कार्य किसी निष्पक्ष अन्तर्राष्ट्रीय आयोग अथवा परिषद् द्वारा किया जाता है।

संराधन अन्तर्राष्ट्रीय जाँच आयोग से भिन्न है। जाँच आयोग का मुख्य उद्देश्य इस आशा से तथ्यों का विश्लेषण करना होता है कि इससे दोनों पक्ष स्वयमेव आपस में समझौता कर लेंगे, किन्तु संराधन का मुख्य लक्ष्य इस आयोग के प्रयत्नों द्वारा दोनों पक्षों में समझौता कराना है।

संराधन पंचनिर्णय से भी भिन्न है। संराधन के अन्तर्गत विभिन्न पक्ष इसके प्रस्तावों को स्वीकार करने या न करने के लिए पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हैं। दूसरी ओर पंचनिर्णय के अन्तर्गत सम्बन्धित पक्षों को पंचायत द्वारा निर्धारित निर्णय मानना ही पड़ेगा।

संराधन तथा मध्यस्थता के बीच भी अन्तर है। प्रथम के अन्तर्गत दोनों पक्ष अपना विवाद दूसरे व्यक्तियों को इसलिए सौंपते हैं ताकि वे तथ्यों की निष्पक्ष जाँच के बाद इसके समाधान के प्रस्ताव उपस्थित करें। यहाँ पहल विवाद के पक्षों द्वारा की जाती है। मध्यस्थता में पहलकर्ता तीसरा राज्य ही होता है। यह स्वयं विवाद के पक्षों के बीच वार्ता चलाकर विवाद को हल करना चाहता है।

संराधन के पालन का कोई उदाहरण नहीं मिलता है। पिछले कुछ वर्षों में इस नियम का घोर उल्लंघन किया गया है। सन् 1911 में इटली ने टर्की के साथ अपनी वार्ता एकदम बन्द कर दी और उसके साथ ऐसी शर्त रख दी जिसका अभिप्राय युद्ध था। सन् 1931 में चीन के साथ संराधन न करके जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण कर दिया था।

परन्तु राज्यों ने बहुपक्षीय सन्धियों के अन्तर्गत अपने विवाद जाँच अथवा निपटारे आयोग द्वारा तय करने की व्यवस्था की है। पूर्व सोवियत संघ ने पोलैण्ड (1932), जर्मनी (1929), ईरान (1927), अफगानिस्तान (1932),

रूमानिया (1923), हंगरी (1950), चैकोस्लोवाकिया (1956) आदि देशों से इस प्रकार की सन्धिगत व्यवस्था की थी। इनमें से अधिकांश सन्धियाँ सीमा पर हुई घटनाओं एवं झगड़ों को तय करने के लिए आयोगों की व्यवस्था करती थी।

(3) सत्सेवाएँ तथा मध्यस्थता (Good Offices and Mediation)—जब दो राज्यों के बीच वार्ता द्वारा विवाद की समाप्ति नहीं होती है तब अन्य राज्य विवाद की समाप्ति का प्रयत्न करते हैं; एक तीसरा राज्य सत्सेवाओं (Good offices) के भाव से मध्यस्थता करने को तैयार हो जाता है और वह इस बात का प्रयत्न करता है कि उनके विवाद की समाप्ति हो जाए और उन राज्यों की जनता को युद्ध के दुष्परिणाम न भोगने पड़ें। कई बार ऐसा होता है कि एक से अधिक राज्य विवाद को समाप्त करने का प्रयत्न करते हैं। सन् 1868 में यूनान और टर्की के बीच उत्पन्न होने वाले विवाद में बड़े-बड़े राष्ट्रों ने मध्यस्थता की थी।

मध्यस्थता का अर्थ है किसी तीसरे पक्ष द्वारा विवादग्रस्त पक्षकारों के बीच समझौता कराने का प्रयास। इसके दो रूप हो सकते हैं—(*i*) तीसरा पक्ष दोनों विवादग्रस्त पक्षकारों को पुनः वार्ता के लिए सहमत कर अपने देश में या किसी अन्य तटस्थ देश में उनकी बैठक का प्रबन्ध कर सकता है। इसे सत्सेवा कहते हैं। तीसरा राज्य स्वयं वार्तालाप में भाग नहीं लेता। उसकी भूमिका केवल सन्देशवाहक अथवा संचार माध्यम की होती है। (*ii*) तीसरा पक्ष न केवल विवादग्रस्त पक्षों की वार्ता कराता है, वरन् स्वयं वार्तालाप में भाग ले सकता है अथवा विवादग्रस्त पक्षों को विवाद के समाधान हेतु प्रस्ताव दे सकता है, इसे मध्यस्थता कहते हैं।

इस प्रकार सत्सेवा तथा मध्यस्थता के बीच अन्तर है। सत्सेवा में तीसरा राज्य दोनों पक्षों को एक साथ बैठाता है और विवाद को सुलझाने का सुझाव देता है। यह विवाद से सम्बन्धित विषयों में पूछताछ कर सकता है, किन्तु इस समय तीसरा राज्य वास्तविक समझौता वार्ता में भाग नहीं लेता। मध्यस्थता के समय हस्तक्षेपकर्ता राज्य स्वयं वार्ता में भाग लेता है। वह अपनी ओर से सुझाव देता है और सभी विचार-विमर्शों में सक्रिय रूप से भाग लेता है। उदाहरणार्थ, 1965 के भारत-पाक संघर्ष के बाद पूर्व सोवियत संघ ने दोनों देशों के मध्य समझौता कराने के लिए अपनी सत्सेवा (Good office) प्रदान की जिसके फलस्वरूप 1966 की जनवरी के प्रारम्भ में ताशकन्द में पाकिस्तान के राष्ट्रपति अयूब खां तथा भारत के प्रधानमन्त्री श्री शास्त्री के बीच वार्ता प्रारम्भ हुई। किन्तु 10 जनवरी तक वार्ता का सफल परिणाम न निकलने के कारण इसके असफल होने की सम्भावना बढ़ गई। सोवियत प्रधानमन्त्री की मध्यस्थता के फलस्वरूप ही 11 जनवरी, 1966 को संयुक्त विज्ञप्ति निकाली गई और दोनों देशों के मध्य ताशकन्द का समझौता हुआ।

इसी प्रकार 1951 में आस्ट्रेलिया की सरकार ने भारत और पाकिस्तान के कश्मीर सम्बन्धी विवाद को हल करने के लिए अपनी सत्सेवाएँ देने को कहा था, किन्तु भारत सरकार ने इसे स्वीकार नहीं किया था। सन् 1905 में रूस-जापान युद्ध की समाप्ति अमरीकन राष्ट्रपति थियोडोर रूजवेल्ट की सत्सेवाओं से हुई। सन् 1904 में डागर बैंक की घटना से ब्रिटेन और रूस में युद्ध छिड़ने की सम्भावना थी, किन्तु फ्रांस की मध्यस्थता से दोनों देशों में समझौता हो गया।

सत्सेवा अथवा मध्यस्थता विवादग्रस्त पक्षों के अनुरोध पर अथवा अपने उपक्रम से की जा सकती है। 1912 में बाल्कान युद्ध के दौरान टर्की ने अमरीका से मध्यस्थता कराने का अनुरोध किया था। 1918 में अमरीका ने टस्नाअरिका विवाद में चिली और पेरू में मध्यस्थता और 1974 में पाकिस्तान के राष्ट्रपति भुट्टो ने साइप्रस सम्बन्धी विवाद टर्की और यूनान के बीच मध्यस्थता का प्रस्ताव किया था।

सत्सेवा या मध्यस्थता करने वाला पक्ष एक व्यक्ति या अन्तर्राष्ट्रीय निकाय भी हो सकता है। 1947 में सुरक्षा परिषद् ने इण्डोनेशिया के लिए जो संयुक्त राष्ट्र संघ की सत्सेवा समिति नियुक्त की थी उसके कार्य सत्सेवा से अधिक थे।

इस प्रकार मध्यस्थता करने वाला राज्य विवादकर्ता राज्यों में उत्पन्न नाराजगी के भावों को दूर करता है। वह विरोधी दावों में समन्वय स्थापित करता है। कई बार राज्यों के उल्लेखनीय विवाद तीसरे राज्य की मध्यस्थता से मिट जाते हैं।

(4) पंच-निर्णय (Arbitration)—पंचनिर्णय की प्रक्रिया अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रारम्भिक दिनों में शुरू हो चुकी थी। प्राचीन यूनान में विवादों को तय करने के लिए इसे खूब अपनाया जाता था। **ग्रोशियस** का विचार था कि पंचनिर्णय द्वारा युद्ध को रोका जा सकता है। सन् 1794 में अमरीका और ब्रिटेन के मध्य हुई उस सन्धि के बाद यह प्रक्रिया विवादों के सामंजस्य का एक महत्त्वपूर्ण व्यावहारिक साधन मानी जाने लगी।

ओपेनहीम के अनुसार, "पंचनिर्णय का अर्थ है कि राज्यों के मतभेद का समाधान कानूनी निर्णय द्वारा किया जाए। यह निर्णय दोनों पक्षों द्वारा निर्वाचित एक या अनेक पंचों के न्यायाधिकरण द्वारा होता है जो अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से भिन्न होता है।" पंचनिर्णय का कार्य या तो किसी ऐसे राज्याध्यक्ष को सौंपा जा सकता है जो गैरन्यायिक अथवा कानून की जानकारी न रखने वाला व्यक्ति है या किसी न्यायाधिकरण को। दो या अधिक राज्य भी पंचनिर्णय की एक सामान्य सन्धि कर सकते हैं जिसके अनुसार उनके सभी या कुछ प्रकार के विवाद पंच फैसले के लिए सौंपे जाएँ।

पंचनिर्णय के लिए यह आवश्यक है कि निर्णय ऐसे सिद्धान्तों पर आधारित होना चाहिए जो पहले से प्रचलित हैं और जिन्होंने एक मान्यता का रूप धारण कर लिया है। यदि पंच अपना निर्णय किसी पूर्व सिद्धान्त के आधार पर न देकर अपनी इच्छा से विषय के गुणों के अनुसार देते हैं तो निर्णय एकपक्षीय समझा जाएगा और उस निर्णय को मान्यता नहीं दी जा सकती है। यदि किसी पंच फैसले में कोई सिद्धान्त निहित न होकर केवल कोई तथ्य ही निहित होता है और उस तथ्य के आधार पर निर्णय दिया जाता है तो ऐसी दशा में निर्णय करने वालों का कार्य सीमित होता है और उनको प्रत्यक्ष विषयों के आधार पर निर्णय करना होता है, जैसा कि सन् 1794 में सेण्ट क्रोइक्स नदी की सीमा निर्धारित करते समय संयुक्त राज्य अमरीका और ब्रिटेन के बीच हुआ था। उस समय ऐसा कोई उदाहरण नहीं था जिसके आधार पर सीमा निश्चित की जाती है। इसलिए तत्कालीन तथ्यों का सहारा लेकर निर्णय किया गया था और उस निर्णय को दोनों पक्षों ने मान लिया था।

सामान्य रूप से पंचनिर्णय में दिया गया पंचाट दोनों पक्षों को अनिवार्य रूप से स्वीकार करना पड़ता है। कोई राज्य अपना विवाद पंचों को सौंपने के लिए बाध्य नहीं है, किन्तु एक बार ऐसा कर लिया गया तो उसके निर्णय को मानने के लिए बाध्य होगा। यदि निर्णय देते समय पंचों ने धोखे, दबाव या गलतफहमी से कार्य किया है तो सम्बन्धित पक्षों को इसे स्वीकार करना अनिवार्य नहीं होगा। 1831 में हॉलैण्ड के राजा ने ब्रिटेन और सं. रा. अमरीका के उत्तर-पूर्वी सीमा विवाद के बारे में अपना निर्णय दिया था, किन्तु इसे पंच द्वारा अपने अधिकारों के अतिक्रमण के कारण स्वीकार नहीं किया गया।

सन् 1872 का अलबामा क्षतिपूर्ति मामला पंचनिर्णय का सुन्दर उदाहरण है। इसी प्रकार सन् 1968 के कच्छ के विवाद का निपटारा भारत तथा पाकिस्तान में पंचनिर्णय द्वारा हुआ था। हेग सम्मेलनों (1899 तथा 1907) में पंचनिर्णय को विवादों के हल करने का प्रभावशाली साधन माना गया था। पहले हेग अभिसमय द्वारा पंचनिर्णय के स्थायी न्यायालय (Permanent Court of Arbitration) की स्थापना की गयी थी। इस न्यायालय ने अपनी स्थापना के बाद से 1932 तक 20 विवादों का फैसला दिया था। इनमें से पायस फण्ड विवाद (The Pious Fund Case); नार्थ एटलाण्टिक कोस्ट फिशरीज वाद (The North Atlantic Coast Fisheries Case); कासाब्लांका वाद (Casablanka case); पामाज द्वीप का वाद (Island of Pamas Case) तथा कारथेज एवं मनौबा वाद (Carthage and Manouba Case) विशेष उल्लेखनीय हैं।

स्टार्क ने उचित ही लिखा है कि पंचनिर्णय के स्थायी न्यायालय को काफी सफलता मिली तथा इस शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में इसने पंचनिर्णय को अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों के निस्तारण के ढंग के रूप में काफी प्रोत्साहित किया तथा इसकी आधुनिक विधि तथा अभ्यास का विकास किया।

(5) अन्तर्राष्ट्रीय जाँच आयोग (International Enquiry Commission)—अन्तर्राष्ट्रीय जाँच आयोग विवादों की जाँच के लिए बनाए जाते हैं। इनके द्वारा विवादों के आधार का अध्ययन किया जाता है और इनके समाधान के लिए सुझाव प्रस्तुत किए जाते हैं। औपचारिक रूप से इसका जन्म 1899 के हेग शान्ति सम्मेलन में हुआ। यह तरीका ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने के लिए सुझाया गया जो तथ्यों के निर्धारण तक

सीमित हैं और जहाँ पक्ष सम्पूर्ण विवाद को प्रस्तुत नहीं करना चाहते हों तथा पंचनिर्णय की प्रक्रिया अपनाने में कानूनी प्रश्न और राजनीतिक स्वार्थ उलझे हुए हों।

हेग अभिसमय के तृतीय भाग में कहा गया था कि जिन अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों में इज्जत या गहरे स्वार्थ का प्रश्न नहीं है तथा जो तथ्यों से सम्बन्धित मतभेद के कारण उत्पन्न हुए हैं, उनके लिए एक अर्न्राष्ट्रीय जाँच आयोग नियुक्त कर दिया जाए, जो तथ्यों की निष्पक्ष जांच करके विवाद को सुलझा सके। इस आयोग का प्रतिवेदन केवल तथ्य ज्ञात करने तक ही सीमित रहता है। वह पंचनिर्णय का पंचाट नहीं होता और पक्षों को पूरी स्वतन्त्रता देता है।

सन् 1907 के हेग अभिसमय द्वारा इन आयोगों की स्थिति में पर्याप्त सुधार कर दिया गया। 1924 के वाशिंगटन समझौते में यह निर्णय लिया गया कि जाँच का स्थायी आयोग नियुक्त किया जाए। इसकी मुख्य व्यवस्थाएँ थीं–(*i*) यदि समझौता करने के प्रमुख राजनयिक उपाय विफल हो जाएँ तो दोनों पक्ष अपने विवाद स्थायी आयोग को सौंप देंगे और उसका प्रतिवेदन आने तक युद्ध नहीं करेंगे। (*ii*) स्थायी आयोग में पाँच सदस्य होंगे। प्रत्येक पक्ष द्वारा इसमें एक अपना और एक तीसरे राज्य का नागरिक नियुक्त किया जाएगा। पाँचवाँ सदस्य दोनों पक्षों द्वारा तीसरे राज्य में से चुना जाएगा। (*iii*) आयोग का प्रतिवेदन एक वर्ष में अवश्य आ जाना चाहिए।

संराधन की भाँति जाँच आयोग की प्रक्रिया भी व्यवहार में पर्याप्त अपनायी गयी। 1931 में मंचूरिया की घटनाओं की जाँच के लिए राष्ट्र संघ ने लिटन कमीशन की नियुक्ति की।

(6) न्यायिक समाधान अथवा अधिनिर्णय (Judicial Settlement or Adjudication)– विवादों का न्यायिक समाधान अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के माध्यम से होता है, जो कानून का प्रयोग करता है तथा समुचित प्रकार से गठित किया जाता है। जो झगड़े न्यायालय द्वारा निर्णीत होते हैं, उनका निर्णय अधिनिर्णय कहलाता है।

पंचनिर्णय में कोई न्यायालय नहीं था, केवल पंचों के नाम की सूची थी। विवाद करने वाले पक्ष इनमें से किन्हीं को अपने मामलों में पंच मान लेते थे। तभी यह न्यायालय बन जाता था, किन्तु राष्ट्र संघ ने स्थायी न्यायालय की स्थापना की। संयुक्त राष्ट्र, संघ ने इसका रूप बदलकर इसे **'न्याय का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय'** नाम दे दिया।

पंचनिर्णय तथा अधिनिर्णय के बीच कुछ भेद और समानताएँ भी हैं–(*i*) दोनों में विवाद का निर्णय कानून के नियमों और सिद्धान्तों के आधार पर बाध्य और निष्पक्ष निकाय द्वारा होता है। (*ii*) दोनों के निर्णयों का पालन करना अनिवार्य है। (*iii*) दोनों स्थितियों में विवादी पक्ष अपना विवाद निर्णय के लिए सौंपने की स्वतन्त्रता रखते हैं।

पंचनिर्णय तथा न्यायिक निर्णय में निम्न अन्तर हैं–

1. न्यायिक निर्णय के लिए अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय है जो एक प्रसंविदा पर आधारित है। इसकी प्रक्रिया के नियम अलग हैं जो उन राज्यों पर बाध्यकारी होते हैं जो न्यायालय को अपने विवाद समर्पित करते हैं। पंचनिर्णय के लिए भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पंचनिर्णय का एक स्थायी न्यायालय है, परन्तु वास्तव में यह न तो न्यायालय है तथा न ही स्थायी है। यह नामों का एक पैनेल होता है। इसके अतिरिक्त भी किसी विवाद के पक्षकार विवाद के निस्तारण हेतु विवाचन न्यायालय स्थापित कर सकते हैं।

2. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय हेग में स्थित है। पंचनिर्णय न्यायालय अस्थायी होते हैं अतः इनका कोई स्थायी स्थान नहीं होता है।

3. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की सार्वजनिक सुनवाई होती है तथा इसके निर्णय आदि प्रकाशित होते हैं। पंचनिर्णय न्यायालयों के निर्णयों का प्रकाशन पक्षकारों के मध्य करार पर निर्भर करता है।

4. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय सभी राज्यों के लिए खुला है, परन्तु इसकी अधिकारिता राज्यों की सहमति पर निर्भर करती है। पंच निर्णय के क्षेत्र में सहमति का और भी अधिक महत्त्व है, यहाँ तक कि न्यायालय की स्थापना के लिए भी सहमति आवश्यक होती है।

5. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा विवाद विधि के अनुसार निर्णीत किए जाते हैं। पंचनिर्णय न्यायालय कठोर रूप से विधि से बाध्य नहीं होता है।

6. संयुक्त राष्ट्र चार्टर में न्यायिक निर्णय को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। पंचनिर्णय को भी विवाद के निस्तारण के एक ढंग के रूप में चार्टर के अन्तर्गत मान्यता प्रदान की गई है, परन्तु इसे न्यायिक निर्णय के समान महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान नहीं किया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय संयुक्त राष्ट्र संघ का 'मुख्य न्यायिक अंग' है। इसकी स्थापना द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति के बाद हुई। इससे पूर्व प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति के बाद 'अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय' की स्थापना की गयी थी। न्यायालयों द्वारा दिए गये फैसले अधिनिर्णय कहलाते हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ के सभी सदस्य स्वतः ही अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि के सदस्य बन जाते हैं। यद्यपि न्यायालय आवश्यक और सार्वभौमिक क्षेत्राधिकार नहीं रखता, किन्तु इसके निर्णय उन पक्षों पर बाध्यकारी होते हैं जो इसके न्यायाधिकरण को स्वेच्छा से स्वीकार करते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने कोर्फू चैनल का मामला (1946), मोरक्को में अमरीकी राष्ट्रजनों के उत्तराधिकार का विवाद, एंग्लो-नार्वेजियन मछलीगाह मामला, दक्षिण अफ्रीका को अन्तर्राष्ट्रीय दर्जा इत्यादि विवादों का शान्तिपूर्ण निपटारा किया है।

(7) राष्ट्र संघ तथा संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा विवादों का समाधान (Settlement of Disputes through the Machinery of League of Nations and U. N. O.)—राष्ट्र संघ तथा संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए की गयी थी ताकि विश्व-युद्धों पर रोक लगायी जा सके। राष्ट्र संघ के घोषणापत्र में शान्तिपूर्ण समाधान की विभिन्न प्रक्रियाओं का उल्लेख किया गया है ताकि सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को कानूनी आधार बनाया जा सके। राष्ट्र संघ के घोषणापत्र की धारा 12 में विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के तीन उपाय बताए गए—पंचों को सौंपना, हेग की स्थायी पंचायती अदालत को सौंपना तथा संघ की परिषद् द्वारा इसकी जाँच कराना। संघ की धारा 16 में शान्तिपूर्ण समाधान का प्रस्ताव स्वीकार न करने वाले के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने की व्यवस्था की गयी।

राष्ट्र संघ की भाँति संयुक्त राष्ट्र संघ का मूल उद्देश्य भी युद्ध को रोकना है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए महासभा तथा सुरक्षा परिषद् पर कुछ दायित्व डाले गये हैं। चार्टर की धारा 14 महासभा को यह सत्ता देती है कि उस स्थिति के शान्तिपूर्ण समायोजन के लिए सुझाव दे जो राष्ट्रों के सामान्य कल्याण अथवा मित्रतापूर्ण सम्बन्धों को आघात पहुंचाती हों। सुरक्षा परिषद् को दी गयी शक्तियाँ और भी व्यापक हैं। यह महासभा की अपेक्षा अधिक जल्दी कार्यवाही कर सकती है। जब कभी अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए खतरा हो सुरक्षा परिषद् पंचनिर्णय, न्यायिक समझौता, वार्ता, जाँच, मध्यस्थता आदि उपायों द्वारा विवाद को सुलझाने का सुझाव दे सकती है। यदि कोई विवाद शान्तिपूर्ण उपायों से हल न किया जा सके तो यह आर्थिक प्रतिबन्ध तथा सैनिक कार्यवाही करने का भी अधिकार रखती है। कोरिया (1950), स्वेज नहर (1956) तथा खाड़ी संकट (1990-91) के मामलों में इस अधिकार का प्रयोग किया जा चुका है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव अपनी सेवाएँ, मध्यस्थता आदि द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों के समाधान के लिए अर्पित कर सकते हैं।

छात्र क्रियाकलाप

1. विश्व में गुटबंदी के फलस्वरूप दो राष्ट्रों का विवाद किसका रूप धारण कर सकता है?

2. निम्न पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करें–

(1) समझौता वार्ता (2) संराधन

4.5 सारांश (Summary)

- ओपेनहीम के अनुसार, "साधारणतया राज्यों के मध्य दो प्रकार के विवाद कानूनी तथा राजनीतिक ही होते हैं। इन कानूनी तथा राजनीतिक विवादों का निपटारा मैत्रीपूर्ण तथा बाध्यकारी साधनों द्वारा ही किया जा सकता है।"
- विवाद का निपटारा करने के दो प्रधान साधन हैं–मैत्रीपूर्ण साधन तथा बाध्यकारी साधन।
- मैत्रीपूर्ण साधनों के अंतर्गत, वार्ता, मध्यस्थता, पंचनिर्णय, अंतर्राष्ट्रीय जाँच आयोग, अधिनिर्णय आदि आते हैं जबकि बाध्यकारी साधनों के अंतर्गत प्रतिकर्म, प्रत्यपकार, अधिरोध शांतिपूर्ण नाकाबंदी, हस्तक्षेप आदि आते हैं।

अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)

1. राजनीतिक संघर्ष से क्या अभिप्राय है?
2. संघर्ष के निवारण के साधन कौन-कौन से हैं?
3. शांतिपूर्ण तथा बाध्यकारी साधनों में अंतर बताएँ।

संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)

1. तुलनात्मक राजनीति–चन्द्रदेव प्रसाद, ऐटलांटिक।
2. तुलनात्मक राजनीति–सी. वी. गेना, विकास पब्लिशिंग हाउस।
3. तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीति विश्लेषण–डॉ. डी. एस. यादव।

नोट

अध्याय–IV

इकाई–I

राजनीतिक दल-प्रणाली (Political Party System)

संरचना (Structure)

1.1 उद्देश्य (Objectives)

1.2 प्रस्तावना (Introduction)

1.3 राजनीतिक दलों का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definitions of Political Parties)

1.4 राजनीतिक दलों की मुख्य विशेषताएँ अथवा तत्व (Main Features or Elements of Political Parties)

1.5 राजनीतिक दलों के कार्य (Functions of Political Parties)

1.6 दल-पद्धति के लाभ या गुण (Advantages or Merits of Party-System)

1.7 दल-पद्धति के दोष (Demerits of Party-System)

1.8 राजनीतिक दलों की भूमिका एवं महत्त्व (Importance and Role of Political Parties)

1.9 विकासशील राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों का स्वरूप (Forms of Political Parties in a Developing Political System)

1.10 सारांश (Summary)

- अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)
- संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)

1.1 उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- राजनीतिक दलों के अर्थ को समझने में।
- दल पद्धति के गुण-दोष की जानकारी प्राप्त करने में।

1.2 प्रस्तावना (Introduction)

लोकतंत्र शासनों में राजनीतिक दलों का आधारभूत स्थान रहता है। इन प्रणालियों में राजनीतिज्ञों के राजनीति में प्रवेश का एकमात्र संस्थागत साधन राजनीतिक दल ही होते हैं। लोकतंत्र शासन-व्यवस्थाओं में राजनीतिक दल

ही राजनीतिक चेतना के केन्द्र होते हैं। इन व्यवस्थाओं में राजनीतिक प्रक्रिया राजनीतिक दलों की धुरी के इर्द-गिर्द ही घूमती दिखाई देती है। निरंकुश व लोकतन्त्र शासन-व्यवस्थाओं में राजनीतिक दलों की सर्वव्यापकता से यही निष्कर्ष निकलता है कि राजनीतिक विकास की कुछ परिस्थितियों में राष्ट्रों के लिए दलों के बिना काम चलाना कठिन ही नहीं, शायद असम्भव हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि राजनीतिक दल हर प्रकार की राजनीतिक प्रणाली में महत्त्वपूर्ण कार्य निष्पादन करते हैं। इनका हर व्यवस्था में महत्त्व है।

नोट

1.3 राजनीतिक दलों का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definitions of Political Parties)

राजनीतिक दल से हमारा अभिप्राय ऐसे व्यक्तियों के समूह से है जो कुछ समस्याओं के रूप और उनके समाधान के सम्बन्ध में एकमत हैं और जिन्होंने सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मिलकर वैध ढंग से काम करने का निश्चय कर लिया है। विभिन्न राजनीतिक विचारकों ने राजनीतिक दल की अलग-अलग परिभाषाएँ दी हैं–

न्यूमैन के अनुसार–"राजनीतिक दल एक स्वतन्त्र समाज में नागरिकों के उस व्यवस्थित समुदाय को कहते हैं जो शासनतन्त्र को नियन्त्रित करना चाहता है और उनके लिए जनसहमति में भाग लेकर कुछ सदस्यों को सरकारी पदों पर भेजने का प्रयास करता है।"

एडमण्ड बर्क के शब्दों में–"राजनीतिक दल कुछ लोगों का एक समूह है जो कुछ सिद्धान्तों पर सहमत होकर अपने संयुक्त प्रयासों द्वारा जनहित को आगे बढ़ाने के लिए संगठित रहता है।"

लीकॉक के मतानुसार–"राजनीतिक दल से हमारा अभिप्राय ऐसे नागरिकों के समुदाय से है जो एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं। सार्वजनिक प्रश्नों पर उनके विचार एक-जैसे होते हैं और वे सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए मतदान की शक्ति का प्रयोग करके शासन की शक्ति हथियाना चाहते हैं।"

मैकाइवर के अनुसार–"राजनीतिक दल वह समुदाय है जो किसी विशेष सिद्धान्त या नीति के समर्थन के लिए संगठित किया गया हो और जो संवैधानिक उपायों से उस सिद्धान्त अथवा नीति को शासन का आधार बनाने का प्रयत्न करता हो।"

गेटेल के शब्दों में–"राजनीतिक दल पूर्ण अथवा अपूर्ण रूप से संगठित उन नागारकों का एक समूह होता है जो एक राजनीतिक संस्था की भाँति कार्य करते हैं और जिनके ध्येय अपने मताधिकार के प्रयोग द्वारा सरकार पर नियन्त्रण रखना व अपनी सामान्य नीति का सम्पादन करना है।"

गिलक्राइस्ट के शब्दों–"राजनीतिक दल नागरिकों के उस संगठित समुदाय को कहते हैं जिसके सदस्य समान राजनीतिक विचार रखते हैं और जो एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हुए शासन को अपने हाथ में रखने की चेष्टा करते हैं।"

इस प्रकार राजनीतिक दल ऐसे व्यक्तियों का निकाय होता है जो सार्वजनिक प्रश्नों पर यदि पूर्णत: नहीं तो कम से कम सामान्य दृष्टिकोणों में समता रखते हों तथा सामूहिक प्रयासों द्वारा शासन को हस्तगत करके अपने उद्देश्यों के क्रियान्वयन पर विश्वास करते हों। दूसरे शब्दों में, व्यक्तियों के किसी भी समूह को, जो एक समान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कार्य करता है, दल कहते है। यदि उस दल का उद्देश्य राजनीतिक हो तो उसे राजनीतिक दल कहा जाता है।

1.4 राजनीतिक दलों की मुख्य विशेषताएँ अथवा तत्व (Main Features or Elements of Political Parties)

उपर्युक्त परिभाषाओं के विवेचन से राजनीतिक दलों के निम्नलिखित लक्षण प्रकट होते हैं–(1) लम्बी अवधि के लिए संगठन; (2) कतिपय सिद्धान्तों अथवा नीतियों के बारे में सहमति; (3) अपने उद्देश्यों की प्राप्ति

नोट

के लिए शान्तिपूर्ण और संवैधानिक साधनों का प्रयोग और राष्ट्रीय हित की दृष्टि से अपनी नीतियों को कार्यरूप देने की लालसा। संक्षेप में, किसी भी राजनीतिक दल के निर्माण के लिए इन्हीं तत्वों का होना आवश्यक है–

(1) **संगठन**–दल को मजबूत एवं स्थायी बनाने के लिए उसमें संगठन का होना अत्यन्त आवश्यक है। संगठन से तात्पर्य है कि दल के कुछ अपने लिखित एवं अलिखित नियम, उपनियम, कार्यालय, पदाधिकारी आदि होने चाहिए। ये दल के सदस्यों को अनुशासित रखते हैं। संगठन के अभाव में दलीय अनुयायी एक बिखरी भीड़ मात्र ही होंगे और वे अपने उद्देश्यों को पूरा नहीं कर पायेंगे। वस्तुत: संगठन ही राजनीतिक दल की शक्ति का रहस्य है।

(2) **मूलभूत सिद्धान्तों की एकता**–दल व्यक्तियों का एक ऐसा समूह होता है जिसके सदस्य सार्वजनिक प्रश्नों पर एक से विचार रखते हैं। उन प्रश्नों की बारीकियों पर उनमें मतभेद हो सकता है लेकिन वे सब मौलिक सिद्धान्तों पर एकमत होते हैं। सिद्धान्तों की एकता ही दल को ठोस आधार प्रदान करती है। सैद्धान्तिक एकता के अभाव में दल की जड़ें हिल जायेंगी और उसका विघटन हो जायेगा।

(3) **संवैधानिक उपायों का प्रयोग**–राजनीतिक दलों को अपने लक्ष्य (सत्ता प्राप्ति) की प्राप्ति के लिए सदा संवैधानिक उपायों का सहारा लेना चाहिए। जो संवैधानिक उपायों का अनुसरण करते हैं अथवा हिंसात्मक साधनों को अपनाते हैं, उन्हें राजनीतिक दल नहीं कहा जा सकता।

(4) **राष्ट्रीय हित की वृद्धि**–राजनीतिक दल एक ऐसा समुदाय है जो उच्च आदर्शों से अनुप्राणित होता है और जिसके कार्यक्रमों और नीतियों का देशव्यापी आधार होता है, क्षेत्रीय अथवा साम्प्रदायिक नहीं। उसे किसी विशेष जाति, धर्म, सम्प्रदाय या वर्ग के हित की अपेक्षा राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि हेतु चेष्टा करनी चाहिए। यदि कोई संगठन वर्ग, जाति या सम्प्रदाय-विशेष का हित साधन करते हैं तो यथार्थ में उन्हें राजनीतिक दल नहीं कहा जा सकता।

1.5 राजनीतिक दलों के कार्य (Functions of Political Parties)

लोकतन्त्रीय शासन के लिए राजनीतिक दल अपरिहार्य हैं। राजनीतिक दल जो कार्य करते हैं वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। **मेरियम** के अनुसार इनके पाँच प्रमुख कार्य हैं–(1) पदाधिकारियों का चुनाव करना, (2) नीति-निर्धारण, (3) शासन का संचालन तथा उसकी रचनात्मक अलोचना, (4) राजनीतिक प्रचार और शिक्षण, (5) व्यक्ति और शासन के मध्य मधुर सम्बन्धों की स्थापना करना। राजनीतिक दल मुख्य रूप से निम्नलिखित कार्य करते हैं–

(1) **सार्वजनिक नीतियों का निर्धारण**–राजनीतिक दल जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिए अपनी नीतियों और योजनाओं का जोरदार प्रचार करते हैं। वे राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं के विभिन्न पहलुओं से जनता को परिचित कराते हैं। इसलिए राजनीतिक दलों को "विचारों का दलाल" कहा जाता है। **प्रो. लास्की** के शब्दों में, "आधुनिक राज्यों के भ्रान्तिपूर्ण वातावरण में समस्याओं का चयन करके यह आवश्यक है कि वरीयता के आधार पर कुछ को अत्यन्त शीघ्र निपटाने के लिए छाँटना चाहिए और उनके निदान जनता की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करना चाहिए। चयन का यह कार्य दलों के द्वारा ही होता है।"

(2) **शासन का संचालक**–राजनैतिक दल चुनावों में बहुमत प्राप्त करके सरकार का निर्माण करते हैं। अपने दल से ही मन्त्री नियुक्त करते हैं तथा विभिन्न विधियों से अपने चुनाव घोषणापत्र के वायदों को पूरा करने का प्रयास करते हैं।

(3) **शासन की आलोचना**–यदि निर्वाचन में किसी दल को बहुमत प्राप्त न हो तो वह प्रतिपक्ष के रूप में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। प्रतिपक्ष के रूप में उसका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह शासन को सचेत रखे। वह सरकार की रचनात्मक आलोचना करके वैकल्पिक नीतियाँ प्रस्तुत करता है। विपक्षी दल शासन की कमजोरियों को जनता के सामने रखकर उसके विरुद्ध लोकमत तैयार करते है।

नोट

(4) **चुनावों का संचालन**–राजनीतिक दलों से ही चुनावों की सार्थकता प्रकट होती है। वे चुनाव के समय अपने चुनाव घोषणा-पत्र तैयार करते हैं, उसका प्रचार करते हैं, प्रत्याशियों को खड़ा करने तथा हर तरीके से चुनाव जीतने का प्रयत्न करते हैं। **हरमन फाइनर** के शब्दों में, "राजनीतिक दलों के बिना निर्वाचक या तो नितान्त असहाय हो जायेंगे या उनके द्वारा असम्भव नीतियों को ही अपनाकर राजनीतिक यन्त्र को ही नष्ट कर दिया जायेगा।"

(5) **लोकमत का निर्माण**– यदि शासित व्यक्तियों की सहमति से सत्ता को प्राधिकार अर्जित करना है और यदि शासन की नीतियों पर लोकमत प्राप्त करना है तो राजनीतिक दल अपरिहार्य हैं। इनकी अनुपस्थिति में जनसमुदाय एक दिशाहीन भीड़ के अतिरिक्त और कुछ न होगा। **लार्ड ब्राइस** के शब्दों में, "लोकमत को प्रशिक्षित करने, उसके निर्माण और अभिव्यक्ति में राजनीतिक दलों के द्वारा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कार्य किया जाता है।"

(6) **शासन तथा जनता के बीच मध्यस्थ का कार्य**–राजनीतिक दल जनता और सरकार के बीच मध्यस्थता करते हैं। वे जनता की समस्याओं और आकांक्षाओं को सरकार के सामने रखते हैं और सरकार की स्थिति से जनता को अवगत कराते हैं। **बार्कर** के अनुसार, "राजनीतिक दल एक ऐसे पुल का कार्य करते हैं जिसका एक छोर समाज को छूता है और दूसरा राज्य को। यह एक ऐसा पाइप है जिससे सामाजिक विचाराधारा बहती है जो राज्य के यन्त्र को तरल बनाकर उसके पहियों को घुमाती रहती है।"

(7) **राजनीतिक प्रशिक्षण**–राजनीतिक दलों के प्रचार से नागरिकों को राजनीतिक शिक्षा मिलती है। उन्हें समस्याओं के विभिन्न पहलुओं का पता लगता है। इस प्रकार से नागरिकों में राजनैतिक चेतना जागृत होती है।

(8) **सामाजिक और सांस्कृतिक कार्य**–अधिकांश राजनीतिक दल जनता के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन को उन्नत करने का भी कार्य करते हैं। स्वाधीनता आन्दोलन के युग में कांग्रेस ने हरिजन कल्याण तथा स्त्री-उद्धार सम्बन्धी बहुत-से कार्य किये थे।

(9) **दलीय कार्य**–प्रत्येक राजनैतिक दल कतिपय दल सम्बन्धी कार्य भी करता है–मतदाताओं को दल-का सदस्य बनाता है, सार्वजनिक सभाओं का आयोजन करता है, दल के लिए चन्दा इकट्ठा करता है आदि।

1.6 दल-पद्धति के लाभ या गुण (Advantages or Merits of Party-System)

दल-पद्धति के जितने प्रशंसक हैं उतने ही आलोचक भी। कतिपय विद्वानों ने राजनीतिक दलों को लोकतन्त्र की रीढ़ माना है, तो कुछ लोगों ने दल-पद्धति का कड़ा विरोध किया है। अतः दल-प्रणाली के गुण-दोषों का विवेचन अत्यावश्यक है। दल-प्रणाली के लाभ इस प्रकार हैं:

(1) **राजनैतिक जागरण**–राजनैतिक दल समय-समय पर जनता की राजनैतिक निद्रा को तोड़ते हैं और उसे जाने व अनजाने राजनीति में भाग लेने के लिए विवश करते हैं। निर्वाचनों के समय वे राजनीति के बहुत से गुप्त और अस्पष्ट पहलुओं पर जनता का ध्यान आकर्षित करते हैं और जन-साधारण भी उन विषयों से परिचित हो जाता है। जनता की उदासीनता लोकतन्त्र के लिए सबसे बड़ा खतरा है और इस दृष्टि से उदासीनता के वातावरण को दूर करने वाले राजनीतिक दल राजनैतिक जागरण के मुख्य साधन कहे जाते हैं।

(2) **लोकमत का निर्माण**–राजनीतिक समस्याओं का पूरा-पूरा विवरण जनता के सामने रखकर राजनीतिक दल लोकमत का निर्माण करते हैं। जनता के विचार अमूर्त होते हैं। समय-समय पर अधिवेशनों तथा भाषणों द्वारा राजनीतिक दल उन्हें मूर्त रूप प्रदान करते हैं। वस्तुतः राजनीतिक दलों के कारण नागरिकों में राजनीतिक चेतना फैलती है और उन्हें राजनीतिक शिक्षा मिलती है।

(3) **निर्वाचन को सरल बनाना**–लोकतन्त्रीय व्यवस्था में स्थानीय निकायों से लेकर केन्द्रीय निकायों तक निरन्तर कहीं न कहीं निर्वाचन होते रहते हैं और निर्वाचनों को नियन्त्रित एवं प्रभावित करने का दुरूह दायित्व राजनीतिक दलों का ही है। राजनीतिक दलों की वजह से मतदाताओं को वोट देने में बड़ी सुविधा और सरलता होती है। इसके अतिरिक्त वे निर्वाचन सम्बन्धी ऐसे अनेक कार्य करते हैं जो दलों के अभाव में सरकार को करने पड़ते, जैसे सामान्य नागरिकों को मतदान पद्धति समझाना, मतदाता-सूचियों की जाँच करना इत्यादि।

नोट

(4) शासन को क्रान्ति से बचाना—नागरिकों को वाद-विवाद एवं विचार-विमर्श का प्रचुर अवसर प्रदान करके क्रान्ति एवं निरंकुशता के अंकुरों को आरम्भ में ही नष्ट कर देते हैं।

(5) शासन का संचालन तथा उसकी आलोचना—राजनीतिक दल के प्रतिनिधि लोकतन्त्र का मार्ग प्रशस्त करके विधानमण्डल में बहुमत प्रदान करके शासन में स्थायित्व स्थापित करते हैं। सरकारी नीतियों का स्वस्थ एवं रचनात्मक विरोध करके वे प्रतिनिधि शासन को परिमार्जित करते हैं।

1.7 दल-पद्धति के दोष (Demerits of Party-System)

राजनीतिक दलों के लाभों की विवेचना से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि हम राजनीतिक दलों के राजनीति को कलुषित बनाने वाले कार्यों से बेखबर हैं। वस्तुतः जहाँ राजनीतिक दलों की उपयोगिता है, वहाँ उनके दोष भी हैं:

(1) जनता में द्वेष एवं कटुता पैदा करना—राजनैतिक दलों के कारण जनता में द्वेष एवं कटुता की भावना उत्पन्न होती है। वे जन-जीवन में बेईमानी, असत्य; भ्रष्टाचार, अवसरवादिता एवं अन्य बुराइयाँ फैलाते हैं। निर्वाचनों के समय वे नैतिक मूल्यों को पूर्णतया भुलाकर मिथ्या प्रचार करते हैं तथा जनता को गुमराह करते हैं। राजनीतिक दल सार्वजनिक प्रश्नों पर एकाकी विचार प्रस्तुत करते हैं तथा अन्य दलों के नेताओं पर कीचड़ उछालते हैं। **लार्ड ब्राइस** के शब्दों में, "दल सामान्य देशभक्ति की जगह क्रोध और कड़वाहट को स्थान देता है।"

(2) देश की एकता पर आघात—दल देश की जनता को दो या अधिक भागों में विभाजित करके राष्ट्रीय एकता को ठेस पहुँचाते हैं। राजनैतिक दल चाहे कितने ही राष्ट्रीय आधार पर बनाये गये हों, कई बार उनके कार्यक्रम राष्ट्रविरोधी अथवा गुटबन्दी की संकीर्णताओं में उलझाने वाले होते हैं। **ब्राइस** के अनुसार, "दल केवल व्यवस्थापिका सभा को ही नहीं बल्कि राष्ट्र को भी दो परस्पर विरोधी पक्षों में बाँट देता है और विदेशी राज्यों के सामने देश का विभाजित रूप प्रस्तुत करता है।"

(3) सर्वोत्तम व्यक्तियों की उपेक्षा—दलीय शासन-प्रणाली के अन्तर्गत केवल बहुमत-प्राप्त दल के प्रभावशाली लोग ही मन्त्री आदि उच्च पदों पर आसीन किये जाते हैं। बहुत से अच्छे नेता, जो विपक्ष में आ जाते हैं, उनकी सेवाएँ शासन को रचनात्मक रूप में नहीं मिल पातीं। अनेक बार श्रेष्ठ नेता दलीय दलदल में फँसना नहीं चाहते और साधारण तथा सस्ते नेता नेतृत्व संभालने का अवसर पा जाते हैं। इस प्रकार दलबन्दी के फलस्वरूप किसी भी देश को वहाँ के योग्य एवं प्रतिभाशाली व्यक्तियों की सेवाओं से वंचित रहना पड़ता है।

1.8 राजनीतिक दलों की भूमिका एवं महत्त्व (Importance and Role of Political Parties)

लोकतन्त्र के पहियों के रूप में सजनीतिक दल अपरिहार्य हैं। राजनीतिक दल बहुत बड़ी सीमा तक हमारे जीवन के महत्त्वपूर्ण अंग बन चुके हैं। 'राजनीतिक' शब्द का उच्चारण करते समय उसमें राजनीतिक दलों की ध्वनि झंकृत होती है। लोकतन्त्र, चाहे उसका कोई भी स्वरूप क्यों न हो, राजनीतिक दलों की अनुपस्थिति में अकल्पनीय है, इसीलिए उन्हें 'लोकतन्त्र का प्राण' (Life blood of democracy) कहा गया है। यदि राजनीतिक दलों को शासन का चतुर्थ अंग (Fourth organ of the Government) कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। **प्रो. मुनरो** के शब्दों में, "लोकतन्त्रात्मक शासन दलीय शासन का ही दूसरा नाम है। ....विश्व के इतिहास में कभी भी ऐसी स्वतन्त्र सरकार नहीं रही है जिसमें राजनीतिक दल का अस्तित्व न हो।" **ह्यूबर** के शब्दों में, "प्रजातन्त्रात्मक यन्त्र के चालन में राजनीतिक दल तेल के तुल्य हैं।" आज की प्रतिनिधि मूलक सरकार का सार यही है कि सरकार और संसद दोनों पर दल का प्रतिबन्ध रहता है। विधानमण्डल और कार्यपालिका, सरकार और संसद केवल संवैधानिक आवरण हैं। यथार्थ शक्ति का उपयोग राजनीतिक दल ही करते हैं।

दल प्रणाली के बिना लोकतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली कार्य ही नहीं कर सकती। शासन का चाहे संसदीय रूप हो या अध्यक्षात्मक, दल-प्रणाली के अभाव में उसका क्रियान्वयन असम्भव है। किसी भी शासन में हजारों लोग राज्य की समस्याओं पर सोचते हैं, किन्तु जब तक उनके विचारों ओर दृष्टिकोणों को दलीय आवरण द्वारा व्यवस्थित और क्रमबद्ध नहीं किया जाता तब तक शासन निष्क्रिय ही बना रहेगा। वस्तुत: राजनीतिक दल राजनीतिक प्रक्रिया को जोड़ने, सरल करने तथा स्थिर बनाने का कार्य करते हैं। **मैकाइवर** के अनुसार, "जिस राज्य में दल-प्रणाली नहीं होती उसमें क्रान्ति ही सरकार को बदलने का एकमात्र तरीका होती है।" दल-प्रणाली से क्रान्ति की आवश्यकता नहीं होती और संवैधानिक तरीके से शासन में परिवर्तन किया जा सकता है।

नोट

राजनीतिक दल असंख्य मतदाताओं की व्यवस्थित भीड़ के स्थान पर व्यवस्था की सृष्टि करते हैं, जनता का नेतृत्व करने के लिए नेता प्रदान करते हैं और राजनीतिक व्यवस्था को संचालन-शक्ति प्रदान करते हैं। **हरमन फाइनर** के शब्दों में, "दलों के बिना मतदाता ऐसी असम्भव नीतियों का अनुसरण करने लगेंगे जो उन्हें शक्तिहीन बना देगी या विनाशकारी, और जिनसे राजनीतिक यन्त्र ध्वस्त हो जायेगा।"

राजनीतिक दल लोकमत के निर्माण तथा अभिव्यक्ति के सर्वोत्तम साधन हैं वे अमूर्त मतदाताओं को मूर्त रूप देते हैं। वे निर्वाचनों में अपने प्रत्याशी खड़े करते हैं और अपने कार्यक्रमों तथा नीतियों का प्रचार कर मतदाताओं को प्रभावित करते हैं। निर्वाचन में विजयी दल सरकार का निर्माण करता है और पराजित दल विपक्ष के रूप में आलोचना करते हैं। अत: दल-प्रणाली से प्रतिनिधि शासन को चलायमान किया जाता है।

राजनीतिक दल नागरिकों को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करते हैं। किसी देश के नागरिकों की वैयक्तिक स्वतन्त्रता की रक्षा की दृष्टि से भी राजनीतिक दल विशेष महत्त्व रखते हैं। **प्रो. लास्की** के शब्दों में, "राजनीति दल देश में अधिनायकवाद से हमारी रक्षा करने के सर्वश्रेष्ठ कवच हैं।"

मेरियट ने तो दलों को सरकार की 'पूरक संस्था' कहा है क्योंकि वे अधिकारियों का चुनाव, सार्वजनिक नीति का निर्धारण तथा सरकार का संचालन और उसकी आलोचना करने में सहायता प्रदान करते हैं।

मैकाइवर के शब्दों में, "राजनीतिक दलों के अभाव में न तो सिद्धान्त की संगठित अभिव्यक्ति ही हो सकती है, न नीतियों का उचित विकास ही और नियन्त्रित रूप से संसदीय चुनाव के वैधानिक उपायों अथवा मान्य संस्थाओं का सहारा लिया जा सकता है जिसके द्वारा राजनीतिज्ञ अपनी शक्ति बनाये रखने या उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।"

1.9 विकासशील राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों का स्वरूप (Form of Political Parties in a Developing Political System)

विकासशील राजनीतिक व्यवस्था से अभिप्राय है कि एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के नवोदित राज्यों में राजनीतिक दलों की भूमिका और स्वरूप का निर्धारण किन तथ्यों के आधार पर हो रहा है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य महत्त्वपूर्ण हैं:

(1) विकासशील देशों में राजनीतिक दल राजनीतिक व्यवस्था के बाह्य तत्व के रूप में विकसित हुए हैं। वहाँ पश्चिमी देशों की भाँति सरकार चलाने के लिए दलों का गठन नहीं हुआ अपितु राष्ट्रीय स्वाधीनता के संघर्ष को गति प्रदान करने के लिए दलों का उद्‌भव हुआ।

(2) विकासशील देशों के राजनीतिक दल विदेशी सत्ता के विरोधी रहे। उन्होंने विदेशी सरकार के साथ सहयोगात्मक रूख नहीं अपनाया।

(3) विदेशी सत्ता ने यदा-कदा इन दलों की कार्यवाहियों पर प्रतिबन्ध भी लगाया जिसके परिणामस्वरूप उन्हें भूमिगत होकर भी कार्य करना पड़ा।

(4) इन देशों में विदेशी शासन ने राष्ट्रीय दलों के प्रहार को कम करने के लिए उनके खिलाफ नये दलों के निर्माण को प्रोत्साहित किया। शासकों की इस कुटिल नीति से राष्ट्रीय आन्दोलन दुर्बल हुआ। भारत में मुस्लिम लीग का उद्‌भव इस तथ्य की पुष्टि करता है।

नोट

(5) स्वाधीनता संघर्ष में विकासशील देशों के दलों ने न केवल जन आन्दोलन की राजनीति की शुरुआत की अपितु कभी-कभी उग्र हिंसात्मक उपायों का भी सहारा लिया।

(6) स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद विदेशी सत्ता द्वारा किये गये शून्य को भरने का काम उसी राजनैतिक दल ने किया जिसने राष्ट्रीय आन्दोलन को आधार प्रदान किया। इससे प्रारम्भ में विकासशील देशों में "एक-दल-प्रभुत्व" (One Party Dominance) व्यवस्था की स्थापना हुई।

(7) "एक-दल-प्रभुत्व व्यवस्था" से विरोधी दलों का सुदृढ़ संगठन विकसित नहीं हो पाया और दल भ्रष्ट उपायों का सहारा लेने लगा। इसके परिणामस्वरूप विकासशील देशों की शासन-व्यवस्था में सैनिक शासन की नवीन प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हुईं।

भारत, पाकिस्तान, बर्मा, इण्डोनेशिया और बंगला देश की राजनीतिक व्यवस्थाओं से उपर्युक्त तथ्यों को सिद्ध किया जा सकता है। भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करने वाला कांग्रेस दल स्वाधीनता के बाद सत्ता में आया। *लगभग 30 वर्षों तक शासन में रहने के बाद श्रीमती इन्दिरा गांधी के प्रधान मन्त्रित्व काल में शीघ्रता से निरंकुशता* की ओर अग्रसर होने लगा। जून, 1975 में घोषित आपातकालीन स्थिति के दौरान देश में वैधानिक तानाशाही की स्थापना कर दी गयी और संसदीय संस्थाओं को मात्र रबर की मुहर के रूप में प्रसारित किया जाने लगा।

छात्र क्रियाकलाप

1. राजनीतिक दलों के निर्माण में जिन तत्वों का वर्णन किया गया है उनका संक्षिप्त विवरण दें।

2. भारत में वैधानिक तानाशाही की स्थापना कब हुई थी?

1.10 सारांश (Summary)

- मैकाइवर के अनुसार, "राजनीतिक दल वह समुदाय है जो किसी विशेष सिद्धांत या नीति के समर्थन के लिए संगठित किया गया हो और जो संवैधानिक उपायों से उस सिद्धांत अथवा नीति को शासन का आधार बनाने का प्रयत्न करता हो।"
- राजनीतिक दलों के निर्माण में इन तत्वों का होना आवश्यक है–(*i*) संगठन (*ii*) मूलभूत सिद्धांतों की एकता (*iii*) संवैधानिक उपायों का प्रयोग (*iv*) राष्ट्रीय हित की वृद्धि।

- राजनीतिक दलों के प्रतिनिधि लोकतंत्र का मार्ग प्रशस्त करके विधानमंडल में बहुमत प्रदान करके शासन में स्थायित्व स्थापित करते हैं।
- विकासशील देशों में राजनीतिक दल राजनीतिक व्यवस्था में पश्चिमी देशों की भांति सरकार चलाने के लिए दलों का गठन नहीं किया बल्कि राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष को गति प्रदान करने के लिए दलों का उद्‌भव हुआ।
- समाजवादी देशों में एक दल संपूर्ण राज्य को नियंत्रित करता है तथा अपनी नीतियों से नागरिकों को नियंत्रित करते हुए निष्ठावान बनाता है।

नोट

अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)

1. राजनीतिक दलों की विशेषता का वर्णन करें।
2. राजनीतिक दलों के कार्यों को बताएँ।
3. दल पद्धति के गुण-दोषों को समझाइए।
4. विकासशील राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों का स्वरूप कैसा होता है?

संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)

1. तुलनात्मक राजनीति–चन्द्रदेव प्रसाद, ऐटलांटिक।
2. तुलनात्मक राजनीति–प्रो. रामानन्द गैरोला।
3. तुलनात्मक राजनीति–सी. वी. गेना, विकास पब्लिशिंग हाउस।

नोट

इकाई–II

राजनीतिक दलों का वर्गीकरण (Classification of Political Parties)

संरचना (Structure)

2.1 उद्देश्य (Objectives)

2.2 प्रस्तावना (Introduction)

2.3 सफल दलीय व्यवस्था की शर्तें (Conditions of Successful Party System)

2.4 दल-प्रणाली के रूप (Forms of Party System)

2.5 एकदलीय प्रणाली (One Party System)

2.6 द्विदलीय प्रणाली (Two Party System)

2.7 बहुदलीय प्रणाली (Multi Party System)

2.8 सारांश (Summary)

- अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)
- संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)

2.1 उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- राजनीतिक दलों के वर्गीकरण की जानकारी प्राप्त करने में।
- दलीय व्यवस्था की सफलता की शर्तों को जानने में।
- एकदलीय, द्विदलीय तथा बहुदलीय प्रणाली के गुण-दोष समझने में।

2.2 प्रस्तावना (Introduction)

राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों की कार्यप्रणाली, उनकी संरचनाओं और इन संरचनाओं को निर्धारित करने वाले कारकों से निरूपित होती है। इस आधार पर एकदलीय व्यवस्थाओं व दो या बहु-दलीय व्यवस्थाओं में कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता है। गहराई से देखने पर विभिन्न प्रकार की दल व्यवस्थाओं में दलों के द्वारा किये जाने वाले कार्य व राजनीतिक व्यवस्था की आवश्यकताओं की पूर्ति में उनकी भूमिका मोटी समानता रखती है। अतः

दल प्रणाली दो या दो से अधिक दलों का स्वतंत्र व खुले चुनावों में प्रतियोगी होना है, सही प्रतीत नहीं होती है। यह व्याख्या इस बात पर आधारित है कि दो या अधिक दलों के प्रतियोगी न होने पर राजनीतिक प्रक्रिया के प्रकटीकरण में मौलिक अंतर आ जाता है। इस कारण, अनेक विद्वान एक दल वाली व्यवस्था को, दलीय व्यवस्था में सम्मिलित नहीं करते हैं।

नोट

दल प्रणाली का उपरोक्त अर्थ अधिकांश विद्वानों के द्वारा स्वीकार नहीं किया गया है। उनके अनुसार एक दल वाली शासन-व्यवस्थाओं में भी निर्वाचन प्रतियोगिता होती है। डुवरजर के अनुसार नाजी जर्मनी, फासिस्ट इटली, सालाजार के समय में पुर्तगाल तथा 1923 से 1950 तक टर्की में एक दल के होते हुए भी निर्वाचन प्रतियोगिता का अभाव नहीं था। कोलमैन ने भी दल व्यवस्था में संख्या का आधार अस्वीकार करते हुए नाइजीरिया, घाना, सोमालिया, रोडेशिया और नागालैण्ड को एक से अधिक दलों के प्रतियोगी होने पर भी उन्हें एकदलीय प्रणाली में सम्मिलित किया है। ब्लेंकस्टीन इसी तरह मेक्सिको को एकदलीय व्यवस्था वाला राज्य मानते हैं। अत: दल व्यवस्था न संख्यात्मक लक्षण से परिभाषित की जा सकती है और न ही इसका निर्वाचन प्रतियोगिता के साथ सीधा सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। दल व्यवस्था का आजकल व्यापक अर्थ में प्रयोग किया जाता है। इसमें दलों की संख्या, संरचना, विचारधारा, उनकी पारस्परिकता इत्यादि अनेक लक्षणों का आधार लिया जाने लगा है। दल व्यवस्थाओं के वर्गीकरण, आधारों के विवेचन से दल व्यवस्था का अर्थ और भी स्पष्ट हो जाएगा।

2.3 सफल दलीय व्यवस्था की शर्तें (Conditions of Successful Party System)

दलीय व्यवस्था में अनेक दोष हैं परन्तु फिर भी आधुनिक काल में लोकतन्त्र के संचालन के लिए दलीय व्यवस्था अनिवार्य बन गयी है। अब तक किसी भी विद्वान ने यह नहीं दिखाया है कि दलीय व्यवस्था के बिना शासन का संचालन कैसे हो सकता है? यह तथ्य सर्वविदित है कि यदि राजनीतिक दलों को समाप्त कर दिया गया तो अनेक गम्भीर समस्याएँ उठ खड़ी होंगी। अत: दल-पद्धति को समाप्त करने के बजाय उसके दोषों को दूर करने का प्रयास करना चाहिए। दल-व्यवस्था के दोषों को दूर या कम करने के लिए निम्नांकित सुझाव दिये जा सकते हैं–

1. **शिक्षा का प्रसार**–यह बात सर्वविदित है कि शिक्षित जनता राजनीतिक समस्याओं को समुचित रूप से समझ सकती है तथा दलों की नीतियों और कार्यक्रमों का सही मूल्यांकन कर सकती है। अत: शिक्षा का प्रसार होना चाहिए।

2. **आर्थिक स्थिति में सुधार**–गरीब जनता को राजनैतिक दल खरीद सकते हैं, अत: जनता की गरीबी को भी दूर करना चाहिए जिससे उसके मत को कोई खरीद न सके तथा पूँजीपतियों का दल पर नियन्त्रण न हो सके।

3. **सहिष्णुता**–विविध राजनीतिक दलों के सदस्यों में एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता की भावना विकसित होनी चाहिए कि विरोधी दलों की भावनाओं का सम्मान करें और विपक्षी दलों को भी चरित्र-हनन की गन्दी राजनीति से दूर रहना चाहिए।

4. **सिद्धान्तों के आधार पर दलों का संगठन**–राजनैतिक दलों का संगठन निश्चित आर्थिक और राजनैतिक सिद्धान्तों के आधार पर होना चाहिए। जाति, धर्म, सम्प्रदाय जैसे संकुचित दृष्टिकोणों के आधार पर गठित दल देश का अहित करते हैं।

5. **द्विदलीय व्यवस्था**–राजनीतिक दलों की संख्या यथासम्भव कम होनी चाहिए। दो या तीन दल होने से स्थिर सरकारों का निर्माण होगा तथा सामान्य जन के लिए मतदान करना आसान हो जायेगा।

6. **बुनियादी एकता**–किसी भी देश में बुनियादी समस्याओं के बारे में विविध दलों में आम सहमति होनी चाहिए। यदि दलों में आम सहमति नहीं होगी तो संघर्ष और प्रतिस्पर्धा की राजनीति की शुरूआत होगी। ऐसी राजनीति राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल रहती है।

निष्कर्षत:, प्रतिनिधिक सरकार में दल अपरिहार्य हैं। दल ही वैधानिक सरकार को जन्म, शक्ति और गति देकर उसे परिचालित करते हैं, अत: उनके दोषों को दूर करना चाहिए।

2.4 दल-प्रणाली के रूप (Forms of Party System)

नोट

दल प्रणाली के मुख्यतया तीन रूप प्रचलित हैं–

1. एकदलीय प्रणाली, 2. द्वि-दलीय प्रणाली एवं 3. बहुदलीय प्रणाली।

2.5 एकदलीय प्रणाली (One Party System)

यदि देश में केवल एक ही दल हो और शासन-शक्ति का प्रयोग करने वाले सभी सदस्य एक ही राजनीतिक दल के सदस्य हों, तो वहाँ की दल-पद्धति को एकदलीय कहा जाता है। एकदलीय पद्धति का आधार यह विश्वास है कि समस्त राजनीतिक अभिजात वर्ग ने अपने नेता को राज्य की प्रभुसत्ता सौंप दी है। सम्पूर्ण देश में केवल एक ही दल कार्य कर सकता है। अन्य किसी दल को संगठित होने की स्वतंत्रता नहीं होगी। दल के विरुद्ध बोलना या सोचना राष्ट्रद्रोह समझा जाता है। यदि कोई अन्य दल जन्म लेता है तो उसे अवैध घोषित कर दिया जाता है अथवा उसे शक्ति के द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। इस प्रकार का प्राधिकार पहले निरंकुश राजतन्त्रों में था और आजकल यह अधिनायकतन्त्रों और जनवादी लोकतन्त्रों में पूर्ण अभिव्यक्ति पा रहा है।

एकदलीय शासन के कई रूप हैं–प्रथम, सोवियत संघ, पूर्व यूरोपीय, यूगोस्लाविया, अल्बानिया, चीन, क्यूबा आदि की समाजवादी सरकारें हैं जिनका अन्तिम ध्येय साम्यवादी समाज का निर्माण करना है। द्वितीय, स्पेन, फासिस्ट पुर्तगाल, नाजी जर्मनी और फासिस्ट इटली को लिया जा सकता है। ये पूर्णतया अधिनायकवादी शासन थे। हिंसात्मक पद्धति के माध्यम से अन्य दलों को धीरे-धीरे समाप्त कर दिया जाता है तथा यहाँ नेता, दल एवं राज्य में कोई अन्तर नहीं समझा जाता। उदाहरणार्थ जर्मनी में हिटलर ने एक-एक करके अन्य राजनैतिक दलों का जर्मनी से नामोनिशान ही मिटा दिया था। तृतीय श्रेणी में हम बर्मा और मिस्र जैसी सरकारों को रख सकते हैं जो राष्ट्रीयता और समाजवाद की भावनाओं से ओतप्रोत है और जिनका सूत्रपात सैनिकों की ओर से हुआ है। चतुर्थ श्रेणी में हम लैटिन अमेरिकन तथा पाकिस्तानी सरकारों को रख सकते हैं। ये सरकारें किसी नेता को केन्द्र बनाकर सैनिक शक्ति के आधार पर चलाई जाती हैं।

एकदलीय शासनों में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सक्रियता के सब पहलुओं पर पार्टी का अत्यधिक नियन्त्रण, प्रभावी विचारधारा पर बल तथा केवल शासक दल के हाथों से राजनीतिक श्रेष्ठजन की भर्ती का अधिकार रहता है।

एकदलीय प्रणाली के गुण (Merits of the One Party System)–एकदलीय प्रणाली में निम्नलिखित गुण पाये जाते हैं–

1. **सुदृढ़ शासन**–एकदलीय शासन विरोधी दलों के अभाव में दृढ़तापूर्वक शासन-संचालन करता है। दल जनशक्ति और सत्ता दोनों का स्रोत एवं प्रतीक हो जाता है। आवश्यकता पड़ने पर भय, आतंक, विवशता एवं शक्ति का समुचित प्रयोग भी किया जा सकता है।

2. **आर्थिक विकास में सहायक**–एकदलीय शासन में दीर्घकालीन योजनाओं को आसानी से अपनाया जाता है। इससे आर्थिक विकास की गति तीव्र होगी। उदाहरणार्थ चीन और सोवियत संघ में अनेक दोषों और कमियों के रहते हुए भी जो महान आर्थिक उन्नति हुई है, उसे आज उसके प्रबल विरोधी भी स्वीकार करते हैं।

3. **अनुशासन**–एकदलीय शासन में उच्च कोटि का अनुशासन रहता है। आये दिन हड़ताल, तालाबन्दी, घेराव जैसी उच्छृंखलताएँ नहीं देखी जातीं। शासन की शक्ति का भय बना रहता है।

4. **राष्ट्रीय एकता**–एकदलीय व्यवस्था से जनता में विभाजन तथा गुटबन्दी का डर भी खत्म हो जाता है तथा राष्ट्रीय एकता बनी रहती है।

एकदलीय प्रणाली के दोष (Demerits of the one Party System)

नोट

1. **वैयक्तिक स्वतंत्रता का लोप**–एकदलीय शासन-व्यवस्था में वैयक्तिक स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है। इसमें खुले विचार-विमर्श, वाद-विवाद एवं आलोचना को स्थान नहीं दिया जाता, समुदाय और संघ बनाने को भी स्वतंत्रता नहीं रहती।

2. **विपक्ष का अभाव**–किसी भी शासन में विपक्ष की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहती है। विपक्ष न केवल शासन को जागरुक रखता है अपितु वैकल्पिक नीतियाँ भी प्रस्तुत करता है। एकदलीय व्यवस्था में विपक्ष को कुचल दिया जाता है और जनता को आतंकित कर दिया जाता है।

3. **अधिनायकतन्त्र**–एकदलीय शासन वस्तुतः अधिनायकतन्त्र हो जाता है। यह व्यक्ति के जीवन के सभी पहलुओं पर नियन्त्रण रखता है। व्यक्ति की स्थिति राज्य रूपी मशीन के पुर्जे के समान हो जाती है।

4. **प्रगतिशील विचारों का विरोधी**–एकदलीय शासन सभी प्रगतिशील विचारों–लोकतंत्र, उदारवाद, समानता तथा स्वतन्त्रता–का विरोधी हो जाता है।

5. **दासतापूर्ण जीवन का दृष्टिकोण**–एकदलीय शासन में शिक्षा, कला व साहित्य का स्वतंत्र विकास संभव नहीं होता। शिक्षा, समाज, कला और साहित्य पर दल का अंकुश रहता है। **कोकर** के अनुसार, "राष्ट्र के सार्वजनिक तथा सांस्कृतिक जीवन को केन्द्रीकृत किये जाने पर उस देश-विशेष के साहित्य, कला तथा ज्ञान की उन्नति समाप्त हो जाती है।"

2.6 द्विदलीय प्रणाली (Two Party System)

द्विदलीय प्रणाली से यह अभिप्राय नहीं है कि किसी देश में केवल दो ही दल हों और तीसरे दल का अस्तित्व न हो, बल्कि इसका यह अर्थ है कि वहाँ पर केवल दो बड़े और महत्त्वपूर्ण दल हों और शेष महत्त्वहीन हों। **सेट** के अनुसार, "द्विदलीय व्यवस्था से हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि राज्य में केवल दो ही राजनीतिक दल हों, प्रत्युत् हमारा आशय यह है कि यदि अन्य दल हों तो इतने छोटे कि उनका राजनीति पर विशेष प्रभाव न हो और विधानांग में बहुमत प्राप्त करने के लिए उनके साथ मिलकर संयुक्त सरकार बनाने की आवश्यकता न पड़े।"

एलेन बाल ने द्विदलीय प्रणाली को दो भागों में बाँटा है–

1. **अस्पष्ट द्विदलीय पद्धतियाँ**–जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका, आयरलैण्ड में।

2. **सुस्पष्ट द्विदलीय पद्धतियाँ**–जैसे ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, पश्चिमी जर्मनी।

ब्रिटेन और अमरीका की शासन-व्यवस्था में द्विदलीय पद्धति एक विशेषता है। इस पद्धति में कोई भी एक दल स्थायी रूप से शासक दल अथवा विरोधी दल नहीं रह पाता। दोनों दल समय-समय पर शासन-सत्ता हस्तगत करते हैं और जो भी दल विरोधी दल बनता है उसमें उत्तरदायित्व और गम्भीरता की कमी नहीं आने पाती।

ब्रिटेन में अनुदार दल और श्रमिक दल प्रमुख राजनीतिक दल हैं तथा अमरीका में डेमोक्रेट और रिपब्लिकन पार्टी प्रमुख हैं। ब्रिटेन में उदार दल और अमरीका में साम्यवादी दल, अमेरिकी श्रमिक संघ जैसी तीसरी पार्टियों के होते हुए भी इन देशों की (द्वि)दलीय पद्धतियों के आवश्यक लक्षणों में गड़बड़ी पैदा नहीं हो सकी।

द्विदलीय प्रणाली के गुण (Merits of the two Party System)

द्विदलीय प्रणाली के निम्नलिखित गुण हैं–

1. **स्थिर सरकार**–द्विदलीय प्रणाली में कार्यपालिका अधिक स्थायी होती है। जब बहुमत वाले दल का एक बार मन्त्रिमण्डल बन जाता है तो फिर उसे आसानी से नहीं हटाया जा सकता। मन्त्रिमण्डल को यह विश्वास रहता है कि उसकी नीतियों और कार्यों का समर्थन करने के लिए विधायिका का बहुमत सदैव उसके पीछे छाया की भाँति विद्यमान रहता है। द्विदलीय प्रथा के कारण ही ब्रिटेन में मन्त्रिमण्डलों का औसत जीवन-काल साढ़े तीन वर्ष है जबकि फ्रांस में (तृतीय एवं चतुर्थ गणतंत्र में) मन्त्रिमण्डल का औसत कार्यकाल केवल 9 महीने होता था।

नोट

2. उत्तरदायित्व का निर्धारण–द्विदलीय व्यवस्था वाले देशों में शासन द्वारा किये गये अच्छे या बुरे कार्यों के लिए उत्तरदायित्व का निर्धारण आसानी से हो जाता है। सत्ताधारी दल को उन सभी दोषों के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है जो उसके कार्यकाल में होते हैं। कोई भी दल अपना उत्तरदायित्व दूसरों के सिर नहीं मढ़ सकता।

3. स्थायी नीतियों का निर्माण–द्विदलीय प्रणाली में केवल शासन में ही स्थायित्व उत्पन्न नहीं होता वरन् शासकीय नीतियों में भी शाश्वतता उत्पन्न होती है। जिस सरकार को एक लम्बे समय तक बने रहने का विश्वास होता है वह दूरगामी योजनाओं को सफलतापूर्वक चला सकती है। वस्तुतः इस प्रकार की शासन-प्रणाली में एक लम्बे समय के लिए निश्चित और दृढ़ नीति अपनाई जा सकती है।

4. शासन का स्वस्थ एवं रचनात्मक विरोध–द्विदलीय प्रणाली में विरोधी दल सरकार की आलोचना जिम्मेदारी के साथ करता है। इसमें अनुत्तरदायी आलोचना की सम्भावना कम होती है क्योंकि आलोचना करने वाला विरोधी दल यह जानता है कि सरकार के त्यागपत्र देने पर उसे सरकार बनानी पड़ सकती है और अपनी आलोचना को सही सिद्ध करना पड़ सकता है।

5. सरकार का निर्माण सरल–इस प्रणाली में सरकार (मंत्रिमण्डल) का निर्माण काफी सरल रहता है। विधायिका में जिसका बहुमत रहता है उसका मंत्रिमण्डल बन जाता है और सरकार चलाने की सम्पूर्ण जिम्मेदारी उसी पर आ जाती है। यदि सत्ताधारी दल विधायिका का विश्वास खो देता है अथवा चुनावों में हार जाता है तो विरोधी दल की सरकार बन जाती है। इस प्रकार प्रणाली में संवैधानिक गतिरोध उत्पन्न नहीं होता।

6. सरकार का सीधा चुनाव–**लास्की** के अनुसार, द्विदलीय व्यवस्था में जनता सरकार का प्रत्यक्ष निर्वाचन करती है। मतदाता यदि सत्ताधारी दल के विरुद्ध मत देता है तो यह स्पष्ट है कि वह विपक्षी दल की सरकार चाहता है। यदि मतदाता वर्तमान में सत्तारूढ़ दल को मत देता है तो इसका अभिप्राय होता है कि वह सत्ताधारी दल की ही पुनः सरकार चाहता है। मतदाता के मस्तिष्क में सत्तारूढ़ दल को स्वीकार या अस्वीकार करने की भावना स्पष्ट रहती है।

प्रो. लास्की के शब्दों में, "केवल यही (द्विदलीय प्रणाली) एक विधि है जिसके द्वारा लोग निर्वाचन के समय अपनी सरकार का प्रत्यक्ष चुनाव करते हैं। यह उसकी असफलता के परिणामों के बारे में ज्ञान प्रदान करती है। यह वैकल्पिक सरकार को शीघ्र ही वास्तविक रूप प्रदान करती है।" **फाइनर** के अनुसार, "हर स्थान पर दो दलों का संघर्ष अच्छा होता है। जहाँ दो दलों में संघर्ष रहता है, वहाँ त्रुटियाँ आसानी से पकड़ी जा सकती हैं और पूर्ण विनाश की सम्भावनाएँ भी कम हो जाती हैं।" संक्षेप में, द्विदलीय प्रणाली में राजनीतिज्ञों में असन्तोष की भावना उत्पन्न नहीं होने पाती। वे जानते हैं कि आज का विरोधी दल कल का शासक दल होगा, अतः वे केवल रचनात्मक विरोध करके शासन को सुचारु रूप से नियन्त्रित करते हैं।

द्विदलीय प्रणाली के दोष (Demerits of the Two Party System)

द्विदलीय प्रणाली के निम्नलिखित दोष हैं–

1. बहुमत दल की तानाशाही–द्विदलीय प्रणाली वाले शासन में बहुमत दल सरकार बनाता है और उसे यह विश्वास रहता है कि निश्चित अवधि से पूर्व उसे अपदस्थ नहीं किया जा सकता है। इसलिए वह मनमानी करता है तथा विरोधी दल की तनिक भी परवाह नहीं करता।

2. मतदाताओं के लिए चयन की कम स्वतंत्रता–द्विदलीय प्रणाली में मतदाताओं के लिए चयन का क्षेत्र बहुत संकीर्ण हो जाता है। मतदाताओं को केवल दो दलों में से ही चयन करना पड़ता है चाहे वे दोनों ही दलों को पसन्द न करते हों। इससे कभी-कभी मतदाता राजनीति से उदासीन हो जाते हैं। यदि दो से अधिक दल हों, तो उनकी स्वतन्त्रता अधिक हो जाती है।

3. विविध हितों को विधायिका में प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाता–द्विदलीय व्यवस्था को अपनाने से विभिन्न हितों और अन्य वर्गों को विधायिका में प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाता। जहाँ अनेक दल होते हैं वहाँ विविध वर्गों एवं हितों को आसानी से प्रतिनिधित्व मिल जाता है।

4. विधायिका की शक्तियों का ह्रास होना–द्विदलीय प्रणाली वाले देशों में कार्यपालिका की शक्ति अनवरत रूप से बढ़ती जाती है और विधायिका की शक्तियों का ह्रास होता है। अपने बहुमत के नशे में चूर सरकार मनमाने कानून बनवाती है और यदि विधायिका उसका समर्थन न करे तो प्रधानमन्त्री की सलाह से उसे भंग किया जा सकता है। द्विदलीय प्रथा में पाये जाने वाले दृढ़ दलीय अनुशासन के कारण 'मन्त्रिमण्डल की तानाशाही' की धारणा का प्रचलन हुआ है। ब्रिटिश शासन-प्रणाली के बारे में **रैम्जे म्योर** ने लिखा है, "मन्त्रिमण्डल की तानाशाही ने संसद की शक्ति तथा सम्मान को बहुत कम कर दिया है।"

नोट

5. राष्ट्र दो विरोधी गुटों में बँट जाता है–द्विदलीय व्यवस्था वाले देश विचारधारा के आधार पर दो गुटों में विभाजित हो जाते हैं। राष्ट्र का ऐसा विभाजन एक भयंकर राजनैतिक प्रवृत्ति मानी जानी चाहिए।

निष्कर्ष–द्विदलीय प्रणाली के गुण-दोषों का विवेचन करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संसदीय शासन-प्रणाली की सफलता के लिए द्विदलीय प्रथा सुविधाजनक रहती है। ब्रिटेन में आज तक राजनीतिक अस्थिरता एवं शून्यता पैदा नहीं हुई क्योंकि वहाँ बहुमत वाला दल सरकार बनाता है तथा अल्प मत वाला दल विपक्ष में बैठकर सरकार की नीतियों का विकल्प प्रस्तुत करता है। फ्रांस और भारत में इसके विपरीत बहुदलीय व्यवस्था विकसित हुई, जहाँ कई बार (भारत के राज्यों में) सरकार बनाना कठिन हो गया एवं राजनीतिक गतिरोध उत्पन्न हुए। **प्रो. लास्की** के शब्दों में "संसदीय शासन एक सुनियमित द्विदलीय पद्धति द्वारा ही सबसे अधिक सफल हो सकता है।" **फाइनर** के अनुसार, "जिस देश में द्विदलीय पद्धति होगी वहाँ के लोग कर्तव्यपरायण और सुखी होंगे।" **मैकाइवर** का कथन है कि "द्विदलीय पद्धति में जहाँ अधिकारों का केन्द्रीयकरण होता है वहाँ उत्तरदायित्व का भी केन्द्रीयकरण होता है और उसे लागू करने का ढंग सरल होता है।"

2.7 बहुदलीय प्रणाली (Multi Party System)

जहाँ दो से अधिक दल राजनीति में सक्रिय होते हैं वहाँ बहुदलीय प्रणाली होती है। बहुदलीय प्रथा वाले देशों में प्रायः किसी दल को बहुमत नहीं मिल पाता, अतः कोई एक दल सरकार नहीं बना सकता। यूरोप के अधिकांश राज्य में तथा अफ्रीका और एशिया के नवोदित स्वतन्त्र हुए देशों में प्रायः बहुदलीय पद्धति है। बहुदलीय पद्धति का एक अद्भुत उदाहरण फ्रांस में मिलता है। वीमर संविधान में भी बहुत से दल थे, परन्तु प्रत्येक दल के विरोध में शेष समस्त दल संगठित होकर एक संयुक्त दल के रूप में कार्य करते थे। भारत में भी बहुदलीय पद्धति क्रियाशील रही है। भारत में इतने अधिक दल हैं कि उनकी संख्या निश्चित करना ही कठिन है। प्रथम आम चुनाव के बाद लोक सभा में तेईस दलों के प्रतिनिधि पहुँचे। भारत में कई दलों के रहते हुए भी केन्द्र में मार्च, 1977 तक एक दल का ही बहुमत रहा है।

बहुदलीय प्रणाली के गुण (Merits of the Multi Party System)

बहुदलीय प्रणाली के निम्नलिखित गुण हैं–

(1) शासन निरंकुश नहीं बन सकता–बहुदलीय व्यवस्था में संयुक्त मन्त्रिमण्डल का निर्माण होने के कारण किसी एक राजनैतिक दल को एकाधिकार स्थापित करने का अवसर नहीं मिलता। शासन कार्य हमेशा आदान-प्रदान और समझौते की भावना से चलता है। संयुक्त अथवा मिली-जुली सरकारें कभी निरंकुश नहीं हो सकतीं।

(2) मतदाताओं को चयन के अधिक विकल्प–जहाँ बहुत दल होते हैं, वहाँ मतदाताओं को चयन की अधिक स्वतन्त्रता होती है। द्विदलीय व्यवस्था की तुलना में बहुदलीय व्यवस्था में बहुत से उम्मीदवार होते हैं और उनमें से मतदाता अपनी इच्छानुकूल किसी का चयन कर सकता है।

(3) संसदीय शक्ति का ह्रास नहीं–विधायिका की शक्तियों का वास्तविक निखार बहुदलीय व्यवस्था में ही आता है क्योंकि मिली-जुली सरकार आसानी से विधायिका की सद्भावना पर ही निर्भर है।

(4) राष्ट्र दो विरोधी गुटों में नहीं बँटता– इस दल-पद्धति वाले देश दो विरोधी गुटों में बँटने से बच जाते हैं। दलीय अनुशासन की भावना कठोर न होने के कारण बहुदलीय पद्धति वाले देशों में दलबन्दी की भावना को बढ़ा-चढ़ाकर प्रदर्शित नहीं किया जाता।

नोट

(5) सभी हितों एवं विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व–बहुदलीय पद्धति वाले देशों की विधायिका और कार्यपालिका में किसी एक या दो दलों की प्रधानता नहीं रहती, बल्कि सभी दल समकक्ष होते हैं। विधायिका तथा कार्यपालिका में कई दलों को प्रतिनिधित्व प्राप्त होता हे। इस भाँति विभिन्न वर्गों तथा स्वार्थों को शासन में पूर्ण प्रतिनिधित्व मिल जाता है।

बहुदलीय प्रणाली के दोष (Demerits of the Multi Party System)

बहुदलीय प्रणाली के निम्नलिखित दोष हैं–

(1) शासन में अस्थिरता–बहुदलीय व्यवस्था से कई दलों की मिली-जुली सरकारों का निर्माण होता है। कई दलों की मिली-जुली सरकारें "खिचड़ी" अथवा "भानुमती के कुनबे" के समान होती हैं। मिली-जुली सरकारें कई दलों से मिलकर बनती हैं, अत: उनके विचारों में साम्य और समन्वय स्थापित करना कठिन हो जाता है। जब किसी वैचारिक या नीति सम्बन्धी प्रश्न पर इन दलों में झगड़ा होता है तो संयुक्त मन्त्रिमण्डल शीशे की भाँति टूट जाते हैं। भारत के राज्यों मे चतुर्थ आम चुनाव के बाद उत्तर प्रदेश, बिहार आदि राज्यों में ऐसी ही संयुक्त सरकारें बनी थीं जो एकदम अस्थिर रहीं।

(2) उत्तरदायित्व का अभाव–मिली-जुली बहुदलीय सरकारों में उत्तरदायित्व को निश्चित करना अत्यन्त कठिन है। प्रशासन की सफलता का श्रेय तो प्रत्येक दल हासिल करना चाहता है किन्तु असफलता दूसरों के ऊपर डालने में लगा रहता है।

(3) कार्यकुशलता का अभाव–बहुदलीय संयुक्त (Coalition) सरकारें अपनी शक्ति और श्रम राजनैतिक कार्यों में ही नष्ट करती रहती हैं। मन्त्रीगण कुर्सी बचाने की चिन्ता में व्यस्त रहते हैं और इस प्रकार प्रशासन की उपेक्षा हो जाती है। इससे प्रशासकीय सूत्रों में शिथिलता आ जाती है और नौकरशाही का प्रभाव बढ़ जाता है।

(4) दीर्घकालीन नीतियों का अभाव–बहुदलीय पद्धति में साझा सरकारें अस्थिर होती हैं, अत: सरकारों के शीघ्र परिवर्तन के कारण नीति की अनिश्चितता उत्पन्न होती है और दीर्घकालीन नीतियों का निर्माण सम्भव नहीं हो पाता, जबकि आर्थिक विकास के लिए दीर्घकालीन नीतियों का निर्माण अनिवार्य होता है।

(5) कार्यपालिका की दुर्बल स्थिति–बहुदलीय शासन वाले देशों में कार्यपालिका दुर्बल होती है। प्रधान मन्त्री को कई दलों को साथ लेकर चलना पड़ता है। उसे विभिन्न दलों को प्रसन्न रखते हुए उनमें तालमेल स्थापित करना पड़ता है। यदि कोई भी दल किसी भी समय सरकार का समर्थन करना बन्द कर दे तो सरकार का पतन हो जाता है।

निष्कर्ष–द्विदलीय पद्धति में मतदाता प्रत्यक्ष रूप से इस बात का निर्णय करते हैं कि देश में किस दल का शासन होना चाहिए अर्थात् किस नीति का पालन होना चाहिए। इसके विपरीत बहुदलीय पद्धति वाले देशों के मिले-जुले मन्त्रिमण्डलों में कोई निश्चित नीति नहीं होती और न कोई सामान्य कार्यक्रम। बहुदलीय पद्धति में मतदाता प्राय: व्यक्ति-विशेष अथवा समूह विशेष को मत देते हैं, दल को नहीं। इसमें अल्पमत वाले स्वार्थी व्यक्ति अधिक संख्या में निर्वाचित हो जाते हैं जिनके व्यक्तिगत स्वार्थ इतने अधिक और सशक्त होते हैं कि वे अपने स्वार्थों के आगे राष्ट्रीय हित को बलिदान कर देते हैं।

छात्र क्रियाकलाप

1. दल-व्यवस्था के दोषों को दूर या कम करने के लिए सुझावों का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

नोट

2. द्विदलीय व्यवस्था से आप क्या समझते हैं?

2.8 सारांश (Summary)

- आधुनिक काल में लोकतंत्र के संचालन के लिए दलीय व्यवस्था अनिवार्य बन गई है। दलीय व्यवस्था के बिना शासन चलाना बहुत कठिन है। दलीय व्यवस्था से काम कर सके इसके लिए दलीय व्यवस्था के दोषों को दूर करना आवश्यक है।
- दल प्रणाली मुख्यतया तीन रूप में प्रचलित है–1. एकदलीय प्रणाली, 2. द्विदलीय प्रणाली, एवं 3. बहुदलीय प्रणाली।
- यदि देश में केवल एक ही दल हो और शासन-शक्ति का प्रयोग करने वाले सभी सदस्य एक ही राजनीतिक दल के हों, वहाँ की दल पद्धति को एकदलीय कहा जाता है।
- द्विदलीय प्रणाली के केवल दो बड़े और महत्त्वपूर्ण दल होते हैं जो सक्रिय होते हैं और शेष महत्त्वहीन दल होते हैं।
- जहाँ दो से अधिक दल राजनीति में सक्रिय होते हैं वहाँ बहुदलीय प्रणाली होती हैं।

अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)

1. राजनीतिक दलों का संक्षिप्त वर्गीकरण दें।
2. एकदलीय प्रणाली के गुणों का वर्णन करें।
3. द्विदलीय प्रणाली के गुण-दोषों को बताएँ।
4. बहुदलीय प्रणाली के गुण-दोषों को बताएँ।
5. सफल दलीय व्यवस्था की क्या-क्या शर्तें हैं?

संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)

1. तुलनात्मक राजनीति–चन्द्रदेव प्रसाद, ऐटलांटिक।
2. तुलनात्मक राजनीति–प्रो. रामानन्द गैरोला।
3. तुलनात्मक राजनीति–सी. वी. गेना, विकास पब्लिशिंग हाउस।

नोट

इकाई–III

दबाव-समूह
(Pressure Groups)

संरचना (Structure)

3.1 उद्देश्य (Objectives)

3.2 प्रस्तावना (Introduction)

3.3 दबाव समूह : अर्थ एवं परिभाषा (Pressure Groups : Meaning and Definitions)

3.4 दबाव तथा हित समूह में अन्तर (Difference between Pressure and Interest Groups)

3.5 सारांश (Summary)

- अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)
- संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)

3.1 उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- दबाव समूह के अर्थ को समझने में।
- दबाव समूह और हित समूह में अंतर को समझने में।
- दबाव समूह किस प्रकार सरकार की निरंकुशता को सीमित करता है, इसकी जानकारी प्राप्त करने में।

3.2 प्रस्तावना (Introduction)

राजनीतिक प्रक्रिया में दबाव समूहों का विशिष्ट महत्त्व है। ऐसा भी समय था जबकि दबाव तथा हित समूहों को अनैतिक माना जाता था एवं हेय दृष्टि से देखा जाता था। फ्रेडरिक ने लिखा है कि "क्या कूड़ा ढोने वाले और राजनीति शास्त्र के गम्भीर छात्र सभी इन दबाव समूहों को घटिया व तुच्छ दृष्टि से देखते थे। इन्हें ऐसी पापात्मा शक्ति माना जाता था जो लोकतन्त्र की जड़ें कमजोर करने अथवा प्रतिनिध्यात्मक शासन को विचलित कर सकती थी। 'लॉबी' शब्द को हेय दृष्टि से देखा जाता था और इसे धोखा, भ्रष्टाचार, बुराई आदि का प्रतीक माना जाता था।" किन्तु आधुनिक काल में दबाव तथा हित समूहों को लोकतन्त्र का पक्षपोषक एवं सहयोगी माना जाने लगा है। ब्रिटिश

लोकतन्त्र में उनकी विशेष भूमिका है। चूँकि ब्रिटेन एक बहुलवादी राजनीतिक व्यवस्था का उदाहरण पेश करता है और लोगों ने अपने बहुमुखी विकास के लिए अनेक गुटों और समूहों की सृष्टि की है जो अपने हितों की पूर्ति के लिए शासन तन्त्र को प्रभावित करने में अनवरत रूप से लगे रहते हैं। **बीअर** के शब्दों में, "दबाव गुट ब्रिटिश संसदीय लोकतन्त्र का अभिन्न अंग बन गये हैं।" ग्रेट ब्रिटेन में 19वीं सदी के सुधार आन्दोलनों के परिणामस्वरूप दबाव गुटों का विकास हुआ है। बेन्थम, कॉब्डन एवं मिल का इस प्रकार के हित समूहों से सम्बन्ध था।

नोट

3.3 दबाव समूह : अर्थ एवं परिभाषा (Pressure Groups : Meaning and Definitions)

'दबाव समूह' को विभिन्न नामों से सम्बोधित किया गया है। हित समूह (Interest Groups), गैर-सरकारी संगठन (Private Organisation), लॉबीज (Lobbies), अनौपचारिक संगठन (Informal Groups) इत्यादि शब्दों का प्रयोग दबाव गुटों के लिए किया जाता रहा है। दबाव समूहों तथा अन्य संगठनों में अंतर अवश्य है। सभी संगठन दबाव समूह नहीं होते और न हित समूह और दबाव समूह समान ही हैं। प्रत्येक देश और समाज में सैकड़ों हित समूह होते हैं, किन्तु जब वे सत्ता को प्रभावित करने के इरादे से राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय हो जाते हैं तो 'दबाव समूह' बन जाते हैं। व्यक्तियों के ऐसे समूहों को दबाव समूह कहा जाता है जो किसी कार्यक्रम के आधार पर निर्वाचकों को प्रभावित नहीं करते, लेकिन जिनका सम्बन्ध विशेष मसलों से होता है। ये राजनीतिक संगठन नहीं होते और न ही चुनावों में अपने प्रत्याशी खड़ा करते हैं।

ओडिगार्ड के अनुसार, "दबाव समूह ऐसे लोगों का औपचारिक संगठन है जिनके एक अथवा अधिक सामान्य उद्देश्य या स्वार्थ होते हैं और जो घटनाओं के क्रम को विशेष रूप से सार्वजनिक नीति के निर्माण और शासन को इसलिए प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं कि वे अपने हितों की रक्षा एवं वृद्धि कर सकें।" **मैकेंजी** ने दबाव गुटों को परिभाषित करते हुए लिखा है–"वे संगठित समूह जिनका बाकायदा एक कार्यालय होता है और कुछ कर्मचारी, जिनके सदस्यों के कुछ साझे हित होते हैं और जो सरकारी अधिकारियों व सरकारी विभागों के निर्णयों को प्रभावित करने की कोशिश करते रहते हैं।"

वस्तुत: दबाव समूह ऐसा माध्यम है जिनके द्वारा सामान्य हित वाले व्यक्ति सार्वजनिक मामलों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। इस अर्थ में ऐसा कोई भी सामाजिक समूह जो प्रशासकीय और संसदीय दोनों ही प्रकार के पदाधिकारियों को, सरकार पर नियन्त्रण प्राप्त करने हेतु कोई प्रयत्न किये बिना ही प्रभावित करना चाहते हैं तो दबाव गुट की श्रेणी में आयेंगे।

संक्षेप में, दबाव गुटों के प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं–(*i*) दबाव समूह अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए नीति निर्माताओं को प्रभावित करते हैं। (*ii*) दबाव समूहों का सम्बन्ध विशिष्ट मसलों से होता है। (*iii*) ये राजनीतिक संगठन नहीं होते और न ही ये चुनाव में भाग लेते हैं। (*iv*) दबाव समूहों को अज्ञात साम्राज्य कहा गया है। जब उनके हित खतरे में होते हैं तो वे सक्रिय बन जाते हैं।

3.4 दबाव तथा हित समूह में अन्तर (Difference between Pressure and Interest Groups

इस अध्याय में दबाव तथा हित समूहों को समानार्थक शब्दों के रूप में प्रयुक्त किया गया है। चूँकि दोनों में बहुत अधिक अन्तर नहीं है, दोनों में अन्तर करना आसान भी नहीं है। फिर भी सैद्धान्तिक दृष्टि से 'दबाव' तथा 'हित समूहों' में अन्तर किया जा सकता है। **अर्ल लहम** के अनुसार, "सभी हित समूह दबाव समूह नहीं होते किन्तु परिस्थितिवश वे दबाव समूह का रूप धारण कर सकते हैं।" प्रत्येक देश और समाज में सैकड़ों हित समूह होते हैं किन्तु जब वे सत्ता को प्रभावित करने के इरादे से राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय हो जाते हैं तो 'दबाव समूह' बन जाते हैं। दबाव समूहों की तुलना अज्ञात साम्राज्य से की जाती है। जब इनके हित संकट में होते हैं अथवा जब इन्हें कतिपय स्वार्थों की प्राप्ति करनी होती है तो वे सक्रिय बन जाते हैं, अन्यथा वे हित समूहों के रूप में निष्क्रिय ही बने रहते हैं।

नोट

दबाव समूहों का महत्त्व (Importance of Pressure Groups)

दबाव समूहों का महत्त्व अत्यन्त व्यापक बनता जा रहा है। ये समूह प्रशासन को जन इच्छा के अनुकूल बनाने में महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। दबाव समूहों की उपयोगिता तथा महत्त्व इस प्रकार है–

(1) जनतान्त्रिक प्रक्रिया की अभिव्यक्ति के उपकरण–दबाव समूहों को लोकतन्त्र की अभिव्यक्ति का साधन माना जाता है। लोकतन्त्र की सफलता के लिए लोकमत तैयार करना आवश्यक है ताकि विशिष्ट नीतियों का समर्थन अथवा विरोध किया जा सके। विभिन्न देशों में दबाव गुट विभिन्न तरीकों से अपनी बात मनवाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। लोकमत को शिक्षित करके, आँकड़े इकट्ठे करके, नीति निर्माताओं के पास आवश्यक सूचनाएँ पहुँचाकर अपने अभीष्ट की प्राप्ति करना आज लोकतान्त्रिक प्रक्रिया का अंग बन गया है।

(2) शासन के लिए सूचनाएँ एकत्रित करने वाले संगठनों के रूप में दबाव समूह–प्रत्येक देश में सरकार तथा शासन के पास आवश्यक सूचनाएँ पर्याप्त रूप से होनी चाहिए। शासन की सूचनाओं के गैर-सरकारी स्रोत के रूप में दबाव समूह महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। दबाव समूह आँकड़े इकट्ठे करते हैं, शोध करते हैं तथा सरकार को अपनी कठिनाइयों से परिचित कराते हैं।

(3) शासन को प्रभावित करने वाले संगठनों के रूप में दबाव समूह–आजकल दबाव समूहों का अस्तित्व एक ऐसी संस्था के रूप में है जिनके पास इस दृष्टि से काफी शक्ति होती है कि वह स्वार्थ या हित विशेष की रक्षा के लिए सरकारी मशीनरी पर उपयोगी व सफल प्रभाव डाल सकें।

(4) सरकार की निरंकुशता को सीमित करना–प्रत्येक शासन व्यवस्था में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति बढ़ रही है और समूची शक्तियाँ सरकार के हाथों में केन्द्रित होती जा रही हैं। दबाव समूह अपने साधनों द्वारा सरकारी निरंकुशता को परिसीमित करते हैं।

(5) व्यक्ति और सरकार के मध्य संचार के साधन–दबाव समूह लोकतांत्रिक राज्य व्यवस्था में व्यक्तिगत हितों का राष्ट्रीय हितों के साथ सामंजस्य स्थापित करते हैं। ये समूह नागरिक और सरकार के बीच संचार साधन का कार्य करते हैं। **रॉडी** के अनुसार, "निर्वाचित नेता दबाव समूहों के माध्यम से अपने निर्वाचकों की इच्छा-आकांक्षाओं का पता लगा लेते हैं। अतः इन्हें गैर-सरकारी संचार सूत्र कहा जा सकता है।"

(6) विधानमण्डल के पीछे विधानमण्डल का कार्य करना–दबाव समूह विधि निर्माण में विधायकों की सहायता करते हैं। अपनी विशिष्टता तथा ज्ञानगुरुता के कारण ये गुट विधि निर्माता समितियों के सदस्यों को आवश्यक परामर्श देते हैं। इनका परामर्श और सहायता दोनों ही इतनी उपयोगी होती हैं कि इन्हें विधानमण्डल के पीछे का विधानमण्डल कहा जाने लगा है।

दबाव समूहों के तरीके (Pressure Group's Technique)

दबाव समूह अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए उपयुक्त साधन या तरीके अपनाते हैं। प्राचीन समय में उनके साधनों को बुरी नजर से तथा घृणा से देखा जाता था, किन्तु आज इन्हें बुरा नहीं माना जाता। दबाव समूह द्वारा अपनाये जाने वाले साधन इस प्रकार हैं–

(1) प्रचार व प्रसार के साधन–अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए, जनता में अपने पक्ष में सद्भावना का निर्माण करने के लिए और उद्देश्य प्राप्ति में सहायक सिद्ध होने वाले लोगों के दृष्टिकोण को अपने पक्ष में करने के लिए ये विभिन्न दबाव समूह अथवा वर्गीय या आर्थिक हितों के प्रभावशाली संगठन प्रेस, रेडियो, टेलीविजन और सार्वजनिक सम्बन्धों के विशेषज्ञों की सेवाओं का उपयोग व प्रयोग करते हैं।

(2) आँकड़े प्रकाशित करना–नीति निर्माताओं के समक्ष अपने पक्ष को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करने के लिए दबाव समूह आँकड़े प्रकाशित करते हैं, ताकि अपनी बात को पूरा करवा सकें।

(3) गोष्ठियाँ आयोजित करना–आजकल दबाव समूह विचार-विमर्श तथा वाद-विवाद के लिए गोष्ठियाँ, सेमिनार तथा भाषण-मालाएँ आयोजित करते हैं। इन गोष्ठियों में विधायिका तथा प्रशासिका के प्रमुख अधिकारियों को आमन्त्रित करते हैं और उन्हें अपने मन से प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं।

नोट

(4) संसद की लॉबियों में सक्रिय रहना–दबाव समूह अपने एजेण्टों के माध्यम से संसद के सभाकक्षों में जाकर सदस्यों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हुए सांसदों से सम्पर्क करते हैं, उनकी गतिविधियों पर निगरानी रखते हैं और विचारधारा को बदलने का प्रयास करते हैं।

(5) लॉबीइंग–लॉबीइंग से अभिप्राय है 'सरकार को प्रभावित करना।' यह एक राजनीतिक उपाय है। लॉबीस्ट का कार्य करने वाले व्यक्ति दबाव समूह और सरकार के बीच मध्यस्थ होते हैं। लॉबीस्ट के माध्यम से दबाव समूह विधि निर्माताओं को प्रभावित करते हैं और वांछित लक्ष्यों की प्राप्ति करते हैं।

(6) सांसद के मनोनयन में रुचि–दबाव समूह ऐसे व्यक्तियों को चुनावों में दलीय प्रत्याशी मनोनीत करवाने में मदद देते हैं जो आगे चलकर संसद में उनके हितों की अभिवृद्धि में सहायक हों।

(7) प्रदर्शन–कभी-कभी दबाव समूह उग्र आन्दोलनात्मक तथा प्रदर्शनकारी साधनों का भी प्रयोग करते हैं। प्राय: प्रदर्शनकारी दबाव समूहों द्वारा ही ऐसे साधनों का अधिक प्रयोग किया जाता है। आजकल तो दूसरे अन्य दबाव गुट भी हड़ताल, जुलूस, रैली आदि साधनों का आमतौर से प्रयोग करते रहते हैं।

छात्र क्रियाकलाप

1. राजनीतिक प्रक्रिया में किसका विशेष महत्व है?

2. 'दबाव समूह' को किन-किन नामों से जाना जाता है?

3.5 सारांश (Summary)

- दबाव समूह को विभिन्न नामों से संबोधित किया जाता है, जैसे हित समूह, गैर-सरकारी संगठन, लॉबीज, अनौपचारिक संगठन आदि।
- प्रत्येक देश और समाज में सैकड़ों हित समूह होते हैं, किंतु जब वे सत्ता को प्रभावित करने के इरादे से राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय हो जाते हैं तो 'दबाव समूह' बन जाते हैं।
- अर्लिंघम के अनुसार, "सभी हित समूह दबाव समूह नहीं होते किंतु परिस्थितिवश वे दबाव समूह का रूप धारण कर सकते हैं।"

- ब्रिटिश राजनीति में दबाव समूहों को मान्यता दी गई है और वे शासन के अंग के रूप में स्वीकार किए गए हैं।

नोट

अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)

1. दबाव समूह के अर्थ को समझाइए।
2. लोकतंत्र में दबाव समूह का क्या महत्त्व है?
3. दबाव समूह तथा हित समूह में अंतर बताएँ।

संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)

1. तुलनात्मक राजनीति–चन्द्रदेव प्रसाद, ऐटलांटिक।
2. तुलनात्मक राजनीति–प्रो. रामानन्द गैरोला।
3. तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीति विश्लेषण–डॉ. डी. एस. यादव।

नोट

इकाई–IV

विकासशील देशों में राजनीति
(Politics in the Developing Countries)

संरचना (Structure)

4.1 उद्देश्य (Objectives)

4.2 प्रस्तावना (Introduction)

4.3 विकासशील देशों में लोकतन्त्र की स्थिति (Status of Democracy in the Developing Countries)

4.4 राजनीतिक व्यवस्था सिद्धान्त : अभिप्राय (The Political System Theory : Meaning)

4.5 राजनीतिक व्यवस्था : विशेषताएँ (Political System : Characteristics)

4.6 राजनीतिक व्यवस्था के प्रमुख प्रकार (Main Types of Political System)

4.7 सारांश (Summary)

- अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)
- संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)

4.1 उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- राजनीतिक व्यवस्था सिद्धांत का अर्थ समझने में।
- आमण्ड की राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा की जानकारी प्राप्त करने में।
- डेविड ईस्टन की राजनीतिक व्यवस्था के बारे में जानकारी प्राप्त करने में।
- विकासशील देशों में लोकतंत्र की भूमिका को समझने में।

4.2 प्रस्तावना (Introduction)

विकासशील देश या **विकासशील राष्ट्र** (Developing Nations) **एशिया** और **अफ्रीका** के उन देशों का समूह हैं जो बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक उपनिवेशवाद (Colonialism) के शिकार रहे और इसलिए अपना आर्थिक विकास नहीं कर पाए। ये देश दूसरे विश्वयुद्ध (1939–45) के बाद एक-एक करके स्वाधीन हुए हैं। इनमें

नोट

लैटिन अमरीका के उन देशों को भी सम्मिलित कर लिया जाता है जो उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में ही यूरोपीय उपनिवेशवाद से स्वाधीन हो गए थे परंतु संयुक्त राज्य अमरीका के प्राधान्य (Hegemony) के चलते ये बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक अपना आर्थिक विकास नहीं कर पाए थे। ये सब देश अपने सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक विकास के लिए प्रयत्नशील हैं। इन देशों को सामूहिक रूप से **'तीसरी दुनिया'** (Third World) के देश भी कहा जाता है।

4.3 विकासशील देशों में लोकतंत्र की स्थिति (Status of Democracy in the Developing Countries)

अपनी स्वाधीनता के बाद बहुत सारे विकासशील देशों ने पश्चिमी ढंग की लोकतंत्रीय शासन प्रणाली अपनाने की कोशिश की। परंतु इसमें उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली। कई देशों ने लोकतंत्र का रास्ता छोड़कर सैनिक शासन (Military Rule) या अधिनायकतंत्र (Dictatorship) का रास्ता अपना लिया। कई देशों ने लोकतंत्र का ढांचा तो कायम रखा परंतु उदार लोकतंत्र के मूल सिद्धांत से हटकर उसे एकदलीय राज्य (One Party State) का रूप दे दिया। इन देशों में लोकतंत्र के सही रूप को कायम न रख पाने के अनेक कारण हैं जो इनकी विलक्षण परिस्थितियों में निहित हैं।

मतैक्य का अभाव (Lack of Consensus)

साधारणत: विकासशील देशों की जनसंख्या बहुत विशाल है। इनमें भिन्न-भिन्न प्रजातियों (Races) और भिन्न-भिन्न क्षेत्रों (Regions) के लोग रहते हैं जो भिन्न-भिन्न भाषा, धर्म, संस्कृति, इत्यादि के आधार पर अपनी भिन्न-भिन्न पहचान रखते हैं। समाजशास्त्र की भाषा में इन्हें **संजातीय समूह** (Ethnic Groups) कहा जाता है। साधारणत: इन संजातीय समूहों के सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक विकास के स्तर में बहुत अंतर पाया जाता है।

प्रत्येक देश में साधारणत: किसी विशेष संजातीय समूह का बहुमत (Majority) रहता है और वह अन्य समूहों की तुलना में अधिक विकसित होता है। देश की अधिकांश संपदा, उद्योग-व्यवसाय, उच्च पदों और उन्नति के अवसरों पर इस समूह का प्राधान्य रहता है। इस समूह को देश के प्रधान समूह (Dominant Group) के रूप में पहचाना जाता है। कई पिछड़े हुए समूह अपने पिछड़ेपन के लिए प्रधान समूह को उत्तरदायी ठहराते हैं। इससे लोकतंत्र में उनका विश्वास कमजोर हो जाता है।

फिर, बहुत सारे लोग यह निर्णय नहीं कर पाते कि किन संस्थाओं या प्रक्रियाओं के माध्यम से उन्हें न्याय मिल पाएगा? अत: छोटे-छोटे समूहों के मन में असंतोष की भावना पनपती रहती है। जब कुछ समूह लगातार असहमति (Dissent) प्रकट करते हुए सरकार के काम में अड़चन डालते हैं तो उनकी आवाज़ को दबाने की कोशिश की जाती है।

अर्थव्यवस्था का विस्तृत विनियमन (Wide Regulation of Economy)

पिछड़ी हुई अर्थव्यवस्था को खुले बाज़ार की शक्तियों के सहारे छोड़ देना विनाशकारी हो सकता है। चूंकि विकासशील देश आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं, इसलिए इनमें राज्य को अर्थव्यवस्था का विस्तृत विनियमन करना पड़ता है। इनमें जो भारी आर्थिक विषमताएँ (Gross Economic Inequalities) पाई जाती हैं, उन्हें दूर करने के लिए अर्थव्यवस्था पर सरकार का नियंत्रण और भी ज़रूरी हो जाता है। राष्ट्र की संपदा को निर्धन वर्गों में पुनर्वितरित करने के नाम पर सरकार को अपनी सारी कार्रवाई की वैधता (Legitimacy) का आधार मिल जाता है।

बहुधा यह तर्क दिया जाता है कि अल्पविकसित अर्थव्यवस्था के प्रबंध के लिए कई विकल्प (Alternatives) नहीं ढूंढे जा सकते। घूम-फिरकर सरकार एक-जैसी नीतियाँ अपनाने को विवश अनुभव करती है। अत: राजनीतिक दलों के लिए भी कोई वैकल्पिक नीतियाँ या कार्यक्रम प्रस्तुत करने की गुंजाइश नहीं रह जाती। सबसे उपयुक्त और लोकप्रिय नीतियाँ और कार्यक्रम देश के प्रधान दल की घोषणाओं में प्रतिबिंबित होते हैं। अत: छोटे-छोटे

दलों के लिए आर्थिक मुद्दों पर प्रतिस्पर्धा का कोई अवसर नहीं रह जाता। वे बहुत-से-बहुत अपने विशेष मतदाता-समूह के हितों के प्रवक्ता की भूमिका निभाने लगते हैं।

एक दल की प्रधानता (One Party Domination)

नोट

इस तरह अधिकांश विकासशीलों में एकदलीय प्रणाली (One Party System) स्थापित हो जाती है, या कम-से-कम एकदल-प्रधान प्रणाली (One Party Dominant System) अवश्य विकसित हो जाता है। इस दल को विधानमंडल में भारी बहुमत प्राप्त होता है और वह प्रतिस्पर्धी दलों को उभरने नहीं देता। साधारणत: प्रधान दल वही दल होता है जो स्वाधीनता संग्राम में विशेष रूप से सक्रिय रहा हो। यह दल अपने करिश्माती नेतृत्व (Charismatic Leadership) के बल पर लोगों के दिल में जगह बना लेता है। वह देश को आधुनिकीकरण (Modernization) और विकास (Development) की दिशा में ले जाने का दावा करता है और इस तरह अपनी सत्ता की वैधता (Legitimacy) का आधार ढूंढ़ लेता है।

विकासशील देशों में सार्वजनिक नीति के बहुत सारे विकल्प सुलभ नहीं होते, अत: वहाँ एक दल की प्रधानता स्थापित हो जाती है। यह **प्रधान राजनीतिक दल** अपनी सत्ता को लोकतंत्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति का साधन सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। **कभी-कभी वह लोकतंत्रीय प्रक्रिया** (Democratic Procedure) **को परे रखकर केवल लोकप्रियता के बल पर लोकतंत्र का मसीहा बन जाता है।** इस व्यवस्था को **बुनियादी लोकतंत्र** (Basic Democracy) या **निर्देशित लोकतंत्र** (Guided Democracy) की संज्ञा देकर सराहा जाता है। इसमें प्रतिनिधित्व (Representation) की जगह परामर्श (Consultation) को विशेष महत्त्व दिया जाता है और नेतृत्व की विलक्षण शक्ति का गुणगान किया जाता है। उदाहरण के लिए, 1957 में इंडोनेशिया के तत्कालीन राष्ट्रपति सुकर्ण ने यह तर्क दिया था कि लोकतंत्र का पश्चिमी प्रतिमान वहाँ के लिए उपयुक्त नहीं है क्योंकि उसे अपनाने के लिए व्यापक साक्षरता (Literacy) और समृद्धि (Prosperity) अपेक्षित होगी। अत: उसने ऐसी व्यवस्था को बढ़ावा दिया जिसमें किसानों, कामगारों और उद्योगपतियों जैसे कृत्यात्मक समूहों (Functional Groups) के प्रतिनिधियों से परामर्श तो किया जाता था, परंतु उनसे मतदान नहीं कराया जाता था। सार्वजनिक नीति के संबंध में निर्णय तक पहुँचने के लिए नेतृत्व और मार्गदर्शन की भूमिका को बहुत सराहा जाता था।

विकासशील देशों में प्रचलित व्यवस्था को लोकतंत्र के अनुरूप सिद्ध करने के लिए कभी-कभी यह तर्क दिया जाता है कि यहाँ असहमति (Dissent) को अभिव्यक्ति का अवसर दिया जाता है और कम-से-कम सत्तारूढ़ दल के भीतर (और कभी-कभी उसके बाहर भी) सार्वजनिक मामलों पर वाद-विवाद की अनुमति दी जाती है।

राजनीति शास्त्र में "व्यवस्था सिद्धान्त" (System Analysis) का प्रयोग राजनीति शास्त्र के परिवर्तित अध्ययन-क्षेत्र का परिचायक है। हाल तक राजनीति शास्त्र के अध्ययन का केन्द्र-बिन्दु राज्य तथा वे राजनीतिक संस्थाएँ थीं जिन्हें राज्य के कानून द्वारा स्थापित तथा नियन्त्रित समझा जाता था। किन्तु राजनीति शास्त्र में "अनुभववाद" (Empiricism) की स्थापना के पश्चात् राज्य एवं उसकी वैधानिक संस्थाओं के अध्ययन के बदले अध्ययन-क्षेत्र की पुनर्व्याख्या करने की आवश्यकता हुई। राजनीति शास्त्र में "व्यवस्था सिद्धान्त" का प्रयोग अनुभववादी दृष्टिकोण के पूरक के रूप में हुआ है जो आधुनिक राजनीति शास्त्र की पुनर्व्याख्या होने के साथ ही साथ इसके अध्ययन-क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन का परिचायक है।

परम्परावादी राजनीति शास्त्र के अध्ययन के विषय थे–संविधान की धाराओं एवं अनुसूचियों का विश्लेषण, सरकार द्वारा पारित विधायनों की प्रकृति, सरकार के अधीनस्थ विभिन्न संस्थाओं (नौकरशाही एवं लोकसेवा) का अध्ययन तथा अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर विभिन्न राज्यों के अन्त:सम्बन्धों एवं वैदेशिक नीतियों का निरूपण। राज्य, उसकी संस्थाओं एवं नीतियों पर अतिशय बल देने के कारण पारम्परिक राजनीतिशास्त्री संविधान तथा सरकार के स्थूल कानूनों पर ही बल देते रहे तथा उन्होंने राज्य की सामाजिक पृष्ठभूमि या उसके पर्यावरण (Environment) को विस्तृत कर दिया। इस कारण राजनीति शास्त्र का दृष्टिकोण यान्त्रिक हो गया। आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों ने महसूस किया कि यदि राजनीतिक घटनाओं एवं संस्थाओं का गत्यात्मक (Dynamic) अध्ययन करना है तो राजनीति शास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र में राज्य पर दिये जाने वाले अतिशय महत्त्व को घटाना होगा। इसके साथ-साथ आधुनिक राजनीति के गत्यात्मक तत्वों, जैसे–सामाजिक प्रक्रिया एवं राजनीतिक प्रक्रिया में सम्बन्ध, इस प्रक्रिया को व्यक्त करने वाली सामाजिक एवं राजनीतिक प्रतिकृतियों या संरचनाओं या पद्धतियों के अन्त:सम्बन्ध एवं उनकी अन्योन्याश्रितता,

नोट

राजनीतिक व्यवहारों एवं क्रियाओं पर सामाजिक व्यवहारों एवं संरचनाओं का प्रभाव, सरकार एवं अन्य पारम्परिक राजनीतिक संस्थाओं की सामाजिक-राजनीतिक व्याख्या तथा मनुष्य के राजनीतिक व्यवहारों पर राजनीतिक एवं सामाजिक संरचनाओं, संस्थाओं या उपपद्धतियों का प्रभाव आदि का समुचित अध्ययन अनिवार्य है। राजनीतिक व्यवस्था सिद्धान्त आधुनिक राजनीति के इन गत्यात्मक तत्वों के अध्ययन पर अत्यधिक जोर देता है।

4.4 राजनीतिक व्यवस्था सिद्धान्त : अभिप्राय (The Political System Theory : Meaning)

राजनीति शास्त्र के अध्ययन के लिए व्यवस्था सिद्धान्त को 'सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त' (General System Theory) से प्रेरणा मिली है। 'सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त' का प्रतिपादन प्रसिद्ध जीव वैज्ञानिक **लुडविग वान बर्टलनफी** ने किया था। उन्होंने 'समस्त प्राकृतिक विज्ञानों के समायोजन' पर जोर दिया था। प्राकृतिक विज्ञानों से समाजशास्त्र में इसका अध्ययन प्रारम्भ हुआ और समाजशास्त्र से राजनीति शास्त्र के अध्ययन में आजकल इस सिद्धान्त का अनवरत अध्ययन होने लगा है। अमरीकन राजनीतिशास्त्रियों, जैसे–**डेविड ईस्टन, जी० ए० आमंड, मार्टन कापलान** इत्यादि ने राजनीति विज्ञान में 'व्यवस्था विश्लेषण सिद्धान्त' को स्पष्ट रूप से निरूपित किया है। इस सम्बन्ध में यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि डेविड ईस्टन के सामान्य सिद्धांत पर आधारित एक व्यापक राजनीतिक व्यवस्था की धारणा को आधुनिक राजनीति शास्त्र में सर्वमान्य रूप से स्वीकार कर लिया गया है।

राजनीतिक व्यवस्था को समझने के लिए हमें "व्यवस्था" (System) शब्द को स्पष्ट करना होगा। यह शब्द भौतिक विज्ञानों से लिया गया है। भौतिक विज्ञानों के अन्तर्गत "व्यवस्था" का अर्थ सुपरिभाषित अंतर्क्रियाओं के ऐसे समूह से है जिसकी सीमाएँ निश्चित की जा सकें। शाब्दिक परिभाषा के अनुसार "व्यवस्था" का अर्थ है, जटिल सम्बन्धित वस्तुओं का समग्र समूह, विधि-संगठन-पद्धति के निश्चित सिद्धान्त तथा वर्गीकरण का सिद्धान्त। इन अर्थों में महत्त्वपूर्ण शब्द **"सम्बन्धित", "संगठित"** और **"संगठन"** है। अर्थात् व्यवस्था संगठित होनी चाहिए अथवा उसमें संगठन हो, उसके अंग सम्बद्ध हों। यदि किसी भी स्थान पर हमें संगठन मिलता है अथवा संगठित होने के गुण पाये जाते हैं और उसके सभी अंग एक दूसरे से सम्बद्ध हैं तो वहाँ "व्यवस्था" विद्यमान है। "व्यवस्था" में तीन गुण पाये जाते हैं–(1) व्यापकता, (2) अन्योन्याश्रय, तथा (3) सीमाएँ।

(1) व्यापकता (Comprehensiveness)

व्यापकता का अर्थ है कि व्यवस्था के अन्तर्गत हम सभी पारस्परिक क्रियाओं को शामिल करते हैं। दूसरे शब्दों में, हम व्यवस्था के अन्तर्गत न केवल उन अंगों को शामिल करते हैं जो विधि पर आधारित हैं जैसे विधान-मण्डल, कार्यपालिका, नौकरशाही और न्यायालय आदि, वरन् समस्त संरचनाओं को उनके राजनीतिक रूप में शामिल किया जाता है, जैसे जाति, धर्म, परिवार, हिंसक घटनाएँ आदि।

(2) अन्योन्याश्रय (Interdependence)

अन्योन्याश्रय का अर्थ है कि जब व्यवस्था के एक अंग के गुणों में परिवर्तन आता है तो उसका प्रभाव अन्य संघटकों पर भी स्वतः पड़ता है। उदाहरण के लिए, मानव शरीर एक व्यवस्था है। जब शरीर के किसी एक भाग में पीड़ा होती है तो उसका प्रभाव सम्पूर्ण शरीर पर पड़ता है। जब व्यवस्था की इकाई के परिणाम अथवा मात्रा में परिवर्तन होता है तो अन्य इकाइयों पर इसका प्रभाव पड़ता है और वे भी परिवर्तित होती हैं।

(3) सीमाएँ (Boundaries)

सीमाओं से हमारा तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यवस्था किसी एक बिन्दु से प्रारम्भ होती है तथा किसी एक निश्चित स्थान पर उसका अन्त होता है। दूसरे शब्दों में, ऐसा बिन्दु जहाँ पर अन्य व्यवस्थाओं की परिधि समाप्त होती है और राजनीतिक व्यवस्था का प्रारम्भ होता है, उसे हम राजनीतिक व्यवस्था की सीमा कहते हैं।

"समाज" स्वयं एक व्यवस्था है जिसका निर्माण राजनीतिक व्यवस्था के अतिरिक्त अन्य व्यवस्थाओं, जैसे आर्थिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक, धार्मिक और जैविक व्यवस्थाओं से होता है। ये सभी व्यवस्थाएँ एक दूसरे को प्रभावित

नोट

करती रहती हैं। राजनीतिक व्यवस्था अन्य व्यवस्थाओं से अलग और पूर्ण नहीं है। व्यक्ति का राजनीतिक आचरण न केवल उसके राजनीतिक मूल्यों अथवा प्रतिमानों से प्रभावित होता है वरन्, रक्त-सम्बन्ध, धार्मिक सम्बन्ध, आर्थिक क्रियाओं तथा सांस्कृतिक उपलब्धियों से भी प्रभावित होता है। यदि **"व्यवस्था" का अर्थ "मानवीय सम्बन्धों का संरूप"** (Pattern of human relationships) **है तो कोई भी मानवीय सम्बन्धों की संरचना राजनीतिक व्यवस्था बन जाती है यदि उसके अन्तर्गत शक्ति, नियम एवं सत्ता के तत्व दृष्टिगोचर होने लगते हैं।**

राजनीति शास्त्र का जनक अरस्तू राजनीतिक सत्ता और अन्य सत्ताओं, जैसे दास पर स्वामी की सत्ता, पत्नी पर पति की सत्ता, बच्चों पर पिता की सत्ता में अन्तर स्थापित करके इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि राजनीतिक संगठन अन्य संगठनों से इस रूप में भिन्न है क्योंकि इसमें सत्ता और नियम विद्यमान रहते हैं जबकि अन्य संगठनों में इसका अभाव पाया जाता है। आधुनिक विचारक **लासवेल** भी "राजनीतिक क्रिया उस क्रिया को मानता है जो शक्ति के परिप्रेक्ष्य में की गयी हो", अर्थात् शक्ति से ही प्रेरित क्रियाएँ राजनीतिक क्रियाएँ कही जा सकती हैं।

विभिन्न विद्वानों ने राजनीतिक व्यवस्था की परिभाषाएँ निम्न रूप में प्रस्तुत की हैं–

राबर्ट डहल–"राजनीतिक व्यवस्था मानव सम्बन्धों पर वह स्थायी संरूप है जिसके अन्तर्गत शक्ति, नियम और सत्ता महत्त्वपूर्ण मात्रा में अन्तर्ग्रस्त हों।"[1]

डेविड ईस्टन–"राजनीतिक व्यवस्था किसी समाज में अन्त:क्रियाओं की वह व्यवस्था है जिसके माध्यम से बाध्यकारी या सत्तात्मक आवंटन निर्मित एवं कार्यन्वित होते हैं।"[2]

बियर और उल्म–"राजनीतिक व्यवस्था एक संरचना है जो समाज के लिए एक निश्चित कार्य करती है। थोड़े शब्दों में वह कार्य वैध नीति-निर्णयों का निर्माण करना है।"[3]

औरन यंग–"राजनीतिक व्यवस्था एक परिवर्तन प्रक्रिया है जो कार्य करती है, जो निर्गत उत्पन्न करती और पर्यावरण को परिवर्तित करती है जिसमें राजनीतिक व्यवस्था और उसके पर्यावरण में गतिशील प्रक्रिया के प्रचलन के आधार पर निरन्तर आदान-प्रदान होता रहता है।"[4]

आमण्ड तथा पावेल–"राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत न केवल सरकारी संस्थाएँ, जैसे विधान-मण्डल, न्यायालय तथा प्रशासनिक अभिकरण सम्मिलित हैं, बल्कि सभी संरचनाओं के राजनीतिक रूप आते हैं। इनके अन्तर्गत परम्परागत संरचनाएँ, जैसे रक्त-सम्बन्ध और जाति-समूह और उद्दण्ड घटनाएँ, जैसे हत्याएँ, दंगे और प्रदर्शन तथा साथ ही साथ औपचारिक संगठन जैसे दल, हित-समूह और संचार के माध्यम भी सम्मिलित हैं।"[5]

---

1. "A political system is any persistent pattern of human relationship that involves to a significant extent power, rule or authority." —*Robert Dahl.*
2. "Political system is that system of inter-actions in any society through which binding or authoritative allocations are made and implemented." —*David Easton.*
3. "... The political system is a structure that performs a certain function for a society. In the fewest possible words, that function is to make legitimate policy decisions." —*Beer and Ulm.*
4. "The political system is a conversion process performing work, producing outputs and altering its environment, with a continuous exchange between a political system and its environment based on the operation of dynamic process." —*Oran Young.*
5. "The political system includes not only Governmental institutions such as legislatures, courts and administrative agencies, but all structures in their political aspect. Among them are traditional structures such as kinship ties and caste groupings and anomic phenomena such as assassinations, riots and demonstrations, as well as formal organisation like parties, interest groups and media of communication." —*G.A. Almond and G.B. Powell.*

नोट

राजनीतिक व्यवस्था की उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकाला जा सकता है–

(1) राजनीतिक व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था के भीतर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपव्यवस्था है।

(2) राजनीतिक व्यवस्था समाज के भीतर मनुष्य के उन अन्त:सम्बन्धों को परिलक्षित करती है जिनके आधार पर मनुष्य यह निर्णय करता है कि किन आकांक्षाओं और प्रतियोगी उद्देश्यों को सार्वजनिक नीतियों का रूप दिया जाए और समाज में कार्यान्वित किया जाए।

(3) राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत औपचारिक ओर अनौपचारिक भूमिकाओं का अध्ययन किया जाता है।

(4) राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत समस्त राजनीतिक क्रियाएँ सन्निहित हैं, भले ही उनका सम्बन्ध समाज की किसी भी संस्था से हो या वे किसी भी स्थान पर घटित हों।

(5) कोई भी मानवीय सम्बन्धों की संरचना राजनीतिक व्यवस्था बन जाती है यदि उसके अन्तर्गत शक्ति, नियम एवं सत्ता के तत्व दृष्टिगोचर होने लगते हैं।

4.5 राजनीतिक व्यवस्था : विशेषताएँ (Political System : Characteristics)

राबर्ट डहल का विश्वास है कि विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं में आपसी असाम्यों के बावजूद कई दृष्टिकोणों से काफी साम्य भी है। साम्य केवल राज्यों तथा सरकारों तक ही सीमित नहीं है बल्कि श्रमिक संघों, व्यापारिक संस्थाओं तथा मनोरंजन संस्थाओं के बीच भी पाया जाता है। **डहल** के अनुसार इन साम्यों के कारण राजनीतिक व्यवस्थाओं की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। ये विशेषताएँ सभी राजनीतिक व्यवस्था में पायी जाती हैं और इन्हीं के कारण ये समान लगती हैं।

(1) राजनीतिक संरचनाओं की समानता

समस्त राजनीतिक व्यवस्थाओं में, चाहे वे सरल हों या जटिल, विशुद्ध हों या मिश्रित, राजनीतिक संरचना पायी जाती है। इन संरचनाओं की परस्पर तुलना की जा सकती है। इन संरचनाओं में अन्तर केवल विशिष्टीकरण का होता है। किसी भी राजनीतिक संरचना में स्पष्टीकरण (Articulation), समूहन (Aggregation), संचार (Communication), नियम-निर्माण (Rule Making), नियम-प्रयुक्ति (Rule Application), आदि कार्य होते हैं। ये कार्य एक दूसरे से पृथक् हो सकते हैं अथवा यह भी हो सकता है कि किसी संरचना में इनकी सीमाएँ नष्ट न हो सकें। दोनों ही अवस्थाओं में यद्यपि राजनीतिक संरचना के रूप में परिवर्तन आ जायेगा परन्तु तब भी उसे राजनीतिक संरचना ही कहेंगे।

(2) कार्यों की सर्वव्यापकता

राजनीतिक व्यवस्थाओं में संरचना के आधार पर तुलना केवल पहला कदम है। संरचना के आधार पर तुलना करने से प्राय: हम यही परिणाम नहीं पाते। हमें संरचना की अपेक्षा कार्यों को अधिक महत्त्व देना चाहिए। दूसरे शब्दों में, हित-समूह के संगठन और सदस्यता की अपेक्षा यह जानना अधिक वांछनीय होगा कि हितों को कैसे स्पष्ट किया जाता है, कौन से संगठन इस कार्य में भाग लेते हैं और किस प्रकार से वे हितों को स्पष्ट करते हैं। **डेविड ईस्टन** ने कार्यों को ही विश्लेषण का आधार माना है। वह राजनीतिक व्यवस्था की संकल्पना की व्याख्या "आदा" (Input) में, जिसे वह माँगों और समर्थन में विभाजित करता है और "प्रदा" (Output) में, जिसमें प्राधिकारी निर्णय और नीतियाँ आती हैं, भेद करता है। ईस्टन ने तीन कार्यों–माँग, समर्थन और नीतियों–के आधार पर अपने आदर्श का निर्माण किया है।

(3) राजनीतिक संरचना की विविधता

राजनीतिक व्यवस्थाएँ विविध प्रकार के कार्य करती हैं। यदि हम विगत 50 वर्षों में राजनीति शास्त्र में हुए विकासों का अवलोकन करें तो हम देखेंगे कि आज की राजनीतिक संरचनाओं की विशेषता है कि उनका प्रत्येक अंग केवल एक ही कार्य नहीं करता वरन् एक से अधिक कार्य करता है। यह कहा जाता है कि विधायिका कानून

बनाती है, कार्यपालिका उनको लागू करती है तथा न्यायपालिका उनकी व्याख्या करती है। परन्तु वास्तविकता यह है कि ये तीनों भाग एक दूसरे के कार्यों को करते हैं। विधान-मण्डल विधि-निर्माण के साथ-साथ प्रशासनिक और न्यायिक कार्य भी करते हैं। कार्य-विविधता का सर्वोत्तम उदाहरण अमरीका के संविधान में **'अवरोध और सन्तुलन के सिद्धान्त'** में मिलता है। अमरीका का राष्ट्रपति यद्यपि कार्यपालिका का अध्यक्ष है, किन्तु वह विधि-निर्माण में भी भाग लेता है क्योंकि विधेयक उसी के सन्देश के अनुसार बनते हैं और उसे उन पर वीटो का विशेषाधिकार प्राप्त है। कांग्रेस विधि-निर्माण तो करती है, परन्तु साथ ही साथ नियुक्तियों एवं संधियों के पुष्टीकरण द्वारा कार्यपालिका के कार्य भी करती है। कहने का अभिप्राय यह है कि बिना कार्य-विविधता के राजनीतिक संरचनाओं को एक दूसरे से सम्बन्धित रखना असम्भव है।

नोट

(4) राजनीतिक संरचनाओं का मिश्रित रूप

कोई भी राजनीतिक व्यवस्था विशुद्ध नहीं होती। समस्त राजनीतिक व्यवस्थाएँ मिश्रित व्यवस्थाएँ होती हैं। कोई भी राजनीतिक व्यवस्था न तो पूर्णतया प्रागैतिहासिक होती है और न पूर्णतया आधुनिक ही। राजनीतिक व्यवस्था परम्परागत तथा आधुनिक दोनों प्रकार के विचारों और संस्थाओं, अर्थात् राजनीतिक संस्कृति का मिश्रित रूप होती है। उदाहरण के लिए, अमरीका की शासन-व्यवस्था प्रजातन्त्रीय, गणतन्त्रीय, संघीय, अध्यक्षात्मक तथा कार्य-विशिष्टीकरण के सिद्धान्तों का सम्मिश्रण है।

(5) राजनीतिक साधनों पर असमान स्वामित्व

प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक साधनों का व्यक्तियों के मध्य असमान वितरण होता है। राजनीतिक साधनों से हमारा अभिप्राय उन साधनों से है जिनके द्वारा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के आचरणों को प्रभावित करता है। इस प्रकार राजनीतिक साधनों के अन्तर्गत धन, साधन, सूचनाएँ, बल-प्रयोग की धमकी, रोजगार, मित्रता, सामाजिक स्तर, विधि-निर्माण का अधिकार, मत देने का अधिकार आदि शामिल किये जा सकते हैं। **राबर्ट डहल** के अनुसार, राजनीतिक साधनों के असमान वितरण के चार कारण हैं—(*i*) विशिष्टीकरण—कार्यों का विशिष्टीकरण राजनीतिक कार्यों में अन्तर उत्पन्न कर देता है। (*ii*) अनुभव—अनुभव का कम या अधिक होना राजनीतिक कार्यों में अन्तर उत्पन्न कर देता है। (*iii*) उत्तराधिकार—जो लोग अपना जीवन अधिक साधनों से प्रारम्भ करते हैं उनकी पहुँच अधिक होती है तथा राजनीतिक साधनों पर उनका नियन्त्रण भी अधिक होता है। (*iv*) प्रेरणा—प्रेरणाओं का अन्तर साधनों के नियन्त्रण में अन्तर उत्पन्न कर देता है।

(6) राजनीतिक प्रभाव का प्रयत्न

राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत कुछ लोग सरकार की नीतियों, नियमों और निर्णयों को प्रभावित करने के लिए अधिक प्रयत्नशील रहते हैं। शासकीय नीतियों, नियमों और निर्णयों को प्रभावित करने की क्षमता का ही नाम राजनीतिक प्रभाव है। लोग अपने लिये ही राजनीतिक प्रभाव नहीं प्राप्त करते, वे इसे प्राप्त करने का प्रयत्न इसलिए भी करते हैं ताकि वे राजनीतिक प्रभाव के द्वारा अन्य उद्देश्यों की प्राप्ति भी आसानी से कर सकें।

(7) राजनीतिक प्रभाव का असमान वितरण

राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत राजनीतिक प्रभाव का असमान वितरण होता है। इसका प्रमुख कारण साधनों का असमान वितरण है। कुछ व्यक्तियों के पास राजनीतिक साधन अधिक होते हैं जिनके द्वारा वे सरकार को प्रभावित कर सकते हैं और उनके लिए जब वे चाहें सरकार पर और अधिक प्रभाव डालना सरल हो जाता है। जिन व्यक्तियों का सरकार पर अधिक प्रभाव होता है, वे अपने इस प्रभाव के द्वारा और अधिक राजनीतिक साधनों पर नियन्त्रण कर सकते हैं। प्रभाव की असमानता व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण गुण है जो युगों से पाया जाता है।

(8) परस्पर विरोधी ध्येयों का अनुसरण तथा समाधान

प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में कुछ लोग परस्पर विरोधी उद्देश्यों का अनुसरण करते हैं और उनको अन्य साधनों के अतिरिक्त व्यवस्था की सरकार द्वारा समाधान करने का प्रयास किया जाता है। प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में विरोध एवं मतैक्य आवश्यक पहलू हैं।

नोट

(9) वैधता का अर्जन

राजनीतिक व्यवस्था के नेता यह प्रयत्न करते हैं कि जब भी संघर्ष से निबटने के लिए सरकारी साधनों का प्रयोग किया जाए तो उन निर्णयों का पालन जनता न केवल हिंसा, दण्ड अथवा बल-प्रयोग के भय से करे, बल्कि इस भावना से भी करे कि वे नैतिक रूप से सही हैं और उनका पालन करना उचित है। इस भावना को ही कि संरचनाएँ, प्रक्रियाएँ, कार्य, निर्णय, नीतियाँ, अधिकारी अथवा नेता सही हैं, बिना इस बात का ध्यान रखे हुए कि यह किस सन्दर्भ में है, हम वैधता कहते हैं।

(10) विचारधारा का विकास

राजनीतिक व्यवस्था के नेता साधारणतया ऐसे स्थायी और एकीकृत सिद्धान्तों के समूह को अपनाते हैं जो व्यवस्था में उनके नेतृत्व को स्पष्ट और उचित सिद्ध कर सके। सिद्धान्तों के समूह को विचारधारा कहा जाता है। नेता विचारधारा का विकास इसलिए करते हैं ताकि उनके नेतृत्व को वैधता प्राप्त हो सके अथवा वे अपने प्रभाव को प्राधिकार में परिवर्तित कर सकें।

(11) अन्य राजनीतिक व्यवस्थाओं का प्रभाव

अन्य व्यवस्थाओं का अस्तित्व राजनीतिक व्यवस्था के व्यवहार को प्रभावित करता है। कोई भी राजनीतिक व्यवस्था पार्थक्य की स्थिति में नहीं रहती। जिस प्रकार मनुष्य अकेला नहीं है, उसी प्रकार राजनीतिक व्यवस्था भी अकेली नहीं होती। राजनीतिक व्यवस्था समाज में स्थित होती है और समाज उसकी गतिविधियों को प्रभावित करता रहता है।

(12) परिवर्तन का प्रभाव

सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन होता है। परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है। राजनीतिक व्यवस्था इस नियम से मुक्त नहीं है। राजतन्त्र कुलीनतन्त्र में, कुलीनतन्त्र धनिकतन्त्र में, धनिकतन्त्र प्रजातन्त्र में और इसी प्रकार तन्त्र परिवर्तित होते रहते हैं।

4.6 राजनीतिक व्यवस्था के प्रमुख प्रकार (Main Types of Political System)

राजनीतिक व्यवस्था में केवल औपचारिक राजनीतिक संस्थाओं का ही समावेश नहीं है बल्कि उसमें समाज की हर प्रकार की राजनीतिक गतिविधि समाहित है।

प्लेटो एवं **अरस्तु** से लेकर आज तक विभिन्न राजनीतिक विचारकों ने राजनीतिक व्यवस्था के वर्गीकरण पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। **अरस्तु** ने राजनीतिक व्यवस्था का वर्गीकरण दो आधारों पर किया है–(*i*) राज्य में प्रभुसत्ता कितने व्यक्तियों में निहित है, और (*ii*) राज्य का उद्देश्य क्या है ? **अरस्तु** के अनुसार राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा जनतन्त्र शासन के सामान्य रूप हैं ; निरंकुश राजतन्त्र, अल्पतन्त्र तथा प्रजातन्त्र क्रमानुसार उनके विकृत रूप हैं।

18वीं शताब्दी के फ्रांसीसी विचारक **माण्टेस्क्यू** ने राजनीतिक व्यवस्था के तीन भेद बताये हैं–गणतन्त्र, राजतन्त्र तथा निरंकुश शासन तन्त्र। **ब्लंटशली** ने (1) राजतन्त्र, (2) कुलीन तन्त्र, (3) जनतन्त्र, (4) धर्मतन्त्र को राजनीतिक व्यवस्था के प्रकार बतलाए।

मैरियट ने राजनीतिक व्यवस्था का वर्गीकरण निम्नलिखित तीन सिद्धान्तों के आधार पर किया है–(क) शासन की शक्तियों का विभाजन–इस आधार पर उसने राज्यों के दो भेद किये हैं–एकात्मक (Unitary), तथा संघात्मक (Federal)। (ख) संविधान की प्रकृति–इस आधार पर राज्य दो प्रकार के होते हैं–लचीला (Flexible), और कठोर (Rigid)। (ग) विधायिका और कार्यपालिका के सम्बन्ध–इस आधार पर शासन पद्धतियों के दो स्वरूप होते हैं–संसदीय (Parliamentary), और अध्यक्षात्मक (Presidential)।

आमण्ड एवं **पावेल** ने 'राजनीतिक व्यवस्था' को संरचनात्मक विभेदीकरण एवं सांस्कृतिक निरपेक्षता के आधार पर निम्नलिखित तीन वर्गों में विभक्त किया है–(*i*) आदिम व्यवस्थाएँ (Primitive Systems), (*ii*) परम्परागत व्यवस्थाएँ (Traditional Systems), तथा (*iii*) आधुनिक व्यवस्थाएँ (Modern Systems)।

नोट

मोटे रूप से हम 'राजनीतिक व्यवस्थाओं' को निम्न प्रकार से विभक्त कर सकते हैं–

1. उदारवादी प्रजातन्त्रीय राजनीतिक व्यवस्थाएँ,
2. सर्वाधिकारी राजनीतिक व्यवस्थाएँ,
3. स्वेच्छाचारी राजनीतिक व्यवस्थाएँ।

1. उदारवादी प्रजातन्त्रीय राजनीतिक व्यवस्थाएँ (Liberal democratic Political Systems)

उदार प्रजातन्त्रीय राजनीतिक व्यवस्थाओं के प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं–

(1) एक से अधिक राजनीतिक दल होते हैं। दल राजनीतिक सत्ता के लिए एक दूसरे से खुलकर प्रतियोगिता कर सकते हैं।

(2) सत्ता के लिए प्रतियोगिता छिपाव-दुराव के साथ नहीं वरन् खुलकर होती है। यह प्रतियोगिता स्थापित तथा स्वीकृत प्रक्रिया के आधार पर होती है।

(3) राजनीतिक सत्ता से जुड़े हुए पदों पर चुनाव या नियुक्तियाँ अपेक्षाकृत खुले रूप में होती है।

(4) व्यापक मताधिकार के आधार पर चुनाव समय-समय पर होते रहते हैं।

(5) सरकारी निर्णयों को प्रभावित करने के लिए प्रभावक गुटों को कार्य करने का अवसर मिलता है। ट्रेड यूनियन तथा अन्य स्वयंसेवी समाजों या सभाओं जैसे संघों पर सरकार का कड़ा नियन्त्रण नहीं होता।

(6) अभिव्यक्ति तथा धर्म की स्वतन्त्रता और स्वेच्छाचारी ढंग से बन्दी न बनाये जाने आदि की नागरिक स्वतन्त्रताएँ सरकार द्वारा मान्य होती हैं और सरकार इनकी रक्षा करती है।

(7) न्यायपालिका स्वाधीन होती है।

(8) टेलीविजन, रेडियो, अखबार जैसे जन सम्पर्क माध्यमों पर सरकार का एकाधिकार नहीं होता। इन्हें कुछ सीमाओं के अन्दर रह कर सरकार की आलोचना करने की भी स्वतन्त्रता है।

उदारवादी प्रजातन्त्रीय राजनीतिक व्यवस्थाओं के लक्षणों के इस मोटे ब्यौरे में कई खतरे निहित हैं। दक्षिणी अफ्रीका में प्रतियोगी द्विदलीय पद्धति हैं लेकिन निश्चयात्मक रूप में यह नहीं कहा जा सकता कि वहाँ एक ही प्रभावी राजनीतिक दल वाले देश तंजानिया की अपेक्षा अधिक उत्साह से नागरिक स्वतन्त्रताओं की रक्षा की जाती है। यह प्रश्न भी किया जा सकता है कि क्या वास्तव में एक से अधिक दलों के होने से शासन सत्ता में भाग लेने का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है अथवा क्या इससे केवल यह सूचित होता है कि दो या अधिक राजनीतिक श्रेष्ठिजन वर्गों के मध्य संघर्ष है। महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि न्यायपालिका किस अंश तक सरकार के नियन्त्रण से मुक्त है या जन सम्पर्क माध्यम किस अंश तक स्वाधीन है। जे० ब्लांडेल का कथन है कि, "उदारवादी प्रजातन्त्र को परिभाषित करना कठिन है क्योंकि सम्मिलित अनुक्रमणिका के मुख्य उपांगों (स्वतन्त्र चुनाव, विरोधी दल के अस्तित्व आदि) का कठोरतापूर्वक क्रियान्वयन अत्यधिक अत्यधिक कठिन लगता है।" लेकिन इन असुविधाओं के बावजूद ब्रिटेन, अमरीका, फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, स्वीडन, भारत आदि देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं को बिना किसी लाग-लपेट के उदारवादी प्रजातन्त्रीय वर्ग में रखा जा सकता है।

2. सर्वाधिकारवादी राजनीतिक व्यवस्थाएँ (Totalitarian Political Systems)

सर्वाधिकारवादी व्यवस्थाओं के निम्नांकित लक्षण बताये जा सकते हैं–

(1) सिद्धान्ततः व्यक्तिगत तथा सामाजिक गतिविधि के सभी पहलुओं से सरकार राजनीतिक रूप से सम्बद्ध होती है।

(2) एक ही दल राजनीतिक या विधिक रूप से प्रभावी होता है। सारी राजनीतिक सक्रियता इसी के माध्यम से गुजरती है और प्रतियोगिता, नियुक्तियों तथा विरोध के लिए दल ही एकमात्र संस्थागत आधार प्रस्तुत करता है।

(3) सैद्धान्तिक रूप से एक ही सुस्पष्ट विचारधारा होती है जो उस व्यवस्था के अन्तर्गत सम्पूर्ण राजनीतिक सक्रियता का विनियमन करती है।

नोट

(4) न्यायपालिका और जनसम्पर्क के माध्यमों पर सरकार का कठोर नियन्त्रण होता है और उदारवादी प्रजातन्त्रों में परिभाषित नागरिक स्वतन्त्रताएँ कठोरतापूर्वक काँट-छाँट दी जाती है।

(5) सर्वाधिकारी शासन प्रजातन्त्रीय आधार उपलब्ध करने के उद्देश्य से शासन के लिए व्यापक जन समर्थन प्राप्त करने के लिए जन सक्रियता पर जोर देते हैं। जनता के भाग लेने तथा जनता की स्वीकृति से शासन का वैधीकरण हो जाता है।

सर्वाधिकारी शासन मुख्य रूप से 20वीं सदी में आधुनिक प्रौद्योगिकी तथा संचार में प्रगति होने के कारण अस्तित्व में आये हैं। अधिकांश सर्वाधिकारी शासन आधुनिकीकरण तथा सुधार लाने के लिए कटिबद्ध क्रान्तिकारी शासन हैं। सर्वाधिकारी शासनों की सूची में शायद 16वीं सदी के जेनेवा के काल्विन के मजहबी राज (धर्मतन्त्री) को भी जोड़ दिया जा सकता है। विश्लेषण करने की दृष्टि से यह दुर्भाग्यपूर्ण बात है कि सर्वाधिकारी व्यवस्थाओं के कोई उदाहरण नहीं हैं। स्टालिन का रूस तथा हिटलर का जर्मनी दो अन्यतम उदाहरण हैं; शायद मुसोलिनी का इटली भी तीसरा उदाहरण हो सकता है। इन तीनों उदाहरणों में समान लक्षण यह था—एक व्यक्ति के नेतृत्व पर बल। परन्तु 1945 के बाद की सर्वाधिकारी राजनीतिक व्यवस्थाएँ—जो मुख्य रूप से पूर्वी यूरोप के कम्युनिस्ट राज्य हैं—'सामूहिक नेतृत्व' के उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

3. स्वेच्छाचारी राजनीतिक व्यवस्थाएँ (Autocratic Political Systems)

राजनीतिक व्यवस्था का तीसरा प्रकार स्वेच्छाचारी शासन है। यह श्रेणी उदारवादी प्रजातन्त्रों के बजाय सर्वाधिकारी प्रणालियों के अधिक निकट है। स्वेच्छाचारी शासन अस्थायी शासन है जो औद्योगिक तथा आर्थिक विकास के अभाव में उदारवादी प्रजातन्त्रों या सर्वाधिकारी पद्धतियों में प्रस्फुटित नहीं हो पाते। इस श्रेणी में परम्परागत शासक वर्गों वाले राज्य—जैसे सऊदी अरब, इथोपिया और नेपाल तथा सैनिक सरकारों वाले आधुनिकीकृत राज्य, जैसे नाइजीरिया और असैनिक सरकारों वाले राज्य जैसे अल्जीरिया और मिश्र शामिल कर सकते हैं। स्वेच्छाचारी शासन पद्धतियों के मुख्य लक्षण इस प्रकार हैं—

(1) मुक्त राजनीतिक प्रतियोगिता (राजनीतिक दल और चुनाव) पर महत्त्वपूर्ण पाबन्दियाँ।

(2) कम्युनिज्म या फासिज्म जैसी प्रभावी राजनीतिक विचारधारा का अभाव, यद्यपि जाति शुद्धता तथा राष्ट्रवाद बहुधा राजनीतिक एकरूपता के आधार के रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं।

(3) राजनीतिक अनुरूपता तथा आज्ञाकारिता प्राप्त करने के लिए राजनीतिक सत्ताधारी जोर-जबर्दस्ती तथा बल प्रयोग पर अधिक जोर देते हैं।

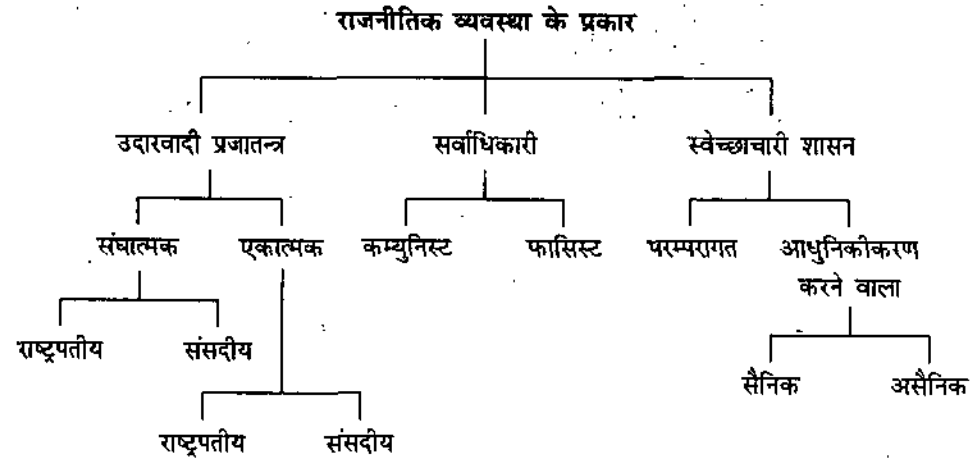

(4) उदारवादी प्रजातन्त्रों के विपरीत, नागरिक स्वतन्त्रताओं की अनुमति बहुत कम दी जाती है और जन सम्पर्क के माध्यमों तथा न्यायापालिका पर सरकार का सीधा नियन्त्रण होता है।

(5) शासन करने के आधार के बारे में यह माना जाता है कि शासक या तो परम्परागत दृष्टि से राजनीतिक श्रेष्ठजन हों या आधुनिक दृष्टिकोण वाले नये श्रेष्ठजन हों। अक्सर सेना ही आकस्मिक राजपरिवर्तन या स्वतन्त्रता के औपनिवेशिक युद्ध के फलस्वरूप सत्ता हथिया लेती है।

नोट

(6) उदारवादी प्रजातन्त्रों के बहुलवाद के विपरीत, अधिकतर ऐसा होता है कि एक गुट का राजनीति पर एकाधिकारी नियन्त्रण हो जाता है।

आधुनिक विश्व में प्रचलित राजनीतिक व्यवस्था और उनके प्रकार

आधुनिक विश्व में राज्यों के प्रकारों की संख्या इतनी अधिक होती जा रही है और उनके रूप इतने मिश्रित हैं कि उनके प्रकारों का उचित वर्गीकरण सफलता से नहीं किया जा सकता। फिर भी निम्न प्रकार से आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था का वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया जा सकता है—सर्वप्रथम राज्य तथा धर्म के सम्बन्ध के आधार पर धर्मनिरपेक्ष तथा धर्मसापेक्ष राज्य के रूप में भेद किया जाता है। इसके बाद दोनों राज्यों को निरंकुश और लोकतन्त्र के रूप में विभाजित किया जाता है। निरंकुश राज्य को गणतन्त्र तथा अधिनायकतन्त्र में विभक्त किया गया है और अन्त में लोकतन्त्र के पाँच आधारों पर पाँच रूप दर्शाये गये हैं—

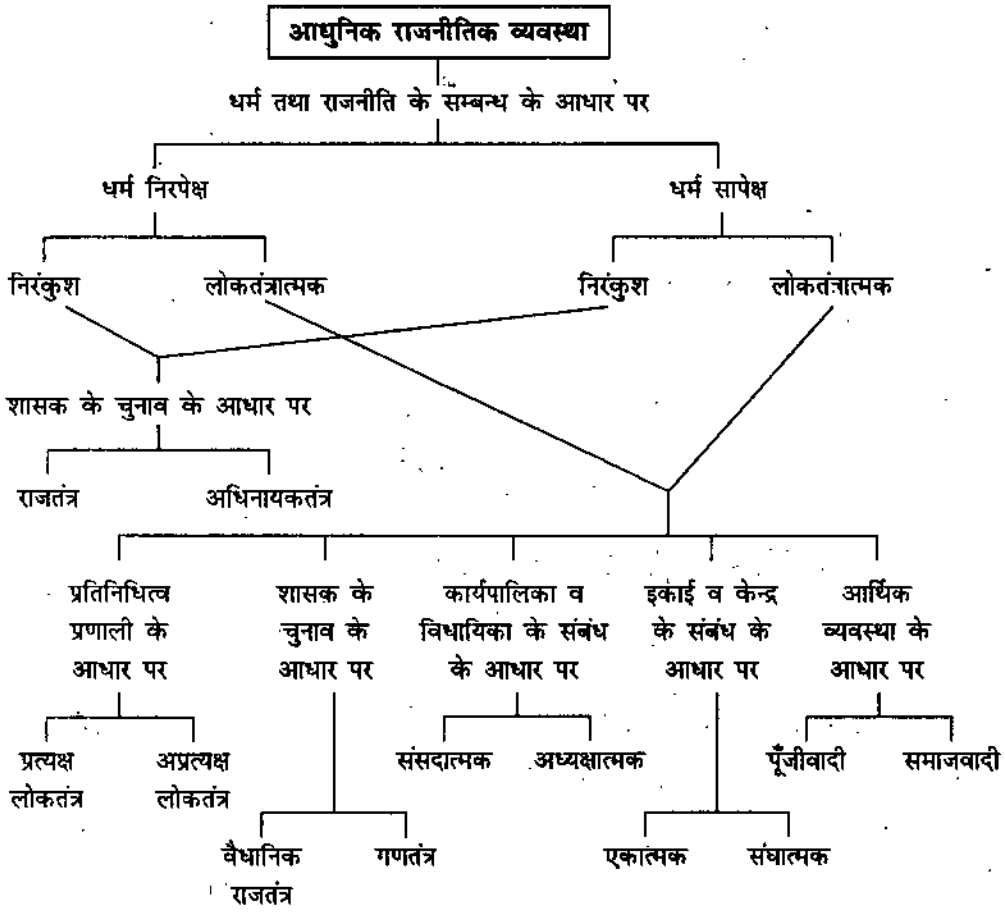

उपर्युक्त आधार पर भारत, अमरीका, स्विट्जरलैण्ड, सोवियत संघ धर्म-निरपेक्ष राज्य हैं जबकि पाकिस्तान और कुछ अर्थों में ब्रिटेन धर्म सापेक्ष राज्य हैं। चीन और सोवियत संघ में किसी न किसी प्रकार की निरंकुशता है जबकि अमरीका, भारत आदि लोकतन्त्र के उदाहरण हैं। जापान और इंग्लैण्ड में राजतन्त्र है। स्विट्जरलैण्ड में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र है, जबकि अन्य शासन प्रणालियों द्वारा अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र अपनाया गया है। इंग्लैण्ड और जापान में वैधानिक राजतन्त्र है जबकि फ्रांस, अमरीका, भारत गणतन्त्र हैं। जापान, इंग्लैण्ड और भारत में संसदात्मक प्रणाली है जबकि अमरीका में अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली। फ्रांस, जापान और इंग्लैण्ड में एकात्मक शासन प्रणाली है जबकि

अमरीका, भारत, आस्ट्रेलिया, सोवियत संघ में संघात्मक शासन प्रणाली। आर्थिक व्यवस्था के आधार पर सोवियत संविधान समाजवादी व्यवस्था की स्थापना करता है, अमरीका में पूँजीवादी व्यवस्था है और भारत में मिश्रित अर्थ-व्यवस्था प्रचलित है।

नोट

छात्र क्रियाकलाप

1. अर्थव्यवस्था के विस्तृत विनियमन से आप क्या समझते हैं?

2. परम्परावादी राजनीतिशास्त्र के क्या-क्या विषय थे?

4.7 सारांश (Summary)

- बियर और उल्म के अनुसार, "राजनीतिक व्यवस्था एक संरचना है जो समाज के लिए एक निश्चित कार्य करती है। थोड़े शब्दों में वह कार्य वैध नीति-निर्णयों का निर्माण करना है।"
- राजनीतिक व्यवस्था को प्रकारों में विभक्त किया गया है। ये प्रकार हैं–(*i*) उदारवादी प्राण प्रजातन्त्रीय राजनीतिक व्यवस्थाएँ (*ii*) सर्वाधिकारी राजनीतिक व्यवस्थाएँ (*iii*) स्वेच्छाचारी राजनीतिक व्यवस्थाएँ।
- विकासशील देशों ने पश्चिमी ढंग की लोकतंत्रीय शासन प्रणाली अपनाने की कोशिश की। परंतु इसमें सफलता नहीं मिली। कई देशों ने लोकतंत्र का रास्ता छोड़कर अधिनायकतंत्र का रास्ता अपना लिया। कई देशों ने लोकतंत्र के मूल सिद्धांत से हटकर एकदलीय राज्य का रूप धारण कर लिया।

अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)

1. राजनीतिक व्यवस्था सिद्धांत की अवधारणा क्या है?
2. राजनीतिक व्यवस्था की विशेषता तथा प्रकारों को बताएँ।
3. आमण्ड के अनुसार राजनीतिक व्यवस्था कैसी होनी चाहिए?
4. विकासशील देशों में लोकतंत्र की स्थिति को बताएँ।

संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)

1. तुलनात्मक राजनीति–चन्द्रदेव प्रसाद, ऐटलांटिक।
2. तुलनात्मक राजनीति–प्रो. रामानन्द गैरोला।
3. तुलनात्मक राजनीति–सी. वी. गेना, विकास पब्लिशिंग हाउस।
4. तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीति विश्लेषण–डॉ. डी. एस. यादव।

नोट